अनुवादक
विराज एम० ए०

वाली को—

मूल्य आठ रुपये
तृतीय संस्करण १९६१
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली
मुद्रक : हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस दिल्ली

क्रम

यह पुस्तक १९५२ की सर्दियों में कलकत्ता
और बनारस विश्वविद्यालयों में
दिए गए भाषणों की सामग्री
पर आधारित है।

दूसरे संस्करण की भूमिका

द्वितीय संस्करण के अवसर पर मैंने
भारतीय राजनीति में हाल में
घटित घटनाओं के विषय
में एक उत्तर लेख
जोड़ दिया है।

स रा

जाता है ? इन वस्तुओं के लिए मैं अन्य लोगों का आभारी हूँ, तुम्हारा बिलकुल नहीं।'[1] इन भाषणों में मेरा एक लक्ष्य यह बताना भी होगा कि आज जो संसार इतनी संकटपूर्ण दशा में फंसा है, वह इसलिए कि वह 'शहर पर घेरा डालने' या 'सेना को व्यवस्थित करने' के विषय में सब कुछ जानता है और जीवन के मूल्यों के दर्शन और धर्म के केन्द्रीभूत प्रश्नों के सम्बन्ध में, जिनको कि वह 'जोगी जाएं और जामी कसमसाएं' कहकर एक ओर हटा देता है, बहुत कम जानता है।

वर्तमान संकट

हम मानव-जाति के जीवन में एक सबसे अधिक निरुत्साहक समय में रह रहे हैं। मानव-इतिहास के अन्य किसी भी समय में इतने लोगों के सिर पर इतना बड़ा बोझ नहीं था, या वे इतने भयपूर्ण अत्याचारों और मनोवेदनाओं के कष्ट नहीं पा रहे थे। हम ऐसे संसार में जी रहे हैं, जिसमें विभाव सर्वव्यापी है। परम्पराएं, संयम और स्थापित कानून और व्यवस्था आश्चर्यजनक रूप से शिथिल हो गए हैं। जो विचार कल तक सामाजिक भद्रता और न्याय से अविच्छेद्य समझे जाते थे और जो सताब्दियों से लोगों के आचरण का निर्देशन और अनुशासन करने में समर्थ रहे थे, आज बह गए हैं। संसार गलतफहमियों, कटुताओं और संघर्षों से विदीर्ण हो गया है। सारा वातावरण सन्देह, अनिश्चितता और भविष्य के अत्यधिक भय से भरा है। हमारी जाति के बढ़ते हुए कष्टों, आर्थिक दरिद्रता की तीव्रता, अभूतपूर्व पैमाने पर होनेवाले युद्धों, उच्चपदस्थ लोगों के मतभेदों के कारण और शक्ति और सत्ताधारी लोगों की, जो चली हुई व्यवस्था को बनाए रखना और पशु सभ्यता को किसी भी शर्त पर बचाना चाहते हैं,[2] जड़ता के कारण सारे संसार में एक ऐसी भावना जाग रही है, जो सारतः क्रान्तिकारी है। 'क्रान्ति' शब्द का अर्थ सदा भीड़ की हिंसा और शासक-वर्गों की हत्या ही नहीं समझा जाना चाहिए। सभ्य जीवन के मूल आधारों में तीव्र और प्रबल परिवर्तन की उग्र लालसा भी क्रान्तिकारी इच्छा है। 'क्रान्ति' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है: (१) आकस्मिक और प्रचण्ड विद्रोह, जिसके परिणामस्वरूप शासन का तख्ता उलट जाए, जैसा फ्रांसीसी और रूस की बोलशेविक क्रान्तियों में हुआ था; (२) एक वर्ष-वर्ष काफी लम्बे समय में होनेवाला सामाजिक सम्बन्धों की एक प्रणाली से दूसरी प्रणाली की ओर संक्रमण, जैसे उदाहरण के लिए ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति। किसी भी समय को 'क्रान्तिकारी' परिवर्तन के

---

१ ए ट्रेजरी आफ द वर्ल्ड्स ग्रेट लैटर्स, एम० लिंकन शुस्टर द्वारा सम्पादित (१९४१) पृष्ठ १०-११

२ बर्क से तुलना कीजिए। वह कहता है कि क्रान्तियाँ उन लोगों द्वारा नहीं करवाई जातीं जिनके पास सत्ता नहीं होती; बल्कि उन लोगों द्वारा की जाती हैं जिनके हाथ में सत्ता होती है और वे उसका दुरुपयोग करते हैं।

को जीवन की सामान्य दशाओं में सुधार के लिए प्रयुक्त करने की इच्छा अधिकाधिक बढ़ रही है। मनुष्य के प्रति मनुष्य के सम्बन्धों और दायित्वों के बारे में हमारे विचारों में बहुत वास्तविक प्रगति हुई है। बाल-श्रम के विरुद्ध बिहार कारखाना कानून, वृद्धावस्था की पेंशनें, दुर्घटनाओं के लिए मुआवजा ये थोड़े-से उदाहरण हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि समाज में अपने प्रत्येक सदस्य के प्रति जिम्मेदारी की भावना बढ़ रही है। संसार के इतिहास में इससे पहले कभी शान्ति के लिए इतनी तीव्र इच्छा और युद्ध के विरुद्ध ऐसी विस्तृत घृणा नहीं हुई थी। इस युद्ध में करोड़ों लोगों का प्रतिक्षोभहीन साहस और प्रदर्शनहीन आत्मबलिदान नैतिक बुद्धि और मानवता के प्रेम की वृद्धि के सूचक हैं।

आजकल जो युद्ध हो रहा है वह ग्रेट ब्रिटेन या जर्मनी, सोवियत रूस या संयुक्त राज्य अमेरिका किसी भी एक देश के भाग्य से बहुत ऊपर की वस्तु है। यह समूचे समाज का एक विस्तृत विक्षोभ है। यह केवल युद्ध नहीं है, अपितु यह एक विश्व-क्रान्ति है, युद्ध जिसका एक दौर-भाग है। यह सम्पूर्ण विचार और सभ्यता के ढांचे में बड़ा परिवर्तन है। यह एक ऐसी संक्रांति है जो हमारी सभ्यता के मूल तक पहुंचती है। इतिहास ने हमारी पीढ़ी को एक इस प्रकार के युग में ला छोड़ा है और हमें यत्न करना चाहिए कि इस क्रांति को हम ऐसी दिशा में ले जाएं, जहां यह उचित आदर्शों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सके। हम क्रांति के मार्ग को उलट नहीं सकते। पुरानी व्यवस्था—जिसने हिटलरों, मुसोलिनियों और तोजोओं को जन्म दिया था—नष्ट होकर रहेगी। जो लोग उसके विरुद्ध लड़ रहे हैं उन्हें यह अनुभव करना चाहिए कि वे यहीं और इसी समय स्वतन्त्रता की एक नई व्यवस्था की नींव रख रहे हैं। हमारे शत्रुओं को इसलिए हराया जाना चाहिए क्योंकि वे पुरानी व्यवस्था से अब भी चिपटे हुए हैं और नई व्यवस्था के लिए रास्ता साफ करने में हमारी सहायता नहीं करते। यदि हम शांति जीतना चाहते हैं और भविष्य के विपत्तियों के बीज बोने को रोकना चाहते हैं तो हमें मानव मन की कायरतापूर्ण जड़ता की रोकथाम करनी होगी। यदि हमें स्थायी शांति चाहते हैं तो हमें उन दशाओं को समाप्त करना होगा जो युद्धों के कारण हैं और हमें जीवन का एक नया रास्ता खोजने के लिए ईमानदारी से काम करना होगा जिसका अर्थ यह होगा कि हम पुराने कालित आदर्शों को बलिदान कर दें। जहां तक सम्भव हो हमें इस विषय में सुनिश्चित होना चाहिए कि हम युद्ध की उत्तेजना में कष्टों के दबाव में और आक्रमण के प्रति क्रोध में अपने शत्रुओं के प्रति उचित न्याय को छोड़ न बैठें। हमें शत्रुओं के प्रति भी मानवता बरतना सीखना चाहिए। हमें अपने मन को सुदूर भविष्य पर केन्द्रित रखना सीखना चाहिए और उस भविष्य को अनुभूतिहीन विद्वेष से आच्छन्न नहीं होने देना चाहिए।

इस समय संसार एक चौराहे पर खड़ा है और उसके सामने दो विकल्प हैं सारे संसार का एक रूप में संगठन या समय-समय पर होनेवाले युद्ध। हम जिस समाज में रहते हैं उसके हम निर्माता हैं। जो संस्थाएं गलत मार्ग पर चली गई हैं हम उनके मालिक हैं और हम इस रोगी समाज के लिए आवश्यक दवाइयों की खोज करनी ही होगी। यदि वह सभ्यता जो अभी हाल तक अपनी प्रगति में आनन्द अनुभव करती थी और मानवता किसी यन्त्रणा से पीड़ित है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह इतिहास की किसी दुर्निवार प्रक्रिया द्वारा अपने विनाश की ओर घसीटी जा रही है। सृजन के काम बड़े कष्टों के काम हुए हैं।[1] संसार एक नये सामञ्जस्य तक पहुंचने से पहले बढ़ते हुए कष्टों के दौर में से गुजरेगा। भले ही अनेक रुकावटें और अड़चनें आएं, परन्तु यह निश्चित है कि मनुष्य-जाति अपेक्षाकृत अधिक विवेकपूर्ण संसार की ओर बढ़ेगी। परन्तु उसकी गति हमारे साहस और बुद्धिमत्ता द्वारा तय होगी। अनेक रचनात्मक प्रयोजन जिनके द्वारा जाति की मुक्ति हो सकती थी बहुत बार नष्ट हो जाते हैं इसलिए नहीं कि उनके लिए इच्छा या संकल्प का अभाव था बल्कि मन की अस्तव्यस्तता और भीरुता के कारण।

सामाजिक व्याधि

हमारे सामाजिक जीवन की गम्भीर व्याधि का कारण हमारी सामाजिक [illegible] और विश्व के उद्देश्य के बीच का व्यवधान है। प्रकृति ने अनेक जातियां बनाई हैं जिनकी भाषाएं, धर्म और सामाजिक परम्पराएं भिन्न हैं और उसने मनुष्य को यह काम सौंपा है कि वह मानव-जगत् में व्यवस्था उत्पन्न करे और जीवन का ऐसा रास्ता खोज निकाले जिससे विभिन्न समूह आपसी मतभेदों को हल करने के लिए बल का प्रयोग किए बिना शान्तिपूर्वक रह सकें। यह संसार युद्धप्रिय राष्ट्रों का युद्ध-क्षेत्र बनने के लिए नहीं रचा गया अपितु एक ऐसा राष्ट्र-मंडल बनने के

[1] गुस्ताव थीबोन : 'आधुनिक मनुष्य आज उन्नति की चरम सीमा पर है, परन्तु उस के साथ उस से आगे विनाश आरम्भ। [illegible] अंग्रेजी अनुवाद (१९५१) पृष्ठ [illegible]

लिए रखा गया है, जिसमे विभिन्न समूह सबके लिए गौरव अच्छा जीवन और समृद्धि प्राप्त करने के लिए रचनात्मक प्रयत्न मे एक-दूसरे के साथ सहयोग कर रहे हो।

ससार के एकीकरण के लिए आवश्यक दशाए विद्यमान हैं। केवल मनुष्य की इच्छा का अभाव है। विभाजन के बड़े-बड़े कारण—महासागर और पर्वत अब प्रभावहीन हो गए हैं। परिवहन और सचारण की इस समय उपलब्ध सुविधाओ के कारण ससार एक छोटा-सा पड़ोस बन गया है। धर्म और प्रथाओ के विपरीत जो स्थानीय ढग की होती हैं, विज्ञान राजनीतिक या सामाजिक सीमाओ को नही मानता और ऐसी भाषा मे बात करता है जिसे सब समझते हैं। मनुष्य पर यन्त्रो के प्रभाव ने यन्त्र-युग से पहले के पूर्णतया स्वतन्त्र राज्यो के ससार को छिन्न-भिन्न कर दिया है। औद्योगिक क्रान्ति ने आर्थिक व्यवस्था को इतना अधिक बदल दिया है कि अब हम एक विश्व-समाज बन गए हैं जिसकी अपनी विश्व-अर्थ-व्यवस्था है और जिसकी माग है कि एक विश्व-व्यवस्था कायम की जाए। विज्ञान ने मानव जीवन का आधार एक जैसे ब्रह्माण्डीय तत्त्वो को बतलाया है। दर्शन मे भी यह कल्पना की गई है कि प्रकृति और मानवता के पीछे एक सार्वभौम चेतना है। धर्म भी हम सबके सामने आध्यात्मिक सबधों और महत्त्वाकाक्षाओ की ओर सकेत करता है।

मानव-विकास के प्रारम्भिक सोपानो मे सामूहिक विचार और अनुभूतियो की अभिव्यक्तिया ऐसी परिस्थितिया मे उत्पन्न हुई और बढ़ती गई, जिनका परिणाम स्वभावत एक-दूसरे से पृथकता और एक-दूसरे के प्रति अज्ञान के रूप मे हुआ। जब लोगो ने एक विश्वासयोग्य सामाजिक व्यवस्था की और एक ऐसी सुदृढ केन्द्रीय शक्ति की आवश्यकता अनुभव की जो जनपदीय झगडो और गृह-युद्धो को दबा सके तब राष्ट्र-राज्य का जन्म हुआ। अतीत काल मे राष्ट्र राज्य ने अपने राष्ट्रिको को एक विधानता और सृजनशीलता प्रदान करके मानवता की सेवा की जो अन्य किसी प्रकार प्राप्त नही हो सकती थी। अनेक राष्ट्र राष्ट्रीय एकता प्राप्त करने मे सफल हुए, और यदि इसी प्रक्रिया को एक सोपान और आगे तक बढाया जाए तो विश्व की एकता प्राप्त की जा सकती है। मानवता की जडें जाति और राष्ट्री यता के तन्तुओ की अपेक्षा कही अधिक गहरी जाती हैं। हमारा ग्रह (पृथ्वी) इतना छोटा हो गया है कि इसपर सकीर्ण देशभक्ति के लिए गुजाइश नही रही। ऐतिहासिक पृष्ठभूमियो जलवायु की दशाओ और दूर-दूर तक फैले हुए अन्तर्जातीय विवाहो के परिणामस्वरूप जातियो का वह रूप बना है जो आज दीख पडता है। हम सबकी मानसिक प्रक्रियाए सवेगात्मक प्रक्रियाए, आधारभूत मनोवेग और लालसाए तथा महत्त्वाकाक्षाए एक-सी ही हैं। डार्विन ने अपनी पुस्तक 'डिसेंट आफ मैन' (मनुष्य का अवतरण) मे लिखा है "ज्यो-ज्यो मनुष्य सभ्यता मे उन्नति

करता जाता है और छोटी-छोटी जातियां बड़े-बड़े समुदायों में संगठित होती जाती हैं त्यों-त्यों प्रत्येक व्यक्ति को यह बात समझ आती जाती है कि उसे अपनी सामाजिक सहज प्रवृत्तियों और समवेदनाओं का विस्तार अपने राष्ट्र के सब सदस्यों तक कर लेना चाहिए, भले ही वे सदस्य व्यक्तिगत रूप से उससे परिचित न भी हों। जब एक बार यह स्थिति आ जाएगी तब उसकी समवेदनाओं का सब राष्ट्रों और जातियों के मनुष्यों तक विस्तार होने में केवल एक ही कृत्रिम बाधा रह जाएगी।' सभ्यता में प्रगति की एक मानी हुई पहचान समूह की सीमाओं का क्रमशः विस्तार होते जाना ही है। डार्विन को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य होता कि कोई जाति पूरी तरह विशुद्ध है और यह कि मनुष्यों की कोई एक जाति इसलिए उत्कृष्ट है कि देवता उसपर विशेष रूप से कृपालु हैं।

राष्ट्रीयता की प्रेरणा और उसके आदर्श अब तक भी लोगों के विचारों पर छाए हुए हैं, भले ही उन लोगों के राजनीतिक विश्वास कुछ भी क्यों न हों चाहे वे नाजी हों या कम्युनिस्ट फासिस्ट हों या प्रजातन्त्रवादी और इस प्रकार मनुष्यों की उर्जाओं को मानव-प्रगति की मुख्य धारा से मोड़कर संकीर्ण मार्गों की ओर प्रवाहित किया जा रहा है। हमारी स्थिति बहुत कुछ आदिम असभ्य जनसमूहों की सी है जो केवल अपने रक्त के सम्बन्धियों को ही अपने समाज में सम्मिलित करते थे या उन लोगों को जिनसे वे कुछ कम या अधिक घनिष्ठ रूप में परिचित हो जाते थे। विद्यालयों में हमें जो एक प्रकार की कुशिक्षा दी जाती है उसके कारण हम राष्ट्रवादी आवेश के शिकार हो जाते हैं। हम नीचता पाशविकता और हिंसा को भी यदि वह राष्ट्र के निमित्त की जा रही हो बिलकुल साधारण वस्तु समझने लगते हैं।

राष्ट्रवाद कोई स्वाभाविक सहज वृत्ति नहीं है। यह तो कृत्रिम भावुकता द्वारा पोषित की जाती है। अपने देश के प्रति प्रेम और प्रादेशिक परम्पराओं के प्रति निष्ठा का यह अर्थ नहीं है कि पड़ोस के देश और परम्पराओं के प्रति उग्र शत्रुता रखी जाए। आज जो राष्ट्रीय अभिमान की अनुभूति इतनी तीव्र है उससे केवल यह स्पष्ट होता है कि मानव-स्वभाव में आत्मवंचना की कितनी अधिक क्षमता है। आत्महित भौतिक लोभ और प्रभुत्व की लालसा—ये राष्ट्रवाद के प्रेरक आदर्श हैं। देशभक्ति ने पवित्रता को और आवेश ने तर्कबुद्धि को समाप्त कर दिया है। जो देश भौतिक सम्पत्ति की दृष्टि से बहुत भाग्यशाली नहीं हैं पृथ्वी-तल के अनुचित विभाजन के विरुद्ध प्रतिवाद करते हैं। ब्रिटिश लोगों के पास संसार का एक चौथाई रकबा-भाग है। उसके बाद फ्रांस का नम्बर है। हालैंड बेल्जियम और पुर्तगाल जैसे छोटे-छोटे राष्ट्रों के पास भी बड़े-बड़े औपनिवेशिक राज्य हैं। जर्मनी अपने रहने फैलने और प्रभुत्व जमाने के लिए स्थान चाहता है। रहने के लिए स्थान की आवश्यकता असन्तुष्ट और महत्त्वाकांक्षी शक्तियों की नीतियों का प्रेरक

उद्देश्य बन जाती है। यदि हम यह मान लें कि सबसे अधिक शक्तिशाली जाति को संसार का स्वामी बनने का अधिकार है तो निष्ठुरता ही शक्ति इच्छा की साधना बन जाती है। जब एक म्यूनिख के विद्यार्थी ने हिट्लर से पूछा कि उसकी नीति क्या है, तो उसने एक भावपूर्ण शब्द में उत्तर दिया 'डायचलैण्ड' (जर्मनी)। और हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि वह अपने उद्देश्य के प्रति अविचलित रूप से सच्चा रहा है। उसने कहा है "बनने दो हम अमानव। यदि हम जर्मनी की रक्षा कर पाएंगे तो समझो कि हमने संसार का सबसे महान कार्य कर लिया है। बनने दो हम गलत काम। यदि हमने जर्मनों की रक्षा कर ली तो समझो कि हमने संसार की सबसे बड़ी गलती को मिटा दिया है। होने दो हम अनैतिक। यदि *हम अपने लोगों की रक्षा कर पाए, तो समझो कि हमने नैतिकता की पुनःस्थापना के लिए द्वार खोल दिया है।*[1] 'मीन कैम्फ' में हिट्लर कहता है 'विदेश नीति तो एक लक्ष्य को पूरा करने का साधन-मात्र है और वह एकमात्र लक्ष्य है—हमारे अपने राष्ट्र का लाभ।' और फिर, "केवल यही बात है, जिसका महत्त्व है। बाकी सब राजनीतिक धार्मिक और मानवतावादी बातों की इस बात की तुलना में पूर्ण उपेक्षा की जानी चाहिए।"[2] सम्पूर्ण मानव-जीवन को राष्ट्रीय कार्यक्षमता के एकमात्र उद्देश्य का दास बना दिया गया है।[3] एक युवक जर्मन विमान चालक को जिसका विमान विमानभेदी तोपों द्वारा गिरा लिया गया था एक फ्रांसीसी घर में ले जाया गया जो अब एक अस्पताल बना हुआ था। विमान चालक प्राणान्तक रूप से घायल था। डाक्टर ने उसके ऊपर झुककर कहा "तुम सैनिक हो और मृत्यु का सामना वीरता से कर सकते हो। अब तुम्हें केवल एक घंटा और जीना है। क्या तुम अपने परिवार के लोगों को कोई पत्र लिखवाना चाहते हो?" उस लड़के ने सिर हिलाकर इनकार किया। तब पास बैठे हुए, बूढ़ी

---

१ देखिए 'दी कीपर ऑफ़ जर्मनी की बार' लेखक, मिलर्ड मरे उच्च भवन (१४), पृष्ठ ७१

२ वही, पृष्ठ १८८

३ तुलना कीजिए 'राज्य के बीच में शक्तिशाली के अधिकार के अतिरिक्त और कोई कानून या अधिकार विद्यमान नहीं है। वास्तविक (मैटाफ़िज़िकल) दृष्टि से श्रेष्ठतर लोगों को इस बात का नैतिक अधिकार है कि वे शक्ति और निर्बलता के सब साधनों द्वारा सर्वोच्चता को पूरा करने का प्रयत्न करें।' 'शाश्वत बाल की खोज' लिखे

इस्पोलियम विचार की सत्यता और अपरिमापित योजनाएं इस भारी भावना अनुभूति की अभिव्यक्ति-मात्र है कि जर्मनी को अपनी शक्ति और राष्ट्रीय बल की पवित्रता के कारण अपने वैज्ञानिक के उत्साह के कारण कार्यक्षमता के उच्च स्तर और प्रशासन की स्वच्छ ईमानदारी के कारण और सार्वभौमिक और न्यायिक गतिविधि की प्रत्येक शाखा का सफल अनुसन्धान करने के कारण और उच्च कोटि की कला और शिक्षा के कारण अन्य राष्ट्रीय अवस्थाओं को सर्वोच्चता स्थापित करने का अधिकार मिल गया। —सर मास्टर क्रोस का १ जनवरी, १९ ७ का 'भाषण'

संसार के सब राष्ट्रों पर, किसीपर कम किसीपर अधिक मात्रा में यह कट्टर देशभक्ति का यह सत्ता प्राप्त करने की भूखी इच्छा का और उचित-अनुचित के विवेक से शून्य अवसरवादिता का भूत सवार है। ऐसे विरोधी राष्ट्रों के संसार में स्वाभाविक प्रवृत्ति यही होती है कि दूसरों को नीचा दिखाया जाए। यह एक ऐसा मामला है जिसमें हर व्यक्ति का देश बाकी सब देशों के साथ एक अन्तहीन संघर्ष में जूझ रहा है। आमतौर से यह विरोध राजनीतिक और व्यापारिक रूप में रहता है, पर अनेक बार यह खुल्लमखुल्ला और सशस्त्र रूप में सामने आ जाता है। जो शक्ति संसार में एकता बनाए रखने और स्वस्थता तथा सम्पूर्णता बनाए रखने के लिए अभिप्रेत थी उसका प्रयोग किसी एक समूह या वर्ग एक जाति या एक राष्ट्र को उन्नत करने के लिए किया जाता है। राज्य एक जिम्दार बातों से काम लेनेवाला जमादार बन जाता है और हमारे आन्तरिक जीवन मृतप्राय हो जाते हैं। हमारा आन्तरिक अस्तित्व जितना अधिक निर्जीव हो जाता है राष्ट्रवादी उद्देश्य की दृष्टि से हम उतने ही अधिक कार्यक्षम बन जाते हैं। हमारे सब आन्तरिक विरोध समाप्त हो जाते हैं और हमारे जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग का नियमन एक ऐसे यन्त्र द्वारा हो रहा होता है जो कार्य-पालन में अत्यन्त निष्ठुर है और विरोध के प्रति कभी उचित नहीं होता। राज्य अपने-आपमें एक लक्ष्य बन जाता है जिसे यह अधिकार होता है कि वह हमारी आत्माओं को बन्दी बना दे और हमें बुलडोज़र के बोझ की तरह अधिकार दे।

हमें सुपरिचित का शासनत के साथ अपना नहीं कर देना चाहिए। वर्तमान व्यवस्था के प्रति हमारी प्राथमिकता का विश्व के अटल नियमों के साथ अपना नहीं होना चाहिए। सत्य और सहानुभूति का मनोवेग जो मानव-स्वभाव में रमा हुआ है हमें प्रेरणा देता है कि हम एक मित्रतापूर्ण संसार में स्वतन्त्र व्यक्तियों के रूप में जी सकें। पृथ्वी पर पड़ोसियों की भांति रहने अपनी आत्मविनाश की शक्तियों को वश में रखने और प्रकृति के साधनों का सबके स्वास्थ्य और प्रसन्नता के लिए उपयोग करने की समस्या को हल करने के लिए शान्ति के लिए दृढ़ संकल्प की और उन अनेक बातों को त्यागने की आवश्यकता है जो विशेषाधिकार-प्राप्त वर्गों और राष्ट्रीय राज्यों ने लिए हुए हैं। यदि हम सच्चे देशभक्त हैं तो हमारा लगाव स्थानीय जातीय या राष्ट्रीय न होकर मानवीय होना चाहिए। यह सबके लिए स्वतन्त्रता स्वाधीनता शान्ति और सामाजिक प्रसन्नता के प्रति प्रेम के रूप में

---

[१] तुलना कीजिए, 'जो धर्म अपने आपको किसी राज्य से सम्बद्ध कर लेता है वह पूजा से ऊपर नहीं उठ पाता। राज्य की पूजा की तुलना में पशुओं की पूजा अधिक बुद्धिसंगत और नैसर्गिक है। साथ का मानसन्ध का आन्तरिक मूल्य भले ही कुछ अधिक न हो पर कुछ न कुछ तो है क्योंकि वह चेतन वस्तु है। परन्तु राज्य का आन्तरिक मूल्य कुछ भी नहीं है। —सम टेम्पल

होना चाहिए। हम केवल अपने देश के लिए युद्ध नहीं करेंगे अपितु सभ्यता के लिए युद्ध करेंगे और इसलिए युद्ध करेंगे कि जिससे मानव-जाति के अधिकतम हित के लिए विश्व के साधनों का सहकारी संगठन द्वारा विकास किया जा सके। इसके लिए हम मन को नये सिरे से शिक्षित करने और विश्वासों तथा कल्पनाओं में कुछ सुधार करने की आवश्यकता होगी। विश्व का तर्क और सक्रिय मानव-व्यक्ति के माध्यम द्वारा कार्य करता है क्योंकि मानव आसपास की परिस्थितियों की शक्तियों को समझ सकता है उनके परिचालन का पहले से अनुमान कर सकता है और उन्हें नियमित कर सकता है। विकास अब कोई ऐसी अनिवार्य अवितम्यता नहीं रहा है जैसे कि आकाश म तारे अनिवार्य रूप से अपने मार्ग पर चलते हैं। विकास का साधन अब मानव-मन और संकल्प है। नई पीढ़ी को आध्यात्मिक जीवन की पवित्रता और सर्वोच्चता मानव-जाति के भ्रातृभाव और शान्ति प्रेम की भावना के आदर्शों का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

युद्ध और नई व्यवस्था

प्रोफेसर आर्नल्ड टॉयनबी ने अपनी पुस्तक 'दी स्टडी आफ हिस्ट्री' में उन परिस्थितियों का विवेचन किया है जिनमें सभ्यताओं का जन्म होता है और वे बढ़ती हैं और साथ ही उन दशाओं का भी जिनमें उनका पतन हो जाता है। सभ्यताओं का जन्म और विकास पूर्णतया किसी जाति की उत्कृष्टता पर अथवा आसपास की परिस्थितियों की स्वत चालित कार्रवाई पर निर्भर नहीं हो सकता। सभ्यताए मनुष्यों द्वारा अपनी आसपास की परिस्थितियों के साथ कठिन सम्बन्धों म तालमेल बिठाने का परिणाम होती हैं और टॉयनबी ने इस प्रक्रिया को 'चुनौती और प्रतिभावन' के रूप की प्रक्रिया माना है। बदलती हुई परिस्थितियां समाजों के लिए चुनौती के रूप मे सामने आती हैं और उनका सामना करने के लिए जो यत्न किया जाता है और जो कष्ट उठाए जाते हैं उनसे ही सभ्यताओं का जन्म और विकास होता है। जीवन प्राणी द्वारा अपने-आपको परिस्थितियों के अनुकूल ढालने के अनवरत प्रयत्न का नाम है। जब आसपास की परिस्थितियां बदलती हैं और हम अपने-आपको सफलतापूर्वक उनके अनुरूप ढाल लेते हैं तब हम प्रगति कर रहे होते हैं। परन्तु जब परिवर्तन इतनी शीघ्रता से और इतने एकाएक हो रहे हों कि उनके अनुकूल अपने-आपको ढाल पाना सम्भव न हो तब विनाश हो जाता है। यह विश्वास करने के लिए कोई कारण नहीं है कि मनुष्य ने बुद्धि का प्रयोग करना सीख लेने के कारण अथवा पृथ्वी पर आधिपत्य जमा लेने के कारण इस आवश्यकता से मुक्ति पा ली है जो सब प्राणियों के ऊपर अनिवार्य रूप से लादी गई है। प्रारम्भिक सभ्यताओं के मामलों म जहां चुनौतियां भौतिक और बाह्य रूप की होती थीं वहां आजकल की सभ्यताओं में समस्याएं मुख्यतया आन्तरिक और आध्यात्मिक हैं। 'अब उन्नति को भौतिक या तकनीकी प्रगति की दृष्टि से

नहीं नापा जा सकता अपितु मन और आत्मा के जगत् में सृजनात्मक परिवर्तनों की दृष्टि से आंका जाना चाहिए। आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति आदर, सत्य और सौंदर्य के प्रति प्रेम धर्मपरायणता न्याय और दया पीड़ितों के साथ सहानुभूति और मनुष्य मात्र के भ्रातृत्व में विश्वास ये वे गुण हैं जो आधुनिक सभ्यता को बचा सकते हैं। जो लोग धर्म जाति राष्ट्र या राजपद्धति के नाम पर अपने-आपको शेष संसार से पृथक कर लेते हैं वे मानव-विकास में सहायता नहीं देते अपितु उसमें बाधा डाल रहे होते हैं। इतिहास ऐसी अनेक सभ्यताओं के ध्वंसावशेषों से भरा पड़ा है, जो अपने-आपको समय के अनुकूल ढालने में सफल नहीं हुई जो आवश्यक बुद्धिमत्ता और सूझ-बूझवाले मन तैयार करने में असफल रहीं। विश्व संकट के इस समय में विवेकशील लोगों को न केवल एक ऐतिहासिक युग की समाप्ति दिखाई देती है अपितु एक आध्यात्मिक युग की भी जो सम्पूर्ण मानव जाति के लिए और प्रत्येक आत्मसचेत व्यक्ति के लिए एक जैसा है। मनुष्य जैसा कि वह इस समय है विकास की चरम सीमा नहीं माना जा सकता। पृथ्वी पर जीवन का इतिहास डेढ़ अरब वर्षों से भी अधिक पुराना है। प्रत्येक भूगर्भीय काल में ऐसे प्राणी उत्पन्न हुए, जो अपने काल में सृष्टि के सर्वोत्तम प्राणी समझे जाते थे। फिर भी परवर्ती काल में उनसे भी और अच्छे प्राणी उत्पन्न हो गए।[1] विकास का अगला सोपान मनुष्य के शरीर में नहीं अपितु उसकी आत्मा में होगा उसके मन और चित्त में अपेक्षाकृत अधिक सहृदयता और चेतना की वृद्धि के रूप में चरित्र के एक नये संगठन के विकास के रूप में जो कि नये युग के उपयुक्त हो।

१ सन् १६०१ में डबीं में ब्रिटिश एसोसिएशन की सभा में प्राणि-विज्ञान के अनुभाग में सभापति पद से भाषण देते हुए प्रोफेसर जेम्स रिट्‌ची ने विकासवादी दृष्टिकोण के निहित अर्थों को इन शब्दों में प्रस्तुत किया "पिछले डेढ़ अरब वर्षों के, जिनमें जीवन स्थिर गति से विकास के पथ पर आगे बढ़ता रहा इतिहास का सिंहावलोकन करते हुए यह सोचना हमारे लिए निराधार कल्पना प्रतीत होता है कि मनुष्य जो नवीनतम आगन्तुक है अनेक प्राणियों में अन्तिम और सर्वोत्तम प्राणी है और उसके आगमन के बाद विकास की गति समाप्त हो जायगी। पृथ्वी पर जीवन के भविष्य की ओर देखते हुए यह सोचना और भी निराधार कल्पना प्रतीत होती है कि अगले एक अरब वर्षों तक जीवन जो कि अतीत काल में इतने आश्चर्यजनक रूप से आविष्कार शील रहा है सारे आगामी समय में केवल दिमागी शक्ति में वृद्धि और मानव-जाति के अपेक्षा कृत अच्छे सामाजिक संगठन जैसे तुच्छ परिवर्तनों तक ही सीमित रहेगा। सच्ची बात है कि हम अतीत से बंधे होने के कारण कुछ और अधिक कल्पना कर ही नहीं सकते। परन्तु विकास का इतिहास यदि भविष्य के लिए कोई संकेत-चिह्न है तो हम वर्तमान काल की सर्वश्रेष्ठ मानव-जाति को जीवन की प्रगति में एक सोपान से या मध्यान्तर भविष्य की ओर विकास के पथ पर एक मात्र के पत्थर से अधिक कुछ नहीं मान सकते। इससे कुछ भिन्न सोचना यह कल्पना करना होगा कि मनुष्य के आगमन के साथ जो समय की दृष्टि से बहुत ही तुच्छ है विकास की वह प्रगति और आविष्कारशीलता समाप्त हो गई है जो पिछले कल्पनातीत वर्षों से निरन्तर चली आ रही थी और जिसकी गति में शिथिलता का कोई चिह्न दिखाई नहीं पड़ा था।

जब मनुष्य मे दार्शनिक चेतना सहृदयता की तीव्रता और सम्पूर्णता के अर्थ का विशद ज्ञान हो जाएगा तब अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त सामाजिक जीवन का जन्म होगा जो न केवल व्यक्तियो को अपितु जातियो और राष्ट्रो को भी प्रभावित करेगा। हमे इस नई व्यवस्था के लिए पहले अपने मन म और फिर बाह्य ससार मे युद्ध करना है।

यह युद्ध सभ्यता और बर्बरता के बीच सघर्ष नही है क्योकि प्रत्यक योद्धा जिसे सभ्यता समझता है उसकी रक्षा क लिए लड रहा है यह मृत अतीत को पुनरुज्जीवित करने का या जीर्ण-शीर्ण पुरानी सड़ी-गली सभ्यता को बचाने का प्रयत्न नही है यह तो विघटन की वह अन्तिम क्रिया है जिसके बाद एक लम्बी प्रसव-पीडा क बाद विश्व-समाज का जन्म होगा। क्योकि इस परिवर्तन करने मे बहुत मन्द है इसलिए एक नई धारणा जन्म लेने के लिए सघर्ष कर रही है और प्रचड विस्फोटो के द्वारा बाहर आने का मार्ग बना रही है। यदि पुरातन ससार को हिंसा विपत्ति कष्ट आतक और अव्यवस्था मे मरना पडे और यदि यह अपने विरल के साथ-साथ बहुत-सी अच्छी सुन्दर और सत्य वस्तुओ को भी गिरा दे रक्त-पात हो प्राणो की हानि हो और अनेको की आत्माए, विकृत हो जाए तो इसका कारण केवल यह होगा कि शान्तिपूर्वक उस नूतन ससार के साथ अपना समजन करने (तालमेल बिठाने) म असमर्थ है जो सारत सदा अविच्छेद्य था और अब तथ्यत अविच्छेद्य बनने का प्रयत्न कर रहा है। यदि हम अपनी स्वतन्त्र इच्छा से आगे कदम नही बढा सकते यदि हम अपनी पीठ पर लदी निर्जीव वस्तुओ को उतारकर नही फेंक सकते तो एक ओर विपत्ति हमारी आखे खोलेगी और उन्हे उतार फेंकने मे हमारी सहायता करेगी और उन कठोर रूढियो को चूर-चूर कर देगी जो हमारे उदार मनोवेगो को पगु किए हुए है और बुद्धिमत्ता के मार्ग मे रुकावट बनी है।

बुराई का आविर्भाव कोई आकस्मिक घटना नही है। हिंसा अत्याचार और विद्वेष के तथ्य किसी अव्यवस्था या मन की मौज के सूचक नही है अपितु एक नैतिक व्यवस्था के चिह्न है। जब प्रकृति के आधारभूत नियम को जो सुसगत एकता मनुष्य और भ्रातृभाव के प्रति आदर है पैरो तले रौद दिया जाता है तब अस्त व्यस्तता विद्वेष और युद्ध के अतिरिक्त किसी वस्तु की आशा नही की जा सकती। यह इतिहास का तर्क है और सम्भव है कि जो वस्तुए पुरानी पड गई है जिनकी उपयोगिता कभी की समाप्त हो गई है और जो प्रगति के मार्ग मे बाधा बनी हुई है उनमे से अनेक को बहा ले जाने के लिए इस प्रकार की अव्यवस्थाए और गड बडे आवश्यक हो। इस समय भी जबकि ससार नैतिक रूप स घृणा से भरा दिखाई पडता है जब बल मय असत्य और निष्ठुरता ही मानव-जीवन की वास्त विकताए प्रतीत होती है, सत्य और प्रेम के महान आदर्श भी अन्दर ही अन्दर कार्य कर रहे है और वे बल और असत्य के प्रभुत्व की जडो को खोखला कर रहे है।

यदि हममें विश्व-शान्ति और विश्व की एकता के लिए कार्य करने योग्य सूझबूझ और साहस नहीं है तो वे शान्ति और एकता दिव्य न्याय के आसुरी साधनों द्वारा उग्र उपायों से स्थापित की जाएगी। जिस तूफान और कष्ट में से होकर हम गुजर रहे हैं उसके होते हुए भी हम भविष्य की ओर विश्वास के साथ देख सकते हैं और अपने मन में यह नैतिक सुनिश्चय रख सकते हैं कि इस सारी गड़बड़ और अव्यवस्था में भी एक गहरा अर्थ है। इन विप्लवों और उथल-पुथलों में से भी आध्यात्मिक मूल्यों का परिपूर्णतर ज्ञान प्रकट हो सकता है, जिसके द्वारा मानवता और ऊंचे स्तर पर पहुंच सके। युद्ध पूर्णतया पागलों का ऐसे पीड़ित जन-समुदाय का जिसका हिताहित ज्ञान नष्ट हो गया है और जो आवेश से पागल है कोलाहल मात्र नहीं है अपितु यह मानवीय भावना की रक्षा के लिए ऐसे व्यक्तियों का एक युद्ध है जो विश्वासशील हैं सहिष्णु हैं और जो जीवन के नवीनीकरण और शांति के कार्यों के लिए अधीरता से प्रतीक्षा कर रहे हैं। विनाशकर्ता मानव ही निर्माता भी है। यह कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र भी बन सकता है। हो सकता है इस लक्ष्य तक पहुंचने में देर लगे। इस तक पहुंचने में अनेक वर्ष या दशाब्दियां या शताब्दियां तक भी लग सकती हैं। हो सकता है कि यह प्रसव एक नये संसार का जन्म काफी कठिन हो परन्तु यह बात सोचने योग्य भी नहीं है कि मानवीय मूल्यों का स्थायी रूप से विनाश हो सकता है। हममें से प्रत्येक में एक छिपा हुआ ज्ञान है जीवन की एकता की एक आध्यात्मिक अनुभूति है जिसके कारण मानव-मन में यह विश्वास बना रहता है कि एक अपेक्षाकृत अच्छी व्यवस्था आकर रहेगी। ऐसे भी समय आए हैं जब यह विश्वास दुर्बल पड़ गया था और आशा धुंधली हो गई थी परन्तु इन अवसाद के क्षणों के बाद अभ्युदय के क्षण आए जिन्होंने मानव-जीवन को इतना अधिक समृद्ध किया कि शब्दों द्वारा बता पाना कठिन है। हमारे उच्च स्तर में किए गए सारे अभियान और हमारी क्षणिक विजयें काल की गति पर, और मानवीय आशा और साहस की आगे की ओर गति पर विजय नहीं पा सकतीं। सम्भव है कि नैतिक विकास के प्रवाह द्वारा मनुष्य की असहिष्णुता को उसकी सत्ता-लोलुपता को अपने शत्रु को हराने से प्राप्त होनेवाले सहानुभूतिहीन आनन्द को दूर करने में शताब्दियां लग जाएं और तब कहीं जाकर वह अपनी उन सुविधाओं और विशेषाधिकारों का स्वेच्छया बलिदान करने में समर्थ हो जाए, केवल जिसके द्वारा समाज को अन्याय और सामाजिक विनाश से बचाया जा सकता है। परन्तु अन्त में संसार की प्रगति हम छिन्न भिन्न करके रहेगी क्योंकि यह संसार किन्हीं अराजक मनमौजी हाथों में नहीं है। हमारी सभ्यता का अन्त इतिहास का अन्त नहीं होगा। हो सकता है यह किसी नये युग का प्रारम्भ ही हो।

धर्म निरपेक्षता हमारे युग की मूल दुर्बलता

वर्तमान स्थिति के मुख्य कारण कौन-कौन-से हैं? जब हम युद्ध के कारणों

का जिक्र करते हैं तो हम दूरस्थ प्रमुख और गौण कारणों के सम्बन्ध में विचार कर सकते हैं। हमें युद्ध का कारण हिटलर का वैयक्तिक मनोविज्ञान उसकी असत् प्रतिभा प्रतीत हो सकता है या वर्साई सन्धिपत्र में युद्ध के दोष-सम्बन्धी अनुच्छेदों को लेकर जर्मनी का क्षोभ या जर्मनी के भूतपूर्व उपनिवेशों को वापस लौटाने से इन्कार करने पर जर्मनी का क्षोभ या एक महान जाति का आहत अभिमान और स्वच्छन्दतावाद युद्ध का कारण प्रतीत हो सकता है। यह भी युद्ध का कारण समझा जा सकता है कि लीग आफ नेशन्स का नि:शस्त्रीकरण-सम्मेलन बीच में ही टूट गया या यह कि औपनिवेशिक विस्तार के भीडभाड भरे क्षेत्र में राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं में संघर्ष चल रहा है परन्तु इनमें से कोई भी एक कारण इतने बड़े पैमाने की विपत्ति के लिए ठीक-ठीक उत्तरदायी नहीं समझा जा सकता। इनमें से प्रत्येक लक्षण है परिणाम है कारण नहीं। आशा से भरे हुए संसार को जिस वस्तु ने नष्ट कर दिया है वह है एक मिथ्या विचारधारा और उसकी भ्रामक कल्पनाओं विश्वासों और मूल्यों का संसार पर प्रभुत्व।

सभ्यता एक जीवन-पद्धति है मानवीय आत्मा की एक हलचल। इसका तत्त्व किसी जाति की भौगोलिक/स्थानीय एकता में या राजनीतिक और आर्थिक प्रबन्धों में नहीं है अपितु उन मान्यताओं (मूल्यों) में है जो उन प्रबन्धों को रचती हैं और बनाए रखती हैं। *वस्तुत राजनीतिक और आर्थिक रचना वह ढांचा है, जो लोगों* द्वारा जीवन की उन कल्पनाओं और मूल्यों के प्रति आवेशपूर्ण भक्ति और निष्ठा प्रकट करने के लिए खड़ा किया गया है जिन्हें वे लोग स्वीकार करते हैं। प्रत्येक सभ्यता किसी न किसी धर्म की अभिव्यक्ति होती है क्योंकि धर्म परम मूल्यों में विश्वास और उन मूल्यों को उपलब्ध करने के लिए जीवन की एक पद्धति का प्रतीक होता है। यदि हम यह विश्वास न हो कि वे मूल्य जो किसी सभ्यता में निहित हैं परम हैं तो उस सभ्यता के नियम निर्जीव अक्षर बन जाएंगे और उसकी संस्थाएं नष्ट हो जाएंगी। धार्मिक विश्वास हमें किसी जीवन-पद्धति पर डटे रहने के लिए आवेग करता है और यदि उस विश्वास का ह्रास होने लगता है तो आचारशासन कटकर आदत-मात्र रह जाता है और धीमे-धीमे वह आदत भी अपने आप समाप्त हो जाती है। उदाहरण के लिए नाजी और कम्युनिस्ट विश्वास भी लौकिक धर्म हैं। इनमें विचार या विश्वास में अधिकृत प्रणाली से मतभेद होना अपराध समझा जाता है। राज्य धर्म के समान बन गए हैं जिनके अपने पोप हैं और इन्क्वीजीशन (धर्म के विरोधियों को दण्ड देनेवाले न्यायालय) हैं। जब हम इन सम्प्रदायों में दीक्षित होते हैं तो हम उपासना के मन्त्र पढ़ते हैं। हम अविश्वासियों

'एपिसल आफ जेम्स' का लेखक प्रश्न करता है 'तुम लोगों में ये युद्ध और लड़ाइयां कहां से आते हैं?' और उत्तर देता है 'तुम्हारे सदस्यों में युद्ध करती तुम्हारी वासनाओं के कारण होते हैं।'

'भगवद्‌गीता' में लिखा है कि जब मनुष्य अपने-आपको धरती पर देवता समझने लगते हैं और जब वे अपने मूल से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं और वे इस प्रकार अज्ञान द्वारा पथभ्रष्ट हो जाते हैं, तब उनमें एक शैतानी विकृति या अहंकार उठ खड़ा होता है, जो ज्ञान और शक्ति दोनों की दृष्टि से अपने-आपको सर्वोच्च घोषित करता है।[1] मनुष्य स्वायत्त हो गया है और उसने आज्ञा-पालन और विनय को तिलाञ्जलि दे दी है। वह अपना स्वामी स्वयं बनना चाहता है और 'देवताओं के समान'[2] बनना चाहता है। जीवन पर अधिकार करने और उसका नियमन करने और ईश्वरहीन संस्कृति का निर्माण करने के प्रयास में वह परमात्मा के विरुद्ध विद्रोह करता है। आत्मनिर्भरता को वह चरमसीमा तक ले जा रहा है। युद्ध उसके इस धर्म-त्याग के, चालाकी द्वारा अपरिष्कृत प्रकृति के स्तुतिगान के परिणाम हैं। अधिनायकों ने अपने आपको परमात्मा के स्थान पर जा रखा है। वे ईश्वर-विश्वास को समाप्त कर देना चाहते हैं, क्योंकि वे अपना कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं देखना चाहते। हिटलर एक अद्भुत रचना था। वह हमारी सभ्यता की भविष्यसूचक आत्मा समझा जा सकता है। जब हम मान्यताओं (मूल्यों) के सुनिश्चित अधःपतन को देखते हैं, तो हमें 'किंग लियर' नाटक में ड्यूक आफ ऐल्बेनी के साथ यह कह उठने का मन होता है, "यह समय का अभिशाप है कि पागल अन्धों का नेतृत्व कर रहे हैं।" क्योंकि हमारे नेताओं को सुदूर ऊंचाइयों से आने वाला प्रकाश प्राप्त नहीं होता, अपितु वे केवल बुद्धि के पार्थिव प्रकाश को ही प्रतिफलित करते हैं, इसलिए उनका भी भाग्य ल्यूसीफर (शैतान) का सा ही होगा और उन्हें बुद्धि के अभिमान के कारण विनाश के गर्त में गिरना होगा।

किन्तु मनुष्य, अभिमानी मनुष्य
अपने तुच्छ और क्षुद्र अधिकार से भरा
जिसका उसे सबसे अधिक निश्चय है
उसीके विषय में सबसे अधिक अज्ञानी
उसका भंगुर सार, एक क्रुद्ध वानर की भांति
उच्च स्वर्ग के सम्मुख ऐसी विचित्र करतूतें करता है
कि देखकर देवदूतों को रोना आ जाए।[3]

वह समझता है कि वह सब वस्तुओं का शिरोमणि है और उसे भौतिक और यान्त्रिक तथा मूर्त और दृश्य में अन्धविश्वास है। उद्योग और वाणिज्य के उद्देश्य मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति होने के बजाय सम्पत्ति और लाभ हो गए हैं।

---

1. ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी
   आढ्योऽभिजनवानस्मि। १६ १४ १५
2. जेनेसिस ३ ५
3. शेक्सपियर मेजर फॉर मेजर २ २

सत्य, शिव और सुन्दरता का संसार परमाणुओं के आकस्मिक संयोग से बना हुआ घोषित किया जाता है और बतलाया जाता है कि इसका अन्त भी हाइड्रोजन गैस के वैसे ही बादलों के रूप में होगा, जैसे बादलों से यह बना था। बुद्धिवाद जो प्राचीन धर्म सिद्धान्तों को यथारूप सत्य स्वीकार न करने की सीमा तक बिलकुल उचित था, इस विश्वव्यापी कल्पना में आकर समाप्त हुआ है कि परमात्मा की वास्तविकता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। मनुष्य अपनी अनन्त सत्ता लोलुपता और प्राविधिक सामर्थ्य के साथ विश्व विशेषाधिकारों का भ्रम से उपभोग कर रहा है और वह सार्वजनिक मताधिकार, बड़े पैमाने पर उत्पादन और पेटेंट दवाओं की सेवाओं पर आधारित एक नये संसार की रचना करने का प्रयत्न कर रहा है और इसके लिए वह बीच-बीच में अनिश्चित रूप से उस परमात्मा की भी स्तुति करता जाता है जिसके विषय में उसे पूरी तरह निश्चय नहीं है। निर्मूल धर्म निरपेक्षता या मनुष्य और राज्य की पूजा, जिसमें धार्मिक भावना का हल्का-सा पुट दे दिया गया है, आधुनिक युग का धर्म है। जिन सिद्धान्तों में इस बात पर आग्रह किया गया है कि मनुष्य को केवल रोटी से ही जीवित रहना चाहिए, वे आध्यात्मिक जगत् के साथ मनुष्य के सम्बन्धों का विच्छेद कर रहे हैं तथा वर्ग और जाति, राज्य और राष्ट्र के लौकिक समुदायों के साथ उसका पूर्णतया एकी करण कर रहे हैं। उसे अपने चिरपोषित स्वप्नों और आधिभौतिक चिन्तनों से दूर हटाया जा रहा है और पूरी तरह धर्मनिरपेक्ष बनाया जा रहा है। जो लोग भौतिक-वाद का आधिभौतिक विश्वास के रूप में खण्डन भी करते हैं और धार्मिक होने का दावा करते हैं, वे भी जीवन के प्रति भौतिकवादी रुख को अपनाते हैं। वे वास्त विक मान्यताएं (मूल्य) जिन्हें लेकर हम जी रहे हैं, चाहे हम ऊपर से कुछ भी क्यों न कहें, वे ही हैं जो हमारे पशुओं की हैं, और वे हैं सत्ता की तीव्र लालसा, क्रूरता का आनन्द और प्रभुत्व का अभिमान। सारा संसार उस वेदना के चीत्कार से भरा हुआ है, जो युगों को व्याप्त करके न्याय के लिए पुकार रही है।

यदि अनेक अतृप्त कामनाएं न हों, जिनमें से सबकी सब भौतिक स्तर की नहीं हैं, तो धर्म अधीनमिश्रित विश्राम करनेवाली ओषधि का काम नहीं कर सकता। अच्छा भोजन, गरम घर और बढ़िया कपड़े ही हमें सन्तुष्ट करने के लिए काफी नहीं हैं। दुःख और असन्तोष केवल गरीबी के कारण ही पैदा नहीं होते। मनुष्य एक विचित्र प्राणी है जो दूसरे पशुओं से मूलतः भिन्न है। उसकी दृष्टि का क्षितिज बहुत दूर तक है, उसमें अजेय आशाएं, सृजनशील ऊर्जाएं और आध्यात्मिक शक्तियां हैं। यदि इन सबका विकास न होने पाए और वे अतृप्त रहें, तो सम्पत्ति से प्राप्त हो सकनेवाली सब सुख-सुविधाओं के होते हुए भी उसे यह अनुभव होता रहेगा कि जीवन जीने योग्य नहीं है। महान मानववादी लेखकों में, या और वैल्स, आर्नल्ड बैनट और गाल्सवर्दी में, जो प्रगतिवाद के अग्रदूत समझे जाते हैं, आधुनिक जीवन

की दुर्बलताओं, असंगतियों और निर्बलताओं का अनावरण किया है। परन्तु उन्होंने और अधिक गहरी धाराओं की उपेक्षा कर दी है और कहीं-कहीं उनका गलत निरूपण कर दिया है। चाहे जो भी हो, उन गम्भीरतर धाराओं के स्थान पर उन्होंने कोई नई वस्तु नहीं दी। परम्परागत नैतिकता और धर्म के हटा देने से रिक्त हुए स्थान में कुछ लोगों ने जाति और सत्ता की अस्पष्ट भावनाओं को रखने का प्रयास किया है। आधुनिक मनुष्य का मन रूसो के 'सोशल कन्ट्रैक्ट' (सामाजिक अनुबन्ध), मार्क्स के 'कैपिटल' (पूंजी), डार्विन के 'आन दी ओरिजिन आफ स्पीसीज' (जातियों के मूल के विषय में) और स्पेंगलर के 'दि डिक्लाइन आफ दी वेस्ट' (पश्चिम का पतन) द्वारा बना है। हमारे जीवन की बाहरी अव्यवस्था और गड़बड़ी हमारे हृदय और मन की अस्तव्यस्तता को प्रतिफलित करती है। प्लेटो कहता है, "संविधान तो उन मान्यताओं (मूल्यों) के बाह्य जगत् में प्रतिरूपण मात्र होते हैं, जो मनुष्य के मन में विद्यमान होती हैं।" जिन आदर्शों को हम पसन्द करते हैं और जिन मान्यताओं को हम अपनाते हैं, उन्हें हम सामाजिक अभिव्यक्ति प्रदान कर सकें, इसके लिए आवश्यक है कि पहले उनमें परिवर्तन किया जाए। हम भविष्य को सुरक्षित करने में केवल उसी सीमा तक सहायता दे सकते हैं, जिस सीमा तक हम अपने-आपको बदलते हैं। हमारे युग में जो वस्तु लुप्त हो गई है, वह आत्मा है; शरीर में कोई विकार नहीं है। हम आत्मा के रोग से पीड़ित हैं। हमें शाश्वत में अपने मूल को खोजना होगा और अनुभवातीत सत्य में फिर विश्वास जमाना होगा, जिसके द्वारा जीवन व्यवस्थित हो जाएगा, बिखरे तत्त्व अनुशासन में आ जाएंगे और जीवन में एकता आ जाएगी और उसका कुछ लक्ष्य बन जाएगा। यदि ऐसा न हुआ, तो जब बाढ़ आएगी और जब तूफान उठेगा और उसकी चोट हमारे मकान पर पड़ेगी, तो वह ढह जाएगा।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

परन्तु क्या भौतिकवादी का हमसे यह कहना उचित नहीं है कि हम अनुभवगम्य तथ्यों पर और इस संसार की सुनिर्दिष्ट वास्तविकताओं पर अपने ध्यान को

१ तुलना कीजिए: 'जो मनुष्य पुराने के कब्रिस्तान को और [illegible] है। तू जो कुछ पुराना करता है [illegible] उसके सिवाय और कोई पुराना समय नहीं है और [illegible] —[illegible]

२ तुलना कीजिए: [illegible] मनुष्य का [illegible] हुआ है [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] है। [illegible] और [illegible] —[illegible]

आधारित करे ? एकमात्र वस्तु, जिसके सम्बन्ध मे हम किसी सीमा तक सुनिश्चित हो सकते हैं, यह संसार है। धर्म का दूसरा संसार अर्थात् परलोक सम्भवतः मन की एक कल्पना-मात्र है और यदि परलोक का अस्तित्व हो भी तो भी उसके विषय में कुछ भी जाना नहीं जा सकता। उन देशो मे मार्क्सवादी विचारको के लिए मार्क्सवाद का आकर्षण बहुत प्रबल रहा है। हममे से अनेक लोग जो भारत मे विद्यमान दशाओ से असन्तुष्ट हैं सोवियत धारणा की ओर आकृष्ट होते हैं, जिसमे वर्गहीन समाज की प्रशंसा की गई है जिसमे निर्धनों की जनसंख्या के लिए उद्योगवाद की विचारधारा का प्रतिपादन किया गया है और जिसमे कामगर के महत्त्व का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करने के लिए जनसमूह-मनोविज्ञान की प्रत्येक तकनीक का उपयोग किया गया है। सोवियत रूस ने जो धरती पर स्वर्ग का निकटतम रूप है अपने लक्ष्य के प्रति अर्थात् संसार के प्रत्येक भाग मे एक नये ढंग के राज्य की स्थापना के प्रति सचेत रहते हुए विद्यमान व्यवस्था के प्रति अपनी अवज्ञा लक्ष्य की इतनी आवेशपूर्ण दृढ़ता और उपायो की विभिन्नता के साथ प्रस्तुत की कि लोगो को यह भ्रम हो गया कि उसके अस्तित्व का उद्देश्य केवल विध्वंस-कारी प्रचार ही है। इस चुनौती के कारण उतनी ही उग्र और तुमुल प्रतिक्रिया भी हुई, जिसके फलस्वरूप तथ्यों को जान पाना ही कठिन हो गया। इससे पहले कोई भी सामाजिक वाद-विवाद इससे अधिक घोरतुमुल और कोलाहलपूर्ण सिद्धान्त-वाद के साथ नहीं किया गया था। फिर भी उसके कठोर से कठोर आलोचक भी इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि सोवियत रूस एक महान् परीक्षण है जो अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रान्तियो की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह पृथ्वी के स्थल भाग के छठे हिस्से पर बसी हुई लगभग २ करोड़ जनता के सम्पूर्ण समाज की राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक रचना को कुछ सामाजिक विचा-रको द्वारा प्रतिपादित समाज के सिद्धान्तो के अनुसार नये रूप मे ढालने का प्रयत्न है। दो दशाब्दियो मे वहा से जमीदार और पूंजीपति लुप्त हो गए हैं और व्यक्ति-गत नवारम्भ (उद्यम) केवल किसानो और कारीगरो के छोटे पैमाने के कार्यों तक ही सीमित रह गया है।

संसार के लिए साम्यवाद की पुकार मे धर्म का आवेश है। साम्यवाद विद्य-मान बुराइयो को चुनौती देता है, कार्रवाई के लिए एक स्पष्ट और सुनिश्चित कार्यक्रम प्रस्तुत करता है और आर्थिक तथा सामाजिक दशाओ का एक वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने का दावा करता है। गरीबो और पीड़ितो के लिए इसकी चिन्ता सम्पत्ति और उन्नति के अवसरो के और अधिक उचित वितरण के लिए इसकी मांग और जातीय समानता पर इसके आग्रह के द्वारा यह हमे एक ऐसा सामाजिक सन्देश देता है जिससे सब मार्क्सवादी सहमत हैं। परन्तु इसके सामा-जिक कार्यक्रम से सहानुभूति होने का यह अर्थ नहीं है कि हम जीवन के मार्क्स

वादी दर्शन को चरम वास्तविकता की उसकी नास्तिक धारणा को और मनुष्य के सम्बन्ध में उसके प्रकृतिवादी दृष्टिकोण को और व्यक्तित्व की पवित्रता के प्रति उसकी अवज्ञा को भी स्वीकार करते हैं। सामाजिक क्रांति के प्रभावी उपकरण के रूप में मार्क्सवाद से सहानुभूति रखना एक बात है और उसकी आधिभौतिक पृष्ठभूमि को स्वीकार करना दूसरी बात।

मार्क्सवाद उसके समालोचक (अन्ध) समर्थकों और कट्टर विरोधियों दोनों के लिए ही एक धर्म-सा बन गया है। मार्क्सवाद का महत्त्वपूर्ण दावा यह है कि यह वैज्ञानिक है। यह इलहाम के रूप में प्रकट हुआ सिद्धान्त नहीं है अपितु तथ्यों का वस्तुन्यायात्मक अध्ययन है। कई शताब्दी पहले विज्ञान विद्वत्तावाद से अलग हो गया था। विद्वत्तावादी लोग अपनी बात को चरम सिद्ध करने के लिए स्फुरणा प्राप्त और इसीलिए प्रमाणातीत समझे जानेवाले लोगों की पुस्तकों से उद्धरण दिया करते थे। जब मार्क्स ने कहा कि मैं मार्क्सवादी नहीं हूँ तो उसका अर्थ यह था कि मैं किसी भी सिद्धान्त को अन्तिम और पूर्ण और सुदृढ़ रूप से स्वीकार करने की शपथ नहीं ले चुका हूँ। 'मार्क्सवाद केवल अस्थायी सत्य को प्रस्तुत करता है।' रोज़ा लक्ज़मबर्ग ने गहरी अन्तर्दृष्टि के साथ लिखा : 'यह आमूलचूल तर्क प्रधान है और इसके विनाश के बीज इसीमें विद्यमान हैं।' किन्तु दुर्भाग्य से मार्क्सवादियों ने सब सिद्धान्तवादी अनुयायियों की भांति उसको न माननेवालों को द्रोही ठहराने की तकनीक को अपनाया। फासिस्ट की दृष्टि में कम्युनिस्ट नीच काफिर और कम्युनिस्ट की दृष्टि में पूंजीपति शैतान का भाई है। हम सब स्वयं देवदूत हैं और हमारे विरोधी शैतान हैं। यदि आप सच्चे धर्म को नहीं मानते तो आपकी निष्ठा और आत्म-शासन, आपका साहस और ईमानदारी, आपकी भक्ति और उच्च हृदयता सब पाप हैं। हम तो पार हो गए हैं और आप बीच धार में डूब गये हैं। सन्देह करना या प्रश्न करना अपराध है जिसका दंड उत्पीड़न-शिविरों की यन्त्रणाओं द्वारा दिया जाना चाहिए।

हम मार्क्सवाद को धर्म मानने की आवश्यकता नहीं है अपितु हमें इसे मन की निष्ठा और आत्मा की विनय के साथ देखना चाहिए जोकि विज्ञान के विद्यार्थी की विशेषताएँ हैं। मार्क्सवाद का सामाजिक कार्यक्रम मानव जाति की वास्तविक आवश्यकताओं और आधुनिक तकनीकी साधनों द्वारा उत्पादन की आवश्यकताओं के अधिक उपयुक्त है। समाजवाद की मांग एक नैतिक मांग है परन्तु इसे वैज्ञानिक आवश्यकता का रूप देने के लिए यह युक्ति दी जाती है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की धारणा से ऐतिहासिक प्रक्रिया की अपेक्षाकृत अधिक सन्तोषजनक व्याख्या हो जाती है। मार्क्सवादी विचारधारा के मुख्य तत्त्व मूल्य का सिद्धान्त जिसमें उन पद्धतियों का वर्णन किया गया है जिनके द्वारा पूंजीपति कामगरों का शोषण करते हैं, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की धारणा, इतिहास की आर्थिक दृष्टि से व्याख्या

प्रगति का धर्म-सिद्धान्त और कामगरो की सत्ता प्राप्त करने के लिए उपाय के रूप मे क्रान्ति की वकालत है।

श्रमिक-वर्ग की दृष्टि मे पूंजीपति का लाभ अतिरिक्त मूल्य (सरप्लस वैल्यू) होता है जिसे कामगर उत्पन्न करते हैं और जिसे मध्यमवर्ग (बुर्जुआ) चुरा लेता है। परन्तु पूंजीपतियो का विश्वास है कि लाभ तो उद्यम और संगठन की योग्यता का वैध पुरस्कार-मात्र है। मार्क्सवाद के मूल्य के सिद्धान्त के विषय मे जो आलो चना की कसौटी पर खरा नही उतरता है, कुछ कहने का मैं अपने-आपको अधिकारी नही मानता। परन्तु जिन लोगो को मार्क्सवादी दर्शन से बहुत अधिक सहानुभूति है उनका भी यह विचार है कि "यह तथ्यो से विसंगत है और आत्मसंगत नही है।"[1]

मार्क्स ने हेगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को अपनाया है और उसने ब्रह्माण्ड के विकास को इस रूप मे देखा है कि यह भौतिक तत्त्व का द्वन्द्वात्मक शैली पर प्रस्फुटन मात्र है। उसकी प्राविविद्या (मैटाफीजिक्स) भौतिकवादी है और उसकी पद्धति द्वन्द्वात्मक है। मार्क्स अपने प्राविविद्या भौतिकवाद के लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नही करता। वह इतिहास की भौतिकवादी धारणा या सामाजिक तत्त्व की आर्थिक कारणता की चर्चा करता है और उसका विचार है कि ये प्राविविद्यक भौतिकवाद के परिणाम हैं परन्तु ये दोनो परस्पर बिलकुल असम्बद्ध हैं।

अपने फ्यूअरबाख पर ग्यारह निबन्ध मे मार्क्स ने यह युक्ति प्रस्तुत की है कि पहले के सब भौतिकवादो मे—जिनमे फ्यूअरबाख का भौतिकवाद भी सम्मिलित है—मुख्य त्रुटि यह है कि विषय (गैगनस्टैण्ड) वास्तविकता अनुभवगम्यता का निरूपण केवल विषय (ऑब्जेक्ट) के रूप के अन्तर्गत या रूपचिन्तन (ऐनशाउग) के अन्तर्गत किया गया है परन्तु मानवीय अनुभूतिशील गतिविधि या व्यवहार के रूप मे नही वस्तुनिष्ठ (सब्जेक्टिव) रूप मे नही। इससे यह निष्कर्ष निकला कि आदर्शवाद ने सक्रिय पक्ष को भौतिकवाद के विरोध मे विकसित किया। दूसरे शब्दो मे भौतिकवाद के अन्य प्रकारो मे भौतिक तत्त्व की धारणा अनुभूति की धारणा के साथ जुडी हुई थी। भौतिक तत्त्व को अनुभूति का कारण और साथ ही साथ अनुभूति का विषय भी माना जाता था और अनुभूति एक निष्क्रिय वस्तु थी जिसके द्वारा मन बाह्य जगत् के प्रभावो को ग्रहण करता था। प्रभावो का निष्क्रिय

---

[1] हैरल्ड जे लास्की 'कार्ल मार्क्स' (१६३४ पृष्ठ ३७

[2] तुलना कीजिए, "अगला आर्थिक विकास का सम्पूर्ण सिद्धान्त पूरी तरह सही दशा मे तब हो सकता है क्योकि उसकी वास्तविकता मिथ्या हो और यदि उसकी प्राविविद्या सत्य है तो वह सिद्धान्त मिथ्या है। और यदि अगर हेगल का प्रभाव न होता तो कभी यह बात कभी सूझ भी न सकती थी कि कोई इतनी विशुद्ध अनुभवगम्य वस्तु अध्यात्म प्राविविद्या पर निर्भर हो सकती है।" 'सीजन स्टडी कार्लमार्क्सिज्म'(१६६) पृष्ठ ११ —बर्ट्रेण्ड रसल

ग्रहण जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। भौतिक तत्त्व मन की गतिविधि को जागरित करता है और भौतिक तत्त्व जिस रूप में हम उसको समझते हैं मानवीय उपज है। प्रारम्भिक से प्रारम्भिक ज्ञान में भी मन सक्रिय रहता है। हम आसपास की परिस्थितियों को दर्पण की भांति केवल प्रतिबिम्बित नहीं कर रहे होते अपितु उन्हें परिवर्तित भी कर रहे होते हैं। किसी वस्तु को जानना उसका प्रभाव ग्रहण करना भर नहीं है अपितु उसके ऊपर सफलतापूर्वक क्रिया करने में समर्थ होना है। सब प्रकार के सत्य की परख क्रियात्मक है। क्योंकि जब हम किसी वस्तु पर क्रिया करते हैं तो हम उसे परिवर्तित कर देते हैं इसलिए सत्य में स्थितिशीलता बिल कुल नहीं है। वह निरन्तर परिवर्तित और विकसित होता रहता है। जिसे प्राय: सत्य का परिणामवादी स्वरूप कहा जाता है मार्क्स उसीको स्वीकार करता है। वह ज्ञान को वस्तुओं के ऊपर की जा रही क्रिया मानता है। यह कार्य है जिसकी व्याख्या भौतिक शक्तियों के नियमन और रूपान्तरण के रूप में की गई है। परन्तु ज्ञान अपने-आपमें एक बहुमूल्य वस्तु है। मनुष्य भौतिक तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है और उसपर केवल प्रभुत्व स्थापित करना नहीं चाहता। ज्ञान का उद्देश्य अपने-आपमें अन्तिम है। एक सुनिश्चित और पूर्ण प्रकार का ज्ञान ऐसा होता है जिससे हमारे आत्मात्मक पक्ष की गंभीर से गंभीर महत्त्वाकांक्षाएं पूर्ण हो जाती हैं।

मार्क्स अपने भौतिकवाद को द्वन्द्वात्मक कहता है क्योंकि उसमें प्रगतिशील परिवर्तन का सारभूत सिद्धान्त विद्यमान है। इसे भौतिकवादी कहा गया है, इस लिए नहीं कि यह मन के अस्तित्व को भौतिक तत्त्व के एक व्युत्पन्न गुण के रूप में मानने के सिवाय अस्वीकार करता है या मन के ऊपर भौतिक तत्त्व की सर्वो च्चता पर ज़ोर देता है, बल्कि इसलिए कि यह मानता है कि विचार वस्तुओं पर क्रिया करके उनके रूप और शक्ति में परिवर्तन करके इतिहास पर प्रभाव डालते हैं। वे भौतिक वस्तुएं, जिन्हें मार्क्स सामाजिक परिवर्तन का मुख्य निर्णायक बताता है प्रकृति का कच्चा माल नहीं हैं अपितु मानवीय उपजें हैं जिनपर मानसिक गतिविधि की छाप पड़ी हुई है। वे केवल प्राकृतिक वस्तुएं नहीं हैं अपितु वे वस्तुएं हैं जो मानव-मन की शक्ति से अनुप्राणित हैं। वे केवल कोयला पानी या बिजली नहीं हैं अपितु हमारा उन तरीकों का ज्ञान है जिनके द्वारा मानवीय लक्ष्यों को पूरा करने के लिए इन प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग किया जा सकता है। जब यह कहा जाता है कि उत्पादनशील प्राकृतिक शक्तियों के विकास द्वारा इतिहास की गति का निर्धारण होता है तब हमें यह याद रखना चाहिए कि उत्पादनशील शक्तियों के अन्तर्गत न केवल भूमि की उर्वरता धातुओं के गुण सूर्य की ऊष्मा भाप की शक्ति और बिजली-जैसी प्राकृतिक शक्तियां हैं अपितु मानव-मन की शक्ति भी है। मार्क्स को विवश होकर मनुष्य की बुद्धि को

उत्पादनशील शक्तियों से अलग रखना पड़ा है क्योंकि उसने इसे विचारधारात्मक ऊपरी ढांचे के अन्तर्गत रखा है जो एक परिणाम है एक गौण तत्त्व। और यद्यपि उत्पादक शक्तियां पृथ्वी पर अनेक शताब्दियों से विद्यमान थीं पर वास्तविक उत्पादन के लिए वे तभी उपलब्ध हो पाईं जब मनुष्य की बुद्धि ने उन्हें खोज निकाला और उन्हें उत्पादन के प्रयोजन के अनुकूल ढाल लिया। इस समय भी ऐसी अनेक प्रकृति की शक्तियां हो सकती हैं जिनकी अभी खोज नहीं हुई है जिनका पता चलना अभी शेष है और जिनका प्रयोग ऐसे कार्यों के लिए किया जा सकेगा जिनका हमें अभी गुमान भी नहीं है। औज़ार बनाने पशु पालने और कृषि प्रारम्भ करने से लेकर भाप और बिजली के उपयोग तक उत्पादनशील शक्तियों की खोज और उपयोग सबके सब मानवीय मन कल्पना और उद्देश्य के ही कार्य हैं। उत्पादनशील शक्तियां स्वयमेव विकसित नहीं हो जातीं। यद्यपि मार्क्स जहां-तहां भौतिक को उत्पादनशील शक्तियां और मानसिक को भौतिक के ऊपरी ढांचे का प्रतिबिम्ब मात्र वास्तविक हलचल द्वारा फेंकी जा रही छाया-मात्र मानता है फिर भी उसका मुख्य इरादा इन दोनों को ही उत्पादनशील शक्तियों की प्रकृति में समाती हुई मानना था है। उदाहरण के लिए, औज़ारों का निर्माण मानव-जाति के भौतिक जीवन का एक अंग है।

मार्क्स अपने सिद्धान्त को 'भौतिकवादी' इसलिए कहता है जिससे हेगल के भाववाद से उसका वैषम्य स्पष्ट हो सके भाववाद की दृष्टि में यह घटनाओं का जगत् विशुद्ध 'विचार' के जगत् की छाया-मात्र है। हेगल के विरोध में मार्क्स का यह मत है कि मन और प्रकृति सकारात्मक (पॉज़िटिव) तत्त्व हैं 'विचार' के सारहीन प्रतिबिम्ब मात्र नहीं। इसके अतिरिक्त हेगल की दृष्टि में परिवर्तन केवल रूप का भ्रम है जबकि मार्क्स के लिए परिवर्तन ही वास्तविकता का सार है। जिन वस्तुओं को हम देखते छूते और अनुभव करते हैं वे वास्तविक हैं और वे निरन्तर परिवर्तित हो रही हैं और वे परिवर्तन उनके आन्तरिक अंग हैं उनपर 'परम सत्ता' (ऐब्सोल्यूट) द्वारा थोपे गए नहीं हैं। मार्क्स अनु भवसिद्ध मन और वस्तुओं की वास्तविकता में विश्वास करता है जो हेगल के यहां परम सत्ता में डूबी हुई हैं। फ्यूअरबाख पर अपनी तीसरी टिप्पणी में वह यथाविकृत भौतिकवादी दृष्टिकोण का खण्डन करता है "भौतिकवादी यह सिद्धान्त कि मनुष्य परिस्थितियों और शिक्षा की उपज है और यह कि इस लिए बदले हुए मनुष्य अन्य बदली हुई परिस्थितियों और बदली हुई शिक्षा की उपज हैं इस बात को भूल जाता है कि परिस्थितियों को मनुष्य बदलते हैं और इस बात को कि स्वयं शिक्षक को भी शिक्षित किया जाना होता है। मार्क्स के अनुसार सामाजिक परिवर्तन प्रकृति समाज और मानवीय बुद्धि की पारस्परिक क्रिया द्वारा होता है।

मार्क्स के कथनानुसार भौतिक तत्त्व (मैटर) ब्रह्माण्डीय वास्तविकता का सार है। पर हम इस नाम से भ्रम मे न पड़ना चाहिए। वास्तविकता का अन्तिम मूल तत्त्व लेश मात्र भी अचेतन भौतिक तत्त्व नहीं है। वह तो आत्मा का ही सार है, जो स्वतः सक्रिय शक्ति है। भौतिक तत्त्व को स्वतः गतिशील स्वतः स्पन्दनशील और स्वतःप्रवर्तित बताना उसमे उन गुणों का आरोप करना है जो भौतिक नहीं हैं अपितु सजीव और आत्मिक हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी की दृष्टि म भौतिक तत्त्व मन का विलोम नहीं है। उसमे न केवल मन की अमित शक्तियां और सम्भावित धाराएं हैं अपितु उसका स्वरूप भी मन का सा ही है। यह भौतिक तत्त्व का अस्तित्व का ही एक अंग है कि वह गति करता है। द्वन्द्वात्मक विकास उसकी सारभूत और आवश्यक अभिव्यक्ति है। यदि वस्तुतः कोई अन्तवर्ती आदर्श है भौतिक तत्त्व मे जीवन और मन को उत्पन्न करने की अन्तः प्रेरणा है तो प्रारम्भिक मूल तत्त्व केवल भौतिक तत्त्व जिस रूप म कि साधारणतया उसे समझा जाता है नहीं है।

मार्क्स की रुचि हमारे सम्मुख विश्व-ब्रह्माण्ड का सिद्धान्त प्रस्तुत करने की ओर उतनी नहीं है जितनी कि ऐतिहासिक प्रक्रिया को समझने के लिए हमें एक संकेत-सूत्र प्रदान करने की ओर है। परमाणु के विश्लेषण और ग्रहों की उत्पत्ति की ओर उसका ध्यान नहीं है। उसका सम्बन्ध ऐतिहासिक घटनाओं से है और इतिहास इस दृष्टि से प्राकृतिक प्रक्रियाओं से भिन्न है कि यह किन्हीं लक्ष्यों की प्राप्ति मे तत्पर मनुष्यों की गतिविधि है। प्रकृति म हमारा वास्ता अचेतन अन्धी प्राकृतिक शक्तियों की पारस्परिक क्रिया स पड़ता है। प्राकृतिक घटनाएं चेतना पूर्वक संकल्पित काम नहीं हैं। मानवीय बर्ताव में हम इच्छा से विचार करते हैं और संकल्प से कार्य करते हैं और फिर भी परिणाम सदा वे नहीं होते जिनका कि हमारा इरादा था। दैनिक जीवन म जो विरोधी शक्तियां मनुष्यों को प्रेरित करती हैं उनके परिणामस्वरूप ऐसी स्थितियां उत्पन्न हो जाती है, जो हमारी चाही हुई स्थितियो से भिन्न होती हैं। ऐतिहासिक कार्य दैवयोग के परिणाम नहीं होते। हम यह नहीं कह सकते कि कोई बात किसी भी समय हो सकती थी। भले ही हम पहले की सब परिस्थितियां न जानते हो पर हम यह मानते हैं कि सब कार्यों के कारण होते हैं और मानव-मन के प्रयत्न भी उन कारणों मे हैं। जो शक्तियां इतिहास की प्रक्रिया का निर्धारण करती हैं वे विशुद्ध रूप से भौगोलिक या प्राणिशास्त्रीय नहीं हैं। जलवायु, स्थानभूत (टॉपोग्राफी) मिट्टी और जाति उन दशाओं म से हैं जो ऐतिहासिक परिवर्तनो को सीमित करते हैं किन्तु वे उनका निर्धारण नहीं करते। मानव-समाज किन्हीं अन्य सिद्धान्तों के अनुसार बदलता है।

यदि हम कहें कि वास्तविक ही बुद्धिसंगत है तो हमें केवल इतना करना शेष रह जाता है कि जो कुछ जैसा है उसे वैसा ही बनाए रखें। उस दशा मे हमारा दल रूढ़िवादी होगा। यदि दूसरी ओर, हम यह मानें कि बुद्धिसंगत ही वास्तविक

है तो हमारा प्रयत्न यह होगा कि विद्यमान व्यवस्था में बुद्धिसंगतता का पक्ष और खोजा जाए, और तब हमारा रुख सुधार या शान्ति का होगा। मार्क्स ने इनमें से दूसरे दृष्टिकोण को अपनाया है। इसमें संसार का और मानवीय स्वतन्त्रता की वास्तविकता को बदल डालने की आवश्यकता मान ली गई है। यदि हमारे कार्यों का निर्धारण हमारे अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु द्वारा होता है, तो वे हमारे काम नहीं हैं।

हेगल के यहां द्वन्द्व तर्क का ही एक अंग है। 'विचार' का विकास विरोधों की अनवरत गति द्वारा पूर्ण होता है। प्रत्येक विचार में सत्य का एक पहलू विद्यमान रहता है और वह हमें अपने प्रतिपक्षी विचार की ओर ले जाता है और यह प्रतिपक्षी विचार भी आंशिक सत्य ही होता है। इन दोनों के विरोध में से एक नया और उच्चतर विचार उठ खड़ा होता है। वह फिर अपने प्रतिपक्षी विचार को और उसके साथ विरोध को उत्पन्न करता है। यह पक्ष (थीसिस) प्रतिपक्षता (ऐंटि थीसिस) और समन्वय (सीथेसिस) की प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि वह लक्ष्य जो पूर्ण सत्य है और सत्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है प्राप्त नहीं हो जाता। हम अस्तित्व' के विचार से प्रारम्भ करते हैं उसके बाद स्वभावतः 'अनस्तित्व' का विचार आता है। इन दोनों परस्पर-विरोधी विचारों के संघर्ष में से एक नया और उच्चतर विचार उत्पन्न होता है जिसमें यह विरोध समाप्त हो जाता है। 'अस्तित्व' और अनस्तित्व' का विरोध 'हो जाने' के विचार में समाप्त हो जाता है। यह नया विचार हमें एक नये प्रतिपक्ष तक ले जाता है और उसके बाद वह प्रतिपक्ष हमें एक नये और उच्चतर विचार तक ले जाता है, जिसमें पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों का समन्वय हो जाता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि हम परम विचार' (ऐब्सोल्यूट आइडिया) तक नहीं पहुंच जाते। हेगल के अनुसार यही 'विचार का आत्मविकास' है। अपनी इसी पद्धति का प्रयोग करते हुए हेगल बहुत ही तर्कपूर्ण ढंग से सारे दर्शन इतिहास और प्राकृतिक विज्ञान तक को पुष्ट करता है। हेगल की दृष्टि में इतिहास मन का अनवरत आत्म अनुभव या आ म-स्वलीकरण (सूक्ष्म रूप से स्थूल रूप में आना) है और इसलिए उसे अनिवार्यतः अपने-आपको द्वन्द्वात्मक पद्धति से विकसित करना और अपने-आपको पूर्ण करना होता है।

मार्क्स द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोग विचारों के क्षेत्र में या विचारों के आत्म विकास पर नहीं करता अपितु समाज के भौतिक विकास पर करता है। वह ऐतिहासिक विकास को उसके परिवर्तनों और उसकी विरोधी प्रवृत्तियों को परखता है और बताता है कि इतिहास के विकास की परम्परा वस्तुतः विरोधों की एक परम्परा में से होती हुई निरन्तर प्रगति की प्रक्रिया है। कोई भी विद्यमान स्थिति हमें अपने प्रतिपक्ष की ओर ले जाती है और उनके विरोध के कारण समाज की

एक उच्चतर स्थिति उत्पन्न होती है जिसमें वे विरोध समाप्त हो जाते हैं।

हेगल और मार्क्स दोनों ही मानते हैं कि इतिहास का विकास द्वन्द्वात्मक है। अन्तर इतना है कि जहां हेगल का विश्वास है कि इतिहास में 'परम मन' अपने आपको स्थूल रूप में प्रकट कर रहा है और घटना-जगत् तो केवल उसकी बाह्य अभिव्यक्ति है, वहां मार्क्स का मत है कि ऐतिहासिक घटनाएं प्रमुख हैं और उनके विषय में हमारे विचार गौण वस्तु हैं। 'कैपिटल' के दूसरे संस्करण की भूमिका में मार्क्स भौतिकवादी द्वन्द्व और आदर्शवादी द्वन्द्व के अन्तर पर बल देता है। वह कहता है "मेरी अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति हेगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति से न केवल मूलतः भिन्न है, अपितु वह उसकी ठीक विलोम है। हेगल की दृष्टि में विचार-प्रक्रिया (जिसे वह वस्तुतः एक स्वतन्त्र वस्तु के रूप में बदल देता है और उसे विचार—आइडिया—नाम देता है) वास्तविक की सृजक है, और उसकी दृष्टि में वास्तविक जगत् 'विचार' की केवल बाह्य अभिव्यक्ति है। दूसरी ओर, मेरी दृष्टि में विचार भौतिक तत्त्व से पृथक कोई वस्तु नहीं है। भौतिक तत्त्व ही जब मानव मस्तिष्क में स्थानान्तरित और रूपान्तरित हो जाता है, तब विचार बन जाता है। यद्यपि हेगल के हाथों में पड़कर द्वन्द्व का सिद्धान्त रहस्यमय बन गया, परन्तु इतने से इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि सबसे पहले हेगल ने ही द्वन्द्व की गति के सामान्य रूपों का सर्वांग सम्पूर्ण और पूर्णतया सज्ञान रीति से प्रतिपादन किया। हेगल की रचनाओं में द्वन्द्व सिर के बल उल्टा खड़ा है। यदि आप उसकी युक्तिसंगत गिरी (तत्त्व) को खोज निकालना चाहते हैं, जो रहस्य के खोल में छिपी हुई है, तो आपको उसे उलटकर सीधा खड़ा करना होगा।"[1] हेगल हमारे सामने विचारों के विकास को तर्कशास्त्र की दृष्टि से और अनिवार्य शाश्वत व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करता है और परवर्ती लौकिक रूप को आभास या छाया बताता है। हेगल ने द्वन्द्व के जो-जो नियम निश्चित किए, वे सबके सब मार्क्स ने स्वीकार कर लिए। विचार के स्थान पर भौतिक तत्त्व को रखने के कारण दार्शनिक आदर्शवाद का स्थान क्रान्तिकारी विज्ञान ने ले लिया है। मार्क्स और हेगल दोनों की ही दृष्टि में इतिहास का विकास तर्कसंगत है, और हेगल के मामले में इसे ठीक भी समझा जा सकता है, क्योंकि उसके लिए तो मन ही चरम वास्तविकता है। मार्क्स के लिए भौतिक तत्त्व चरम वास्तविकता है और भौतिकवादी के लिए यह सोच पाना कठिन दुष्कर है कि संसार किसी तर्कसंगत नियम के अनुसार विकसित हो रहा है। मार्क्सवादी यह मान लेते हैं कि बाह्य जगत् एक प्रकार अनिवार्यता के साथ ठीक उसी दिशा में बढ़ा चला जा रहा है जिस ओर वे चाहते हैं।

१ 'हेगल का द्वन्द्व सार रूपसिद्धान्तों का आधारभूत सिद्धान्त तभी बन सकता है जब कि उसका रहस्यवादी रूप निकालकर दूर कर दिया जाए। और मेरी पद्धति में उसकी पद्धति से केवल इतना ही अन्तर है।'—मार्क्स से कूगलमन को लिखा पत्र

उसके कथनानुसार संसार एक साम्यवादी समाज के निर्माण की ओर बढ़ रहा है। इस प्रकार का समाज एक ऐतिहासिक आवश्यकता है। यह भौतिक विश्व का बिलकुल उपहार जैसा प्रतीत होता है। मार्क्स लिखता है "कामगर वर्ग को किसी आदर्श को प्राप्त नहीं करना है उसे तो केवल एक नव समाज के तत्त्वों का स्वतन्त्र भर कर देना है। पूंजीवादी प्रणाली के नियम "लौह-कठोर अनिवार्यता के साथ अपरिहार्य परिणामों की ओर अग्रसर होते हैं। ऐंजिल्स लिखता है जितनी सुनिश्चितता के साथ गणित के किसी एक दिए हुए साध्य से दूसरे साध्य का अनुमान किया जा सकता है उतनी ही सुनिश्चितता के साथ विद्यमान सामाजिक परिस्थितियों और राजनैतिक अर्थ-व्यवस्था के सिद्धान्तों से हम क्रान्ति का अनुमान कर सकते हैं। यह दृष्टिकोण कि तथ्य और आदर्श अस्तित्व और मान्यताएं (मूल्य) एक-दूसरे के अनुकूल ढले हुए हैं कम से कम वैज्ञानिक सत्य नहीं है। यह केवल एक आनुमानिक उपकल्पना (हाइपोथीसिस) है एक विश्वास की वस्तु ! हमें क्यों यह मान लेना चाहिए कि विश्व की प्रक्रिया हमारी इच्छाओं का समर्थन करती है ? मार्क्स को प्रूधनवाद के इस कथन को दोहराने का बड़ा चाव है कि "अधिविद्या वेत्ता (मैटाफीजीशियन) अपवेद में पुजारी होता है। मार्क्स जब यह कहता है कि उसका मानवीय समाज का आदर्श संसार के ताने-बाने में ही रमा हुआ है तो वह स्वयं भी दार्शनिक बन रहा होता है। इसमें हमें धार्मिक प्रवृत्ति का चिह्न दृष्टिगोचर होता है।

यद्यपि मार्क्स का कथन है कि उसके विचार वास्तविकता पर आधारित हैं अटकलबाजी पर नहीं फिर भी यह स्पष्ट है कि वह हमारे सम्मुख (वास्तविकता की) एक ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करता है, जो उसके सिद्धान्त के साथ मेल खाए। जब वह कहता है कि समाज सामन्तवाद से पूंजीवाद की ओर और पूंजीवाद से समाजवाद की ओर बढ़ता है, तब वह ऐसे शब्दों का प्रयोग कर रहा होता है जिनके अन्तर्गत असंख्य तथ्य समा सकते हैं। किसी भी ऐतिहासिक काल को घटनाओं के यथोचित चुनाव द्वारा किसी एक या किसी दूसरी प्रवृत्ति का सूचक प्रदर्शित किया जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी को मध्यमवर्ग के प्रभुत्व का काल भी समझा जा सकता है, या उद्योगवाद या साम्राज्यवाद का युग भी या राष्ट्रीयता या उदारता का युग भी यह सब इस बात पर निर्भर है कि हम किन धाराओं पर बल देना चाहते हैं या व्यक्तिगत रूप से किन धाराओं को सबसे महत्त्वपूर्ण समझते हैं। बीसवीं सदी की व्याख्या उपयुक्त घटनाओं को चुनकर हम इस रूप में भी कर सकते हैं कि यह उन्नीसवीं शताब्दी से ठीक उलटी है या फिर कुछ अन्य घटनाओं पर बल देकर हम यह भी दिखा सकते हैं कि इसमें उन्नीसवीं शताब्दी की प्रवृत्तियां ही आगे बढ़ रही हैं। सम्भव है यह सब बहुत रोचक हो, किन्तु यह वस्तुस्वात्मक दृष्टि से सत्य न होगा। इतिहास तथ्यों का स्मरण-भार नहीं है अपितु

उसका वह रूप है जिसमे कि हम उन्हें देखते हैं। इसमें तथ्यों की व्याख्या भी होती है और चुनाव भी। फिर भी लार्ड ऐक्टन के शब्दों में ऐतिहासिक तथ्य और ऐतिहासिक विचार के मध्य यथोचित अनुपात रहना ही चाहिए। मार्क्सवादी प्राचीनकाल का दास-अर्थव्यवस्था के साथ, मध्ययुग का कृषि-दास-अर्थव्यवस्था के साथ, आधुनिक युग का पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ और भविष्य का 'उत्पादन के साधनों के सामाजिकीकरण' के साथ अभिन्न सम्बन्ध समझता है और यह स्पष्ट विभाजन सब देशों पर लागू नहीं हो सकता। हेगल ने भी, जो इतिहास को इसी रूप में देखता है, मनमौजी वैशिष्ट्य-वर्णन प्रस्तुत किए हैं। एक जगह यूनान का अभिन्न सम्बन्ध 'व्यक्ति की स्वाधीनता' के साथ, रोम का सम्बन्ध राज्य के साथ और रोमन जगत् का सम्बन्ध 'व्यक्ति के सार्वभौम के साथ सम्मिलन' के साथ जोड़ा गया है। पर एक दूसरी जगह पूर्व का अभिन्न सम्बन्ध 'अनन्त' के साथ, प्राचीन यूनान और रोम का सम्बन्ध 'सान्त' के साथ और ईसाई युग का सम्बन्ध 'अनन्त और सान्त के संश्लेषण' के साथ जोड़ा गया है। परन्तु इतिहास किसी पक्के नियम के अनुसार नहीं चलता। ऐतिहासिक विकास अनिवार्यतः विरोधों की शृंखला द्वारा आगे नहीं बढ़ता। उन्नति की गति कभी बढ़ती है, कभी घटती है और वह विभिन्न रूपों में होती है। कभी वह एक स्थिति से उसकी विरोधी स्थिति में संक्रमण द्वारा होती है और कभी एक ही अविच्छिन्न धारा के रूप में आगे बढ़ती रहती है। यह कहना—जैसेकि मार्क्स कहता है कि "विरोध के बिना कोई प्रगति नहीं होती, यही एक नियम है जिसका कि सभ्यता आज तक पालन करती आई है।"—एक मनमानी बात कह देना है। मार्क्स का मत है कि सामन्तवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण मध्यवर्ग के प्रभुत्व और पूँजीवाद में से गुज़र कर होता है, परन्तु जब रूस में समाजवाद की स्थापना हुई, तब वह सामन्तवादी समाज की दशा में था, पूँजीवादी समाज की दशा में नहीं।

प्रगति की अनिवार्यता में मार्क्स का विश्वास है। समाज की गति आगे की ही ओर है। प्रत्येक उत्तरवर्ती सोपान विकास का सूचक है और अपने पूर्ववर्ती सोपानों की अपेक्षा बुद्धिसंगत आदर्श के अधिक निकट है। बुद्धिसंगत आदर्श वह स्वतन्त्र समाज है, जिसमें न कोई स्वामी होगा न कोई दास, न धनी होंगे न गरीब, जिसमें संसार की वस्तुओं का उत्पादन सामाजिक माँग के अनुसार किया जाएगा, व्यक्तियों की मन की मौज उसमें बाधा न डाल सकेगी और उन वस्तुओं का वितरण बुद्धिसंगत रीति से किया जाएगा। इतिहास की शक्तियाँ इस प्रकार का विकास करके ही रहेंगी, हम न उसमें सहायता कर सकते हैं और न बाधा डाल सकते हैं। परन्तु इतिहास ह्रास और अधःपतन के उदाहरणों से भरा है और उसे विरोधों में होकर निरन्तर होता हुआ विकास नहीं माना जा सकता। हम इस बात पर ज़रा भरोसा नहीं रख सकते कि मानवीय प्रगति अनिवार्य है। यह तो फिर मार्क्सवाद

से भी लड़ना होगा। किसी भी व्यक्ति या समाज के जीवन में ठीक उस क्षण का निर्धारण कर पाना संभव नहीं है जब तथाकथित विरोधाभास नया समन्वय वस्तुतः प्रारम्भ होता है। इतिहास एक अनवरत विद्यमानता (बिकमिंग) है, एक अविराम धारा जिसके न किसी का आदि का पता है न अन्त का। मार्क्सवादी सिद्धान्त अनुगमनात्मक या व्याप्तिमूलक (इंडक्टिव) सर्वेक्षण का परिणाम नहीं है अपितु निगमनात्मक या अनुमानात्मक (डिडक्टिव) ढंग का है। मार्क्स हेगल की तर्क-प्रणाली को अपने भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुकूल ढाल लेता है।

इस उदार दृष्टिकोण का कि हम वर्ग-युद्ध को त्याग देना चाहिए, बल के प्रयोग का परित्याग करना चाहिए, और मानवीय समस्वार्थता और न्याय की भावना को जगाने (अपील करने) का प्रयत्न करना चाहिए मार्क्स ने खण्डन किया है। उसका मत है कि यह आशा कि पूँजीपति वर्ग को बुद्धिसंगत आग्रह-अनुरोध से मनाया जा सकता है मिथ्या है। हमारे लक्ष्य उन आर्थिक परिस्थितियों द्वारा निश्चित कर दिए गए हैं जिनमें हमें रहना पड़ रहा है। हम पूँजीपतियों से लड़ना है इसलिए नहीं कि हम उनसे लड़ना चाहते हैं, अपितु इसलिए कि हमें लड़ना होगा ही।

हेगल के द्वन्द्व सिद्धान्त की कठिनाइयाँ उसके मार्क्सवादी रूप में भी विद्यमान हैं। हेगल की दृष्टि में विरोध मुख्य सिद्धान्त है जो सारी प्रकृति का आधार है। अपने सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए हेगल 'विरोधी' और 'भिन्न' में घपला कर जाता है। क्रोचे ने अपनी पुस्तक "व्हाट इज़ लिविंग एण्ड व्हाट इज़ डेड ऑफ दि फिलासफी ऑफ हेगल"[1] (हेगल के दर्शन का कौन-सा अंश अभी जीवित है और कौन-सा मर चुका है) में इस बात पर विस्तार से प्रकाश डाला है। प्रकाश और अन्धकार एक-दूसरे के विरोधी हैं। वे साथ-साथ नहीं रह सकते। एक के अस्तित्व का अर्थ दूसरे का अभाव। विरोधी एक-दूसरे का लोप करते हैं। परन्तु 'भिन्न' जैसे सत्य और सौन्दर्य, दर्शन और कला, एक-दूसरे का बहिष्कार नहीं करते। 'सीमा' की धारणा 'निषेध' की धारणा से भिन्न है। निषेध ही प्रकृति का एकमात्र पहलू नहीं है। यदि आर्थिक शक्तियाँ ऐतिहासिक विकास को नियमित करती हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य शक्तियाँ नहीं करतीं। आर्थिक आवश्यकता और धार्मिक आदर्शवाद की शक्तियाँ पारस्परिक क्रिया द्वारा इतिहास के भविष्य का रूप निर्माण कर सकती हैं।

मार्क्स का कथन है कि एक के बाद एक विरोधों द्वारा विकास तब तक जारी रहेगा जब तक कि सारी मानव-जाति साम्यवादी न हो जाए। विश्व-साम्यवाद की स्थापना होते ही द्वन्द्वात्मक विकास समाप्त हो जाएगा। हेगल ने इतिहास के द्वन्द्वात्मक विवरण से यह निष्कर्ष निकाला था कि द्वन्द्वात्मक विकास प्रशियन

१ अंग्रेजी अनुवाद (१९१५)

राज्य की स्थापना होने पर समाप्त हो जाएगा उसकी दृष्टि में प्रशियन राज्य 'परम विचार' (ऐब्सोल्यूट आइडिया) का पूर्ण मूर्त रूप था। मार्क्स का कथन है कि द्वन्द्वात्मक विकास का उद्देश्य यह (प्रशियन राज्य की स्थापना) नहीं हो सकता। 'सामाजिक विकास का राजनीतिक क्रान्ति होना तभी समाप्त होगा जब ऐसी व्यवस्था स्थापित हो जाएगी जिसमें न अलग-अलग वर्ग होंगे और न वर्गों में परस्पर-विरोधभाव रहेगा। मार्क्स हेगल की यह मान्यता लेने के कारण कि प्रशियन राज्य की स्थापना होते ही विरोध और संघर्ष समाप्त हो जाएंगे आलोचना करता है। क्या यह इसलिए कि उसका विश्वास है कि इतिहास का उद्देश्य प्रशियन राज्य की स्थापना में पूर्ण नहीं होगा अपितु उसके अपने (मार्क्स के) साम्यवाद की स्थापना में पूर्ण हो जाएगा? यदि मानव-समाज का विकास भौतिकवादी शक्तियों की सतत चल रही क्रीड़ा है जिसमें विरोधों और वर्ग-युद्धों की एक परम्परा द्वारा पूंजीवाद समाप्त हो जाता है और एक वर्गहीन समानतावादी राज्य की स्थापना होती है तो यह नया समाज भौतिकवादी शक्तियों द्वारा निर्धारित द्वन्द्वात्मक प्रगति के नियम से छूट कैसे पा जाता है? और यदि इसे उस नियम से छूट नहीं मिलती तो क्या इसके विरोध में भी कोई नया प्रतिपक्ष उठ खड़ा होगा? या भौतिक तत्त्व के जगत् में निमग्न विद्यमान नियम अपना उद्देश्य पूर्ण कर चुकने के बाद अपना काम करना बन्द कर देंगे और आपातिक (संकटकालीन) विकास की एक अज्ञात प्रक्रिया द्वारा नए नियमों को जन्म देंगे? यदि द्वन्द्वात्मक क्रान्तिकारी है तो वह वर्गहीन राज्य की स्थापना के बाद रुक क्यों जाना चाहिए? यदि वर्ग-संघर्षों की समाप्ति के बाद भी आगे विकास की गुंजाइश हो तो प्रगति के वर्ग-संघर्षों के अतिरिक्त अन्य कारण भी अवश्य होने चाहिए। मार्क्स स्वीकार करता है कि साम्यवादी समाज की स्थापना के बाद भी 'सामाजिक विकास' के लिए गुंजाइश रहेगी। सामाजिक जीवन में और कौन-से ऐसे विरोध हैं जिनसे उसे (सामाजिक विकास को) प्रेरक शक्ति प्राप्त होगी? साम्यवादी समाज में भी द्वन्द्व का सिद्धान्त क्रियाशील रहेगा भले ही हम विस्तारपूर्वक यह वर्णन नहीं कर सकते कि उसकी क्रिया का ठीक क्या रूप होगा हम यह कल्पना कर सकते हैं कि उसमें आगे प्रगति क्रान्तिकारी और समाज-विरोधी न होकर विकासात्मक और शान्त्यात्मक होगी। आर्थिक समस्याओं द्वारा आत्मविकास के मार्ग में खड़ी की गई रुकावटें हट जाएंगी और गुणशील व्यक्तियों को उन्नति का पर्याप्त अवसर मिलेगा। भय और विद्वेष सत्ता के लिए संघर्ष और स्वार्थ की अपेक्षा प्रेम और मित्रता साहस और अभियान की भावना अधिक सबल होगी। कष्ट और दुःख आने पर वे उच्चतर स्तर पर होंगे। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था इसलिए अन्यायपूर्ण नहीं है कि यह मनुष्य को दुःखी बनाती है अपितु इसलिए कि यह

उन्हें असमानता बना देती है। मनुष्य का लक्ष्य आनन्द नहीं अपितु गौरव है। इतिहास की द्वन्द्वात्मक गति के सिद्धान्त में सत्य केवल इतना है कि परस्पर-विरोधी मतों और हितों के संघर्ष से और उनके बारे में विचार विमर्श से सैद्धान्तिक क्षेत्र में नया ज्ञान उत्पन्न होता है और व्यवहार-जगत् में नई संस्थाओं का जन्म होता है क्योंकि सारी प्रकृति समस्वरता चाहती है और जब तक विसंवादिता (बेमेल स्वर, कलह) का समाधान न हो जाए, वह चैन से नहीं बैठ सकती।

इतिहास की मार्क्सिक व्याख्या में कहा गया है कि आर्थिक तत्त्व वह भी विशेषरूप से आर्थिक उत्पादन आधारभूत वस्तु है और शेष वे सब वस्तुएं जिन्हें हम संस्कृति धर्म राजनीति सामाजिक और बौद्धिक जीवन कहते हैं गौण उपज हैं उनका निर्धारण उत्पादन की प्रणालियों द्वारा होता है और वे उत्पादन की प्रणालियों के तात्कालिक परिणाम हैं। उत्पादन की दशाएं ही समाज का वह आर्थिक ढांचा है जो सामाजिक राजनीतिक और बौद्धिक जीवन का भौतिक आधार है। जब किसी नई शक्ति की खोज या नये तकनीकी आविष्कार के कारण उत्पादन की प्रणाली बदल जाती है तब उत्पादन की दशाएं भी बदल जाती हैं वे एक विचारधारात्मक ऊपरी ढांचे की रचना करती हैं अर्थात् जायदाद संबंधी विचारों और सम्मतियों की दशाओं की। ये फिर उत्पादन की दशाओं को नया रूप देने का कारण बनती हैं और इस प्रकार क्रिया और अन्योन्य क्रिया द्वारा समाज की प्रगति होती है। कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब उत्पादन की भौतिक शक्तियों का उत्पादन की विद्यमान दशाओं से जायदाद की उस प्रणाली से जिसके अधीन वे कार्य कर रही हैं विरोध उठ खड़ा होता है। यह सिद्धान्त अपनी सरलता के कारण ही मानने योग्य जान पड़ता है और वह इस कारण और सत्य प्रतीत होने लगता है कि जीवन और इतिहास में आर्थिक तत्त्व का महत्त्व बहुत अधिक है। तथ्यों के कुछ विशिष्ट समूहों का सावधानी से चुनाव करके और कुछ तथ्यों की उतनी ही सावधानी से उपेक्षा करके इस सिद्धान्त को तर्कसंगत और निर्बाधक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। आर्थिक दशाओं के महत्त्व पर जो बल दिया गया है वह ठीक है परन्तु यह सुझाव कि केवल एकमात्र वे ही इतिहास का निर्धारण करती हैं गलत है।

अरस्तू ने बहुत समय पहले हमें बताया था कि अच्छी तरह जीने से पहले हमारे लिए जीना जरूरी है। पहले हमें भोजन मकान और कपड़ा चाहिए, उसके बाद ही हम मनन चिन्तन और चिन्तन की बात सोच सकते हैं। जीवन और अच्छे जीवन के विभेद को मार्क्स ने एक सिद्धान्त के रूप में विकसित किया है। यह विभेद किस

---

१ नीत्शे के बैन्थम पर इस कथन प्रहार का कि "मनुष्य सुख नहीं चाहता, केवल अंग्रेज ऐसा चाहता है" मार्क्स ने समर्थन ही किया होता। अपनी 'कैपिटल' में मार्क्स लिखता है कि "बहुत ही भोलेपन के साथ बैन्थम ने सामान्य मनुष्य आधुनिक दुकानदार को, और भी विशेषतया अंग्रेज दुकानदार को मान लिया है।"

प्रकार सामने आया इसका विवरण देते हुए एंजिल्स ने लिखा है "मार्क्स ने इस सीधे सादे तथ्य को (जो उससे पहले विचारधारात्मक झाड़ झंखाड़ में दबा हुआ था) खोज निकाला कि मानव-प्राणियों को सबसे पहले खाना-पीना कपड़ा और मकान मिलना चाहिए, उसके बाद ही वे राजनीति विज्ञान कला धर्म तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं में रुचि ले सकते हैं। इसमें यह बात निहित है कि जीवन-निर्वाह के लिए अविलम्ब आवश्यक साधनों का उत्पादन और उनके द्वारा किसी राष्ट्र या युग के विकास का विद्यमान दौर ही वह नींव (आधार) है जिसपर राज्य संस्थाएं, वैधानिक दृष्टिकोण कला-सम्बन्धी और यहां तक कि धार्मिक विचार निर्मित होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि इन पिछली वस्तुओं की व्याख्या इन पहली वस्तुओं के आधार पर होनी चाहिए जबकि साधारणतया इन पहली वस्तुओं की व्याख्या इन पिछली वस्तुओं के आधार पर की जाती रही है।" उत्पादनशील शक्तियां बाकी सबका नियंत्रण करनेवाले मुख्य साधन हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बाकी चीजों की व्याख्या मुख्य साधनों द्वारा की जा सकती है। आर्थिक दशाएं प्रभावी कारण नहीं होतीं। परम्परा प्रचार और आदर्श उन कारणों में से कुछ एक हैं जो परिवर्तन लाते हैं। मानव उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन की प्रणालियों में भेद करता है। शक्ति प्रणाली बने इसके लिए मानवीय मस्तिष्क का हस्तक्षेप आवश्यक होता है। सब नवीन बातें पहले-पहल मानव-मन में विचारों के रूप में आती हैं। घटनाएं और कारण एक-दूसरे के साथ इतने घनिष्ठ रूप से मिले-जुले हैं कि उनके सूत्रों को सुलझा पाना कठिन है। यदि आर्थिक शक्तियां स्वयं ही यान्त्रिक प्रणालियों का निर्धारण करती हों तो मनुष्य का कोई प्रयोजन *ही नहीं रहता और इतिहास केवल एक भांति बन जाता है। यदि इतिहास घटनाओं* की यन्त्रचालित-सी परम्परा नहीं है तो स्पष्ट है कि मनुष्य अपने लक्ष्यों का चुनाव स्वयं करते हैं और उन्हें पूर्ण करने के साधनों का निर्धारण भी खुद ही करते हैं।

समाज के आर्थिक ढांचे और समाज का अभिन्न समझना ठीक नहीं है। यह ठीक है कि आर्थिक ढांचा बहुत महत्त्वपूर्ण है परन्तु केवल वही समाज की एकमात्र वास्तविकता नहीं है। यद्यपि एंजिल्स यह स्वीकार करता है कि ऊपरी ढांचे की विविध हलचलें भी ऐतिहासिक संघर्षों की प्रगति पर प्रभाव डालती हैं" परन्तु यह कहकर कि ये सब हलचलें एक-दूसरी का प्रभावित करती हैं किन्तु अन्त तोगत्वा अनुरूप अवसरों पर आर्थिक हलचल का प्रभाव अवश्य ही दूसरी हलचलों की अपेक्षा अधिक रहता है वह अपनी स्वीकारोक्ति के मुख्य बिन्दु को वापस ले लेता है। *केवल इसलिए कि हमने उपरली ढांचे के सम्बन्ध में चिन्तन कर पाना सम्भव नहीं है हम यह नहीं मान सकते कि उनका अस्तित्व ही नहीं है।* यह दृष्टिकोण कि उत्पादन की दशाएं एक विशेष प्रकार की विचारधारा को जन्म देती हैं जो समय पाकर उत्पादन की नई दशाओं को जन्म देती है केवल अनुमान (निराधार

कल्पना) है। उत्पादन की दशाएं और विचारधारात्मक ऊपरी ढांचा अलग अलग पालियों में (बारी-बारी से) काम नहीं करते। वे साथ-साथ विद्यमान रहते हैं और साथ-साथ काम करते हैं। इसके अतिरिक्त हम यह नहीं कह सकते कि विचारधारात्मक ऊपरी ढांचा उत्पादन की प्रणालियों का परिणाम है। उदाहरण के लिए हमारे धार्मिक विचार आर्थिक दशाओं के परिणाम नहीं हैं। आदिम मनुष्य अनुभव करता था कि वह सर्वशक्तिमान नहीं है और घटनाएं उसकी प्रबल इच्छा के विरुद्ध भी होती हैं और उसकी इच्छा के बिना तो प्राय होती हैं जिस संसार में वह रहता है वह उसका अपना बनाया हुआ नहीं है सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहण और भूकम्प उसकी सहमति से नहीं होते। तब उसने भूत-प्रेतों और देवताओं की कल्पना की और जिन घटनाओं की व्याख्या नहीं हो पाती थी उनका कारण उन भूत-प्रेतों और देवताओं को माना। मनुष्य की जीने के लिए तीव्र इच्छा के कारण उसका परलोक में विश्वास होता है उत्पादन की किन्हीं विशिष्ट प्रणालियों के कारण नहीं। ऐंजिल्स इस बात को स्वीकार करता है कि धर्म का निर्धारण उत्पादन की प्रणालियों द्वारा नहीं होता। वह कहता है "धर्म मनुष्यों के मन में उन बाह्य शक्तियों के जिनका मनुष्यों के दैनिक जीवन पर नियंत्रण है विलक्षण प्रतिफलन के अतिरिक्त कुछ नहीं है ऐसा प्रतिफलन जिसमें पार्थिव शक्तियां अलौकिक शक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं। इतिहास के प्रारम्भ में पहले-पहल प्रकृति की शक्तियों का इस रूप में प्रतिफलन हुआ था और विकास होने के साथ-साथ विभिन्न जातियों में उनके अनेक प्रकार और विभिन्न मानवी करण हो गए।"[1] जो बात धर्म के विषय में सत्य है वही अन्य सांस्कृतिक संस्थाओं के बारे में भी सच है। बहुत सीमित अर्थ में ही हम यह कह सकते हैं कि किसी समाज की आर्थिक प्रणाली ही उसके सम्पूर्ण वैधानिक राजनीतिक और बौद्धिक तत्त्व का वास्तविक आधार है इन तत्त्वों का अस्तित्व आर्थिक प्रणाली के अभाव में स्वतन्त्र रूप से नहीं रह सकता। बिना मिट्टी के कोई पौधा नहीं हो सकता। लेकिन पौधे भले ही वे मिट्टी में से उगते हैं केवल मिट्टी से नहीं उगते। बीज बोया जाना चाहिए और अन्य उचित दशाओं का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। इसी प्रकार विचारधारात्मक ऊपरी ढांचे के लिए आर्थिक प्रणाली की आवश्यकता अवश्य होती है किन्तु इसके द्वारा उसकी व्याख्या पूरी तरह नहीं हो जाती। जीवन के अभाव में अच्छा जीवन नहीं हो सकता परन्तु जिन जीवन-मूल्यों (मान्यताओं) का हम पालन (प्रेमपूर्वक रक्षा) करते हैं, उन सबकी व्याख्या केवल जीवन द्वारा नहीं हो सकती।

मार्क्स स्वीकार करता है कि इतिहास में एक क्रम है परन्तु वह सोद्देश्य या प्रयोजनवादी क्रम नहीं है। न यह क्रम अवैयक्तिक शक्तियों परम आत्मा (ऐब्सोल्यूट

---

१ 'ऐंटी-ड्यूहरिंग' पृ० ३५३-३५४

स्पिरिट) आत्मिक प्रकृति या आर्थिक उत्पादन की स्वत चालित क्रिया की ही उपज है। इतिहास का निर्माण मनुष्यों द्वारा होता है किसी इस या उस मनुष्य द्वारा नहीं अपितु मनुष्यों के समूहों और वर्गों द्वारा। यह आवश्यक नहीं कि वर्गों की गतिविधियां वही हों जितनी कि उन लोगों के उद्देश्यों को देखकर आशा की जा सकती है जिन (आशा) के द्वारा वे वर्ग बने हैं। महान व्यक्ति उन वर्गों के प्रतिनिधि होते हैं, जो उन्हें महानता प्राप्त करने का अवसर देते हैं। मानवीय प्रयत्न ही वह पद्धति है, जिसके द्वारा जो कुछ निर्धारित होता है वही घटित होता है। मार्क्स का कथन है कि ऐतिहासिक परिवर्तन वर्ग-संघर्षों के कारण होते हैं। यहां उत्पादनशील शक्तियों को इतिहास का आधारभूत तत्त्व माना गया है और उत्पादन की पद्धतियों को इन शक्तियों के विकास का एक रूप माना गया है और बाकी सब वस्तुओं को केवल विचारधारात्मक ऊपरी ढांचा कहा गया है यहां वर्ग युद्ध को वह पद्धति या विधि बताया गया है, जिसके द्वारा मनुष्य का ऐतिहासिक विकास सम्पन्न होता है। उत्पादन की शक्तियां ज्यों-ज्यों उनके विषय में हमारा ज्ञान और उनपर हमारा आधिपत्य बढ़ता जाता है, निरन्तर विकास की दशा में हैं और ये समाज के राजनीतिक ढांचे (संरचना) में परिवर्तन उत्पन्न करती हैं। परन्तु राजनीतिक रूप कुछ विशिष्ट वर्गों की सत्ता का मूर्त रूप होता है ये वर्ग साधारणतया उत्पादन के साधनों में हुए परिवर्तनों के साथ-साथ चल नहीं पाते। ये सत्तारूढ़ वर्ग अपने विशेषाधिकारों से चिपके रहते हैं और संघर्ष के बिना परिवर्तनों के सामने झुकते नहीं। मनुष्य की नष्ट उत्पादनशील यन्त्र-रचना (मैकेनिज्म) से नहीं होता अपितु उन सामाजिक सम्बन्धों से होता है जिनके अधीन रहकर वह उत्पादनशील यन्त्र-रचना कार्य करती है। बदलती हुई आर्थिक आवश्यकताओं की यह मांग होती है कि राजनीतिक प्रणाली में भी परिवर्तन हो और जब प्रभुत्वसम्पन्न वर्ग राजनीतिक परिवर्तनों को रोकने का यत्न करते हैं तब संघर्ष प्रारम्भ हो जाते हैं। जब परिवर्तन चाहनेवाली शक्तियां सबल हो जाती हैं तब वर्ग-संघर्ष का क्रान्तिकारी दौर शुरू होता है पुरानी राजनीतिक प्रणाली को हिंसा द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया जाता है और एक नई प्रणाली या नई मान्यताओं और हिंसा का भूत रूप होती है उठ खड़ी होती है। 'कम्युनिस्ट मैनी फैस्टो' (साम्यवादी घोषणापत्र) में वर्ग-युद्ध के सिद्धान्त को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है "हमारे समय तक जिन-जिन भी समाजों का अस्तित्व कभी रहा है उन सबका इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है स्वतन्त्र मनुष्य और दास कुलीन और अकुलीन सामन्त और अर्धदास कारीगर और शिल्पसंघों के सदस्य संक्षेप में अत्याचारी और अत्याचारपीड़ित निरन्तर एक-दूसरे के विरोध में जीवन बिताते रहे हैं, और एक-दूसरे के विरुद्ध अविराम युद्ध करते रहे हैं ऐसा युद्ध जो कभी तो प्रच्छन्न रूप से गुप्त चलता था और कभी खुल्लमखुल्ला संघर्ष के रूप में सामने आ जाता था और हर बार वह युद्ध तभी समाप्त हुआ है जब या तो समाज में क्रान्तिकारी

रूपान्तर हो गया या जब दोनो ही वर्गो का लोप हो गया। हम देखते हैं कि लगभग सभी देशो और कालो मे वर्ग संघर्ष चलते रहे और आज उनका महत्त्व पहले की अपेक्षा भी अधिक है। परन्तु इतिहास केवल वर्ग-संघर्षों का ही अभिलेख (रिकार्ड) नही है। राष्ट्रो के बीच युद्ध घरेलू युद्धो की अपेक्षा कही अधिक संख्या मे और कही अधिक उग्र होते रहे है और मानव-जाति के इतिहास के प्रारम्भिक भाग मे तो जातियो मे और नगरो मे आपस मे युद्ध हुआ करते थे। इस वर्तमान युद्ध (द्वितीय विश्व-युद्ध) मे भी वर्ग चेतना की अपेक्षा राष्ट्रीयता की भावना कही अधिक प्रबल है। सारे इतिहास में शासक और शासित धनी और निर्धन देश के शत्रुओ के विरुद्ध कन्धे से कन्धा मिलाकर लडते रहे हैं। हम आज भी अपने देश के पूंजीपति मालिको की अपेक्षा विदेशी शासकगण से अधिक घृणा करते है। कुछ धार्मिक युद्ध भी हुए हैं, जैसे धर्मसुधार (रिफॉर्मेशन) के पक्ष और विपक्ष मे हुए युद्ध जो यूरोप मे दो शताब्दियो तक चलते रहे। इन युद्धो में सब वर्गों के लोग क्या अमीर क्या गरीब क्या राजा और क्या किसान क्या कुलीन और क्या कारीगर, सब बडे धर्मान्ध जोश के साथ दोनो ही पक्षो की ओर से लडे। आज मार्क्सवादी भी कुछ एक अपवादो को छोडकर, उन पूंजीवादी राष्ट्रो के लिए लड रहे हैं, जिनके वे सदस्य हैं। वर्तमान युद्ध को हम धर्म भावना का ही विकृत रूप नही मान सकते। भारत में हुए हिन्दुओ और मुसलमानो के संघर्ष या आयरलैंड मे प्रोटेस्टेंटो और कैथोलिको मे हुए संघर्ष वर्ग-संघर्षों के निदर्शन नही हैं। यह ठीक है कि वर्ग-संघर्ष और गृह-युद्ध होते है परन्तु साथ ही धर्मों के और राष्ट्रो के युद्ध भी होते हैं। मानवीय विकास में इन पिछले प्रकार के युद्धो का हाथ अधिक निर्णायक रहा है।

इसके अतिरिक्त यह युक्ति कि युद्ध पूंजीवाद का अनिवार्य परिणाम हैं ऐतिहासिक दृष्टि से सही नही है। यह बात सच हो सकती है कि पूंजीवादी साम्राज्यो को नये बाजारो की आवश्यकता होती है और उन बाजारो को प्राप्त करने के लिए युद्ध छेडे जाते हैं परन्तु पूंजीवाद का अस्तित्व तो केवल पिछली कुछ ही शताब्दियो मे रहा है जबकि युद्ध हजारो सालो से लडे जाते रहे हैं। इस बात का भी कुछ निश्चय नही है कि यदि सब देशो मे एक नये भिन्न प्रकार की सामाजिक प्रणाली आ जाए, तो संसार में शांति स्थापित हो ही जाएगी। विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा करने तथा दूसरे राज्यो मे पूंजीवाद को समाप्त करने के लिए साम्यवादी रूस को भी युद्ध करना ही पडता है। यदि संसार के सब देशो मे साम्यवाद स्थापित हो भी जाए, तो साम्यवाद के सच्चे स्वरूप और उसको लागू करने की पद्धतियो के बारे मे मतभेद उठ खडे होंगे। यह कल्पना भी नही की जा सकती कि कभी कोई ऐसा समय आ जाएगा जब लोगो के कोई विरोधी मत और स्वार्थ न रहेंगे और लोगो मे कोई मतभेद न होगा। मानवीय व्यवहार की मुख्य प्रेरक शक्तियां विविध हैं। देश का प्रेम सत्तालोलुपता युद्ध की सहजवृत्ति उतनी ही

महत्त्वपूर्ण हैं, जितनी कि संग्रहशीलता और महत्त्वाकांक्षा। जब तक अपनी सम्पत्तियों, कामनाओं और इच्छाओं के समर्थन में उन लोगों से जो उनका विरोध करते हैं, लड़ने की प्रवृत्ति की रोकथाम नहीं की जाती, तब तक सामाजिक प्रणाली चाहे कोई-सी भी क्यों न हो, युद्ध होते ही रहेंगे। यदि मानव-स्वभाव ही न बदल जाए, तो तीव्र मतभेदों का निपटारा युद्ध के शस्त्रों द्वारा ही होता रहेगा; और हमारी न आशाएं कि कोई ऐसा समय आएगा, जब विरोधों का निर्णय तलवार की धार से न होकर मनोबल द्वारा होगा, टकती ही रहेंगी। इतिहास को केवल आन्तरिक (घरेलू) संघर्षों की एक शृंखला के रूप में प्रस्तुत करना और जाति-धर्म और राष्ट्रीयता की शक्तियों की उपेक्षा कर देना मानवीय विकास की पेचीदा समस्या की आवश्यकता से अधिक सरल मान लेना है। ऐंजिल्स ने इस सम्बन्ध में कुछ सतर्कतापूर्ण शब्द कहे हैं। मार्क्स ने और उसने अपने खण्डनात्मक वक्तव्यों में कहीं-कहीं बढ़ा-चढ़ाकर बातें कह दी हैं। उन्होंने यह नहीं सोचा था कि वे कोई ऐसे गुर (सूत्र) प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनके द्वारा इतिहास की सब घटनाओं की व्याख्या हो सकेगी। यदि ऐसा कर पाना सम्भव होता, तो ऐतिहासिक काल को पूरी तरह समझ पाना उतना ही सरल हो जाता, जितना कि एक मामूली समीकरण को हल करना।

मार्क्स ने जिस सत्य की ओर ध्यान खींचा है, वह यह है कि आधुनिक तकनीकों द्वारा वस्तुओं का उत्पादन इतने विशाल परिमाण में हो रहा है कि यदि सम्पत्ति-वितरण की व्यवस्था कुछ भिन्न प्रकार से की जाए, तो उससे सब लोगों की आवश्यकताएं पूरी हो सकती हैं; और इससे उन लोगों का असन्तोष दूर हो जाएगा जो इस समय भूख से पीड़ित हैं। भूखे लोग कुछ कर गुज़रने को उतारू होते हैं, जैसे कि सन्तुष्ट लोग कभी हो नहीं सकते; और 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' इन भूखों को प्रभावित करता है। यह इस वाक्य के साथ समाप्त होता है : "कम्युनिस्टों को अपने विचारों की ओर अपने उद्देश्यों को छिपाने से घृणा है। वे खुल्लमखुल्ला घोषणा करते हैं कि उनके उद्देश्य वर्तमान सब सामाजिक दशाओं को केवल बलपूर्वक उलट डालने से ही पूरे हो सकते हैं। शासक-वर्ग कम्युनिस्ट क्रान्ति से कांपते हैं तो कांपें। श्रमिक-वर्ग के पास गंवाने के लिए अपनी बेड़ियों के सिवाय और कुछ है ही नहीं। जीतने के लिए उनके सामने सारा संसार है। सब देशों के कामगरो, एक हो जाओ।" आर्थिक क्षेत्र में 'स्वेच्छाचारी व्यक्तिवाद' के सिद्धान्त के विरुद्ध मार्क्स का प्रतिवाद उचित है। बढ़ती हुई आर्थिक विषमता के सम्मुख राजनीतिक स्वतन्त्रता का मूल्य बहुत कम है। यह मान लेना कि आर्थिक क्षेत्र में हितों की समरसता स्वयं उत्पन्न हो जाएगी, यह विश्वास कि यदि प्रत्येक व्यक्ति लोभ-वश होकर अपना हित पूरा करने की चेष्टा करेगा तो समाज को स्वयं ही अधिकतम लाभ होगा, समर्थनीय नहीं है। व्यक्ति अपने हित के लिए कार्य करते हुए सभी

प्रक्रिया मे समाज के प्रति अपने कर्तव्य का पालन नही कर रहा होता। जन-साधारण का ध्यान व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ओर उतना नही है जितना कि धन्धो, भोजन और पर्याप्त सुरक्षा की ओर।

भौतिकवादी परिकल्पना द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के ससोधित रूप मे भी भौतिकवाद के अन्य रूपो की अपेक्षा कुछ अधिक सन्तोषजनक नही है। यह दृष्टिकोण कि मन केवल भौतिक तत्त्व का ही एक रूप है, और इसके विचारो तथा विकास का निर्धारण भौतिक सघटित सत्ता (ऑर्गनिज्म) की प्राकृतिक दशाओ द्वारा प्रत्येक पीढी के सामाजिक और आर्थिक ढाचे और भौतिक प्रक्रिया द्वारा जिसका कि वह भौतिक सघटित सत्ता एक रूप है होता है एकपक्षीय और भ्रामक है। इतिहास एक सुघटित और सृजनशील प्रक्रिया है यह धारणा मार्क्स ने केवल हेगल से ही नही भी अपितु अपने यहूदी पूर्वजो से भी है। इस साभिप्राय आदर्श (नमूना) और इस सृजनशील गतिविधि की व्याख्या उत्पादनशील शक्तियो के विकास के रूप मे नही हो सकती। उत्पादनशील शक्तियो का सारा विकास मनुष्य की सृजनशील अन्त प्रेरणा द्वारा हुआ है। सृजनात्मक अन्त प्रेरणा का स्रोत कौन-सा है ? मनुष्य केवल पशु की भाति जीकर ही सतुष्ट क्यो नही रह लेता ? यदि यह मान भी लिया जाए कि ससार द्वन्द्वात्मक अनिवार्यता के द्वारा यथासमय निष्पत्ति की ओर, अस्तित्व की एक नई व्यवस्था की ओर बढ रहा है तो भी इसके जीवन और गति का स्रोत कौन-सा है ? यह कहना कि इतिहास एक सप्रयोजन प्रक्रिया है भौतिकवादी दृष्टिकोण की अपेक्षता से इनकार करना है। यह मान लेना कि यह एक परम तथ्य है इसे रहस्य-रूप मे ही छोड देना है। और रहस्य धर्म का जन्मस्थल है। इसके अतिरिक्त धर्म मानवीय प्रकृति को नये रूप मे बदल डालना चाहता है और मार्क्स का विश्वास है कि इसका परिणाम सामाजिक परिवर्तन द्वारा प्राप्त होता है। वह लिखता है 'बाह्य जगत् पर क्रिया करने और उसे परिवर्तित करने के द्वारा मनुष्य स्वय अपनी प्रकृति (स्वभाव) मे भी परिवर्तन कर रहा होता है।'[1] सामाजिक जीवन की दशाओ पर नियन्त्रण करके मनुष्य अपनी प्रकृति को अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार नये रूप मे बदल सकता है। मार्क्स कहता है "मोधिये मूधो को मालूम ही नही कि सारा इतिहास मानवीय प्रकृति के अधिकाधिक बढते हुए रूपान्तरण के सिवाय और कुछ नही है और धर्म का उद्देश्य भी ठीक यही है।

विज्ञान और धर्म के बीच चलनेवाला इतिहास-प्रसिद्ध विवाद अब पुराना पड चुका है क्योकि वह विज्ञान जो धर्म को चुनौती देता था आज वैसा ही मर चुका है जैसाकि वह धर्म जिसे वह चुनौती दिया करता था। आज समस्या धर्म के अविश्वसनीय कट्टर सिद्धान्तो के विषय मे नही है, अपितु इस ब्रह्माण्ड मे आत्मिक

१ 'कपिटल' १ १६८

तत्त्व का जो स्थान है उसके विषय में है। इस आत्मिक तत्त्व की व्याख्या विज्ञान द्वारा बिलकुल ही नहीं हो सकती। आत्मा का राज्य हममें से हरएक के अन्दर विद्यमान है, सदा से विद्यमान रहा है और सदा रहेगा। इसे सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा या बाह्य परिवर्तनों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

जो भारतीय लोग मार्क्सवादी सामाजिक कार्यक्रम की ओर आकर्षित हुए हैं उन्हें चाहिए कि वे इसका मेल भारतीय जीवन के आधारभूत आदर्शों के साथ बिठाएं। एक स्वप्नलोक (आदर्शलोक यूटोपिया) की रचना और एक ऐतिहासिक आदर्श की रचना में काफी अन्तर है। किसी भी दिए हुए समय की सुनिर्दिष्ट परिस्थितियों से बिलकुल पृथक् एक अव्यक्त धारणा स्वप्नलोक है जो एक पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का एक कल्पनाप्रसूत आदर्श है। दूसरी ओर ऐतिहासिक आदर्श में सुनिर्दिष्ट स्थितियों का ध्यान रखा जाता है और उसका आधार परम पूर्णता नहीं अपितु सापेक्ष पूर्णता होती है। किन्हीं आधारभूत विशेषताओं के सम्बन्ध में ऐतिहासिक उन्नति का निर्धारण एक सुनिर्दिष्ट पृष्ठभूमि द्वारा होता है भले ही उसके भावी विकास के सम्बन्ध में निश्चय से कुछ न कहा जा सकता हो। भविष्य को अन्तिम रूप से स्वतन्त्र नहीं कर दिया गया और मानवीय आत्मा जो स्वाधीनता की भावना से सम्पन्न है बाह्य और आन्तरिक आवश्यकताओं पर विजय पा सकती है और इतिहास की गति का निर्धारण कर सकती है। भारत के लिए आदर्श सामाजिक व्यवस्था वही हो सकती है जिसमें हमारे जीवन की उस आध्यात्मिक दिशा का पूरा ध्यान रखा गया हो जिसमें से कम्युनिस्टों का केन्द्रीय सिद्धान्त कि सब मनुष्य भाई भाई हैं निकाला है। उन युवकों से जिन्हें यह निश्चय है कि धर्म के दिन बीत चुके हैं, हम कह सकते हैं कि वे इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण विषयों पर कुछ सम्मतियां बनाने के लिए सबसे कम योग्य हैं और इसीलिए ऐसी सम्मतियां बनाने के लिए सबसे अधिक अधीर हैं। इस विषय में प्लेटो की सलाह एकदम असंगत नहीं है।

जब पर हिटलर के आक्रमण ने सब धार्मिक संस्थाओं की ओर से जिनमें चर्च और सम्प्रदाय-संस्थाएं (सैक्टरी) भी समान रूप से सम्मिलित हैं, वेदनाविनिपूर्ण

१ "मेरे बेटे, तुम अभी जवान हो और समय बीतने के साथ-साथ तुम्हारे वर्तमान विश्वास बिलकुल उलट जाएंगे। तो तुम सर्वोच्च विषयों के सम्बन्ध-निर्णय शुरू करने में पहले भविष्य की प्रतीक्षा करो और इन विषयों में सबसे महत्त्वपूर्ण—जबकि तुम अभी इसे [illegible] तुच्छ समझते हो—है देवताओं के सम्बन्ध में ठीक ढंग से सोचना और अच्छा जीवन बिताना या फिर इसका उल्टा [illegible]। यदि तुम मेरी बात मानो तो इन विषयों में स्पष्ट और निश्चित निर्णय की पूर्णता आने की प्रतीक्षा करो और इस ओर से [illegible] ज्ञान पाने की चेष्टा करते हुए यह खोज करो कि सत्य इस दिशा में है या उस दिशा में। इस बीच में सावधान रहो कि देवताओं के प्रति किसी प्रकार की अधार्मिकता न होने पाए।" —'लौज' प्लेटो (ए. ई. टेलर कृत अंग्रेजी अनुवाद)

उत्साह के प्रादुर्भाव को प्रोत्साहन दिया है। अब उनके ऊपर 'क्रान्ति-विरोधी षड्यन्त्रों से सम्बद्ध होने का शक नहीं किया जा सकता। धार्मिक संस्थाओं की ओर से रूसी सरकार के सच्चे और सोत्साह समर्थन का परिणाम यह हुआ कि स्तालिन ने कट्टर पंथी धर्म के नेताओं को अधिकृत रूप से भेंट के लिए बुलाया और इस बात को माना कि उन्हें पेट्रियार्क (प्रधानधर्माध्यक्ष) का चुनाव करने तथा एक पवित्र धर्मसभा (होली साइनोड) का गठन करने के लिए राष्ट्रीय सभा (नेशनल असेम्बली) बुलाने की स्वतन्त्रता है।'[1] सोवियत सरकार धार्मिक स्वतन्त्रता को स्वीकार करती है और उन मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करती जिनका सम्बन्ध उचित रूप से धर्म के साथ है। धर्म के प्रति पहले का उग्र विरोध मुख्यतया धर्म के अनुचितसतापूर्ण अप्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण था और इस कारण कि धर्म रोमानोफ वंश का जरा-दुम्म दास-सा बना हुआ था। बहुत-सी ज्यादतियाँ हुईं जिनके विषय में अब चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। हो सकता है कि अब भी रूसी सरकार ने अपनी नीति राजनीतिक कारणों से बदली हो। प्रेरक कारण चाहे कुछ भी क्यों न रहे हों किन्तु यह ऐतिहासिक निर्णय इस बात की स्वीकृति का द्योतक है कि जनता के जीवन में धर्म का स्थान है।

आध्यात्मिक पुनरुज्जीवन की आवश्यकता

मार्क्स और उसके साथी जिन उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर चल रहे हैं उन्हें प्राप्त करने के लिए, अप्रिय वृत्तियों को समाप्त कर डालने के लिए आध्यात्मिक पुनरुज्जीवन की आवश्यकता है। नई विश्व-व्यवस्था में उसे एकता और प्रेरणा प्रदान करने के लिए गहरा आध्यात्मिक आवेश का होना आवश्यक है। सामाजिक कार्यक्रम के लिए केवल वही बुद्धिसंगत आधार प्रदान कर सकता है। हमें जैसा कि स्वर्गीय हेनरी बर्गसन ने कहा था 'सारी मानव-जाति के सामने उस परमात्मा की ओर देखना चाहिए, जिसकी केवल एक झलक मिलने का यदि किसी प्रकार मनुष्य उसे पा भर सके तो अर्थ यह होगा कि युद्ध का अविलम्ब समूलोच्छेद हो जाए। जिस परमात्मा का संकेत बर्गसन ने किया है उसकी झलक हम किस प्रकार

१ ४ सितम्बर १९४३ को स्तालिन द्वारा मास्को के [illegible] और [illegible] के तीन प्रतिनिधि धर्माध्यक्षों (मेट्रोपोलिटन्स) का स्वागत सत्कार करने के विषय में अधिकृत वक्तव्य में निम्नलिखित अनुच्छेद महत्त्वपूर्ण है

भेंट के दौरान में मेट्रोपोलिटन सर्जियस ने मार्शल (स्तालिन) को बताया कि सनातनी (ओर्थोडोक्स) चर्च के [illegible] धर्म ने यह इरादा बनाया है कि निकट भविष्य में बिशपों की एक [illegible] सभा (कौंसिल) बनाएं और सारे रूस के प्रधानधर्माध्यक्ष (पेट्रियार्क) का चुनाव करने के लिए और पवित्र धर्मसभा (होली साइनोड) की स्थापना करने के लिए बुलाएं। सरकार के अध्यक्ष मार्शल [illegible] ने [illegible] स्तालिन ने कहा कि सरकार की ओर से इस प्रस्ताव पर कोई ऐतराज न होगा।

पा सकते हैं ? हम पाप और असारता से मुक्त होकर किस प्रकार उस भगवान को देखने की अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं जो सबके लिए एक है ? धर्म का आधार व्यक्ति के सारभूत मूल्य और गौरव का उद्घाटन और वास्तविकता के उच्चतर संसार के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध है। जब मानव-प्राणी यह अनुभव करता है कि वह पार्थिव प्रकृति की अपेक्षा उच्चतर एक वास्तविकता की व्यवस्था का अंश है तो वह सांसारिक सफलता से या भौतिकवादी विज्ञान की विजयों से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। उसमें अपने आदर्शों के लिए शहीद होने की क्षमता है यह तथ्य इस बात का सूचक है कि मनुष्य शाश्वत वास्तविकताओं के संसार में रहता है और उसीके लिए जीता है। पूजा मनुष्य का (दिव्य) ब्रह्म तक पहुंचने का प्रयत्न है। धर्म वह अनुशासन है, जो अन्तरात्मा को स्पर्श करता है और हमें बुराई और कुत्सितता से संघर्ष करने में सहायता देता है काम, क्रोध और लोभ से हमारी रक्षा करता है नैतिक बल को उन्मुक्त करता है संसार को बचाने का महान कार्य के लिए साहस प्रदान करता है। मन के अनुशासन के रूप में इस (धर्म) में उस बुराई का मुकाबला करने की कुंजी और सारभूत साधन विद्यमान हैं जो सभ्य संसार के अस्तित्व के लिए खतरा बनी हुई है। इसमें हमारे विचार और आचरण को आत्मा के धर्मों का वशवर्ती बनाने की बात निहित है।

अतीत में धर्म जादू टोने, नीमहकीमी और अन्धविश्वास के साथ मिश्रित रहा है। उन धर्मसिद्धान्तों को, जो किसी समय दिव्य जीवन की ओर ले जानेवाले मार्ग थे, पर आज रुकावट बने हुए हैं, मनुष्य और परमात्मा के बीच में रोक बनकर खड़ा न होने देना चाहिए और आध्यात्मिक जीवन की सारभूत सरलता को नष्ट न करने देना चाहिए। धर्म को, जैसा कि इसके नाम से ही ध्वनित होता है, एक ऐसी सशक्त परस्पर बांधनेवाली शक्ति होना चाहिए, जो मानव-समाज की तुच्छता को और गहरा करती हो, भले ही उसके ऐतिहासिक स्वरूपों में अनेक स्पष्ट त्रुटियां रही हों। अपने तत्त्व-रूप में धर्म आध्यात्मिक अभियान के लिए आह्वान है। यह धर्म धर्मविज्ञान (थियोलॉजी) नहीं है, अपितु धर्म का व्यवहार और अनुशासन है। आत्मा ने जब भी जिसने अपने आपको शाश्वत से पृथक कर लिया है यही एकमात्र औषध है। जब मानव-आत्मा इसको खोता और इसकी शर्तों की अवज्ञा करती है तब वह उन्मत्त और आत्मघाती बन जाती है। व्यक्ति और शाश्वत के बीच नष्ट हो गए सम्बन्ध को पुनः स्थापित करना ही धर्म का लक्ष्य है।

धर्म का सार उन धर्म-सिद्धान्तों में और धार्मिक मतों में, क्रियाओं में और संस्कारों में नहीं है, जिनसे हममें से अनेक को विरक्ति होती है, अपितु युगों की गम्भीरतम बुद्धिमत्ता में, अनवरत तत्त्वज्ञान में, सनातन धर्म में है, जो आधुनिक विचार की विमर्शव्याकुल असम्पन्नता में हमारा एकमात्र पथप्रदर्शक है। विभिन्न धर्म सत्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते, अपितु सत्य ने उन विभिन्न धर्मों और धार

नामो का प्रतिबिम्बित करते हैं जिनमें कि लोग विश्वास करते रहे हैं। वे उस एक ही सत्य की विविध ऐतिहासिक अभिव्यक्तियां हैं, जो अपनी प्रामाणिकता की दृष्टि से सार्वभौम और सार्वकालिक है। सेंट आगस्टाइन कहता है "जिसे ईसाई धर्म कहा जाता है वह प्राचीन लोगों में भी विद्यमान था और मानव-जाति के प्रारम्भ से लेकर ईसा के शरीर धारण करने के समय तक कोई वक्त ऐसा नहीं रहा जब इसका अस्तित्व न रहा हो ईसा के आगमन के बाद सच्चे धर्म को जो पहले से ही विद्यमान था ईसाई धर्म कहा जाने लगा।[1]

इस सृजनशील प्रसव-पीड़ा के काल में अपने कष्ट-सहन की गम्भीरता के कारण भी भारत को यह विशेषाधिकार प्राप्त है कि वह संसार के लिए प्रकाश बन सके सार्वभौम महत्त्व के एक सन्देश का वाहन बन सके। भारत कोई जातीय व्यक्तित्व नहीं है क्योंकि जातीय भवितव्यता बनावटी है। विशुद्ध जातीय रूप तो नृविज्ञान की आदर्श कल्पनाएं भर हैं। वास्तविक जीवन में ऐसे व्यक्तियों को प्राप्त कर पाना सरल नहीं है जिनमें किसी एक ही जाति की सब विशेषताएं एकत्र विद्यमान हों। सभी जगह मनुष्यों में विभिन्न जातियों की विशेषताएं मिली-जुली मिलती हैं, यहां तक कि एक ही परिवार के सदस्यों में भी एक ही जाति की विशेषताएं शायद ही कहीं दीख पड़ती हों। भारतीय संस्कृति जातीय दृष्टि से एकदेशीय नहीं है, अपितु इसने सब जातियों के लोगों को प्रभावित किया है। अनुभूति और उद्देश्य की दृष्टि से यह अन्तर्राष्ट्रीय है। भारत के प्रतीकरूप धर्म हिन्दुत्व में वही भावना विद्यमान है वह भावना जिसमें इतनी असाधारण जीवनी शक्ति है कि वह राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों के बाद भी बची हुई है। जब से भी इतिहास का अभिलेख उपलब्ध है तभी से यह आत्मा की पवित्र ज्वाला का साक्ष्य प्रस्तुत करता रहा है यह ज्वाला सदा तब भी जबकि राजवंश नष्ट होते हों और साम्राज्य टूटकर बिखर रहे हों विद्यमान रहेगी। केवल यही पवित्र ज्वाला हमारी सभ्यता को आत्मा और नर-नारियों को जीवन का एक सिद्धान्त प्रदान कर सकती है।

मनुष्य में एक न केवल जीने की अपितु गौरव के साथ जीने की तत्त्वगत (मौलिक) आकांक्षा विद्यमान है। जब हमारे इस गौरवपूर्ण जीवन के आवेश को बाह्यातीत समर्थन प्राप्त हो जाता है,तब हमारे अन्दर एक विशिष्ट प्रकार का धार्मिक उत्साह भर उठता है। ऐसा व्यक्ति कोई भी नहीं है जिसके मन में कभी न कभी ये आधारभूत प्रश्न न उठे हों—मैं क्या हूं ? मेरा मूल कहां है ? मेरी भवितव्यता क्या है ? इसके अतिरिक्त हमें इस विश्व के रहस्य पर विस्मय की अनुभूति होती है

---

[1] सिटी ऑफ गॉड रिविजियोन्स अध्याय १
[2] इस ज्ञान-भरे पद पर विचार कीजिए,
"कहां वे सब रातियां और दिवस किन गये ?
और आगामी कल क्या हो सकता है ?

तीव्र उल्लास के इन अनुभवों में जबकि हम पंखों द्वारा ऊपर उठकर वास्तविकता को स्पर्श करने लगते हैं, जब हम प्रकाश से भर उठते हैं और आत्मा के सान्निध्य के वातावरण से भर उठते हैं हमारा मन आश्चर्यजनक स्पष्टता से भर जाता है और हम अपने-आपको एवं विश्वव्यापक विश्व का भ्रम अनुभव करने लगते हैं। जिनके चरित्र और सत्यनिष्ठा पर कोई आक्षेप किया ही नहीं जा सकता ऐसे लोगों ने बड़े गम्भीर शब्दों में बताया है कि किस प्रकार उनका सारा अस्तित्व ही रूपान्तरित हो गया। आत्मा ही उनका जीवन प्रकाश और आनन्द है। उनका सम्पूर्ण स्वभाव अनुसन्धान की गतिविधि है ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न। वे तो अपनी आत्मा की शांति में रह रहे होते हैं परन्तु उनके शरीर जीवनी-शक्ति से प्रबल और अविलम्ब्य होते हैं।

धर्म का मूल एक प्रकार की विस्मय की अनुभूति में और स्वयं जीवन के शाश्वत रहस्य में इसकी धारणा और शक्ति में जब हम किसी तृप्तिदायक वस्तु को प्राप्त करते हैं तब होनेवाले परम उल्लास के अनुभव में है और इसके अभाव में मनुष्य मृतक-सदृश है। "अरी गार्गी जो इस अविनश्वर को बिना जाने इस संसार से प्रयाण कर जाता है वह दरिद्र है दया का पात्र है दूसरी ओर जो कोई इस 'अविनश्वर' का ज्ञान प्राप्त करके इस संसार से प्रयाण करता है वह ब्राह्मण है।"[1] और फिर, "यदि हम उसका ज्ञान यहीं प्राप्त कर ले तब तो जीवन सफल है पर यदि हम उसे यहां न जान पाए, तो यह महान विपत्ति है।"[2] यदि मानव-जीवन शाश्वत के साथ सम्पर्क स्थापित करने की अदम्य लालसा से प्रेरित न हो तो उस जीवन का कुछ अर्थ ही नहीं है। प्लौटिनस कहता है "इसके लिए, वह सर्वोच्च 'सौन्दर्य' वह परम और मूल सौन्दर्य अपने प्रेमियों को सौन्दर्य के अनुकूल गढ़ता है और उन्हें प्रेम के योग्य भी बनाता है। और इसके लिए आत्माओं के सामने कठोरतम और चरम संघर्ष प्रस्तुत किया जाता है हमारा सारा श्रम इसीके लिए है कि कहीं हम इस सर्वश्रेष्ठ झलक का कुछ भी अंश पाए बिना न रह जाए जिसे प्राप्त करना आनन्दमय दृष्टि से धन्य होना है और जिसे प्राप्त करने में असफल रहना चरम असफलता है। क्योंकि जो व्यक्ति रंगों और तीव्र चमकनेवाले रूपों से मिलनेवाले आनन्द को पाने में असफल रहता है शक्ति और सम्मान पाने में असफल रहता है वह असफल नहीं है अपितु केवल वह असफल है जो 'इस' आनन्द को पाने में असफल रहता है जिसे पाने के लिए उसे राज्य को भी त्याग देना चाहिए।

जब तक उस 'सर्वोच्च' (परमेश्वर) की झलक न मिले तब तक जीवन

---

१ यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः। अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः।

२ महती विनष्टिः।

वहां पहुंचकर आत्मा इस अनुभव का विनिमय विश्व की किसी भी वस्तु से करने को तैयार नहीं होगी यहां तक कि यदि उसे सम्पूर्ण नक्षत्रों समेत आकाश-मण्डल दे दिया जाए, तो उसके बदले भी वह इस अनुभव को छोड़ने को तैयार नहीं होगी इस अनुभव से बढ़कर उच्चतर और उत्कृष्टतर वस्तु और कुछ नहीं है। इससे और ऊपर जाना हो ही नहीं सकता।[1] आगस्टाइन ने अपनी दोष-स्वीकृतियां इन स्मरणीय शब्दों से प्रारम्भ की 'हे प्रभु, तूने हमें अपने लिए बनाया है और जब तक हम तुझमें पहुंचकर शान्ति प्राप्त नहीं कर लेते तब तक हमारे हृदय अशान्त रहते हैं। उसके लेखों में ऐसे अनेक संदर्भ हैं जिनसे यह सूचित होता है कि अपने जीवन के महान क्षणों में वह 'उस' तक पहुंच गया था जो 'एक कौंध में एक प्रभाव में उस शाश्वत बुद्धिमत्ता को स्पर्श कर लेता है जो अनन्तकाल स्थायी है" और जो स्वयं वह बुद्धिमत्ता है। मुहम्मद ने जोर देकर कहा था कि परमात्मा सच मुच है इस बात को सिद्ध करने के लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। उसके अपने इस अनुभव की कि "परमात्मा मेरी अपनी गर्दन की नस से भी मेरे ज्यादा नजदीक है।"[2] गवाही ही इसके लिए काफी है। सेंट टामस एक्वाइनास को एक उल्लेखनीय अनुभव हुआ था। जब वह नेपल्स में मास (ईसा-याग यज्ञ) कर रहा था तब उसने अपनी कलम और दवात एक ओर रख दी और उसके बाद अपने अपूर्ण ग्रन्थ 'सम्मा थियोलौजिका' का एक शब्द भी आगे नहीं लिखा। उससे अपने इस महान ग्रन्थ को पूर्ण करने को कहा गया तो उसने उत्तर दिया "मैंने उसके दर्शन कर लिए हैं जिसके कारण मैंने जो कुछ लिखा है और उपदेश दिया है, वह मुझे तुच्छ लगने लगा है। जब एक शिष्य ने बगदाद के सूफी रहस्यवादी साधक जुनैद से कहा "मैंने सुना है कि आपके पास दिव्यज्ञान का मोती है आप उसे मुझे दे दीजिए या बेच दीजिए। जुनैद ने उत्तर दिया "मैं वह मोती तुम्हें बेच नहीं सकता क्योंकि तुम्हारे पास चुकाने के लिए उसकी कीमत नहीं है और यदि मैं तुम्हें वह यों ही दे दूं तो तुम उसे बहुत सस्ते में पा रहे होगे और तुम्हें उसके मूल्य का पता ही नहीं चलेगा। मेरी तरह तुम इस (परमात्मा के) समुद्र में सिर के बल कूद पड़ो जिससे कि तुम स्वयं ही उस मोती को पा सको।"[3] जब हम उस वास्तविकता का स्पर्श करते हैं तो हम

> परमात्मा में लीन हो जाते हैं जैसे प्रकाश प्रकाश में हम उठते हैं
> स्वेच्छा से एक होकर।

धार्मिक अनुभूतियां उतनी ही पुरातन हैं, जितना मुस्कराना और रोना प्यार

---

१ कन्फेशन्स १ १. १४

२ कुरान ५ १

३ निकल्सन 'मिस्टिक्स आफ इस्लाम' (६१), पृष्ठ १४

करना और क्षमा करना। परमात्मा की अनुभूति कई ढगो से होती है प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्पर्क द्वारा अच्छाई की पूजा द्वारा और

सूर्यास्त के स्पर्श

फूलो की घंटी की कल्पना किसीकी मृत्यु

यूरोपिडीज के किसी नाटक की सम्मिलित-गानमय समाप्ति

द्वारा। यह अनुभूति जीवन के शनै-शनै उच्चतर होते जाने से लेकर परमात्मा मे भाव-समाधि की तीव्रतम कोटि तक अविराम व्याप्त रहती है।

विचारो की कोई भी गभीर साधना विश्वासो की कोई भी जाच सद्गुणो के अभ्यास का कोई भी प्रयत्न ये सब उन ही स्रोतो से उत्पन्न होते है जिनका नाम धर्म है। मन द्वारा सौन्दर्य शिवत्व और सत्य की खोज परमात्मा की ही खोज है। माता के स्तनो का दूध पीता हुआ शिशु असख्य तारो की ओर निहारता हुआ चकित जगली अपनी प्रयोगशाला मे सूक्ष्मवीक्षण के नीचे जीवन का अध्ययन करता हुआ विज्ञानवेत्ता एकान्त मे ससार के सौन्दर्य और करुणा का चिन्तन करता हुआ कवि तारा-आलोकित आकाश के उच्च हिमालय के या प्रशान्त समुद्र के सम्मुख या इन सबसे बढकर चमत्कार एक ऐसे मनुष्य के सम्मुख जो महान भी है और अच्छा भी श्रद्धापूर्वक खड़ा हुआ एक साधारण मनुष्य इन सबमे एक अस्पष्ट-सी शाश्वत की भावना और स्वर्ग के लिए सवेदना विद्यमान है।

सच्चे धर्मो मे धार्मिक व्यक्ति का धर्म बिलकुल सीधा-सादा होता है जिसमे धर्म विश्वासो धर्म-सिद्धान्तो के मनोभावो या आधिदैविक तत्त्वो की बेड़िया नही होती। यह उस आत्मा की वास्तविकता का प्रतिपादन करता है जो काल और देश के ऊपर व्याप्त है। अपनी व्यावहारिक अभिव्यक्ति के लिए इसकी यह सूक्ति होती है 'जो भी कोई भला करता है वह भगवान का है। न्यायपूर्वक आचरण करना सौन्दर्य से प्रेम करना और सत्य की भावना के साथ विनम्रतापूर्वक चलना यही सबसे ऊचा धर्म है।'[1] यह अनुभव किसी एक जाति या एक जलवायु (प्रदेश) तक ही सीमित नही है। जब भी कभी आत्मा किसी भी देश मे या किसी भी जाति की सीमाओ मे अपने वास्तविक रूप मे आती है, जब भी कभी वह अपनी आन्तरिक गहराइयो मे केन्द्रित हो उठती है जब कभी इसकी अनुभूतिशीलता पर

आत्मस्थान से तुलना कीजिए री। मानवीय आकाक्षाओं और प्रेरणाओं का समन्वय का और उस अभिव्यक्ति तथा आत्मसमर्पण तुम्हारा को बलवत् करता है जो प्रकृति और (प्यार नमन रोशी में तब्ध होती है। वह मानवीय अभिज्ञान को एक आधारभूत के रूप में देखता है और सम्पूर्ण विश्व को एक महत्त्वपूर्ण मनन रूप में अनुभव करना चाहता है। तब भावी के धार्मिक अधिनायकी लोगों में इस प्रकार का धार्मिक अनुभूति बन स्पष्ट दिखाई पड़ती है वह धार्मिक सम्पूर्ण न तो धर्म सिद्धान्तों से जकड़ जाती है और न मनुष्य के रूप में कल्पित पर मा से इन सब देखा कोई धर्म-गुरु (पाप) नहीं हो सकता, किसी केन्द्रयुक्त शिकार हम

अपने आसपास के गम्भीरतर जीवन की धाराओं का प्रतिभावन (रिस्पॉंस) होता है तब यह अपनी सच्ची प्रकृति को प्राप्त होती है और आनन्द के साथ रोमांचकारी उल्लास के साथ पर-आत्मा के जीवन में रहने लगती है। जिसकी चेतना सर्वोच्च आत्मा में बुद्धि और आनन्द के अपार समुद्र में लीन हो गई उसे जन्म देकर माता सफल-मनोरथ हो जाती है, परिवार पवित्र हो जाता है और उससे सारी पृथ्वी पुण्यवती हो उठती है।[१]

जो संसार अधिकाधिक गम्भीर लोकान्त विपत्ति में भटक रहा है उसकी मुक्ति किसी अन्य उपाय द्वारा नहीं हो सकती। मानव-जाति के विस्तृत जगत् की सब प्रमुख आध्यात्मिक सामर्थ्यों का मूल आधार मानव-जाति की वास्तविक आत्मिक एकता की स्वीकृति (मानना) है, एक ऐसी एकता जिसका आधार अपनी प्रकृति की गहराई में अन्य किसी भी अनुभूतिमूलक समाज की अपेक्षा अधिक गम्भीर है। उन व्यावहारिक रोकों का, जो हमें एक-दूसरे से पृथक् करती हैं, अस्तित्व उससे गहरे स्तर पर पहुंचकर समाप्त हो जाता है। यदि हम आध्यात्मिक वास्तविकता में केन्द्रित हो जाएं, तो हम लोभ और भय से, जो हमारे अराजक और प्रतियोगितात्मक समाज के आधार हैं, मुक्ति पा जाते हैं। इसे एक ऐसे मानवीय समाज के रूप में परिवर्तित करने के लिए, जिसमें हर व्यक्ति की भौतिक और मानसिक उन्नति की व्यवस्था हो, हमें अपनी चेतना का विस्तार करना होगा, अपनी चेतनता को बढ़ाना होगा, जीवन के उद्देश्य को पहचानना होगा और उसे अपने कामों में अपनाना होगा। चेतना का यह विस्तार, चेतनता की यह वृद्धि सरल नहीं है। यह जान लेना कि वास्तविकता हमें दिखाई नहीं पड़ रही है और यह कि हम अन्धे हैं, और अपने अन्धेपन में जो कुछ हमें प्रतीत होता है उसीको हम वास्तविकता समझ लेते हैं, आसान है। परन्तु उस अन्धेपन का इलाज करने के लिए और सच्ची दृष्टि पाने के लिए आत्मशुद्धि की आवश्यकता है। हमें चेतना को लोभ और भय के विकार से, अहंकार के मोह से मुक्त करना होगा और जब हममें पवित्रता और एकाग्रता आ जाती है, तब हम परिवर्तित हो जाते हैं। हम वही हो जाते हैं जो कुछ हम देखते हैं और हमारी प्रकृति नई हो जाती है। हम संसार के स्वरूप और प्रयोजन को समझने लगते हैं और इस संसार में उस

अनुभूति पर आधारित हो। यही कारण है कि प्रत्येक युग के भिन्न विश्वासियों (अथवा किसी धर्म को न माननेवालों) में हमें ऐसे अनेक लोग प्राप्त होते हैं जिनमें उच्चतम कोटि की धार्मिक भावनाएं थीं और अनेक बार तो वे अपने समकालीन लोगों द्वारा नास्तिक माने गए थे और कभी-कभी ऐसे लोग सन्त भी माने जाते थे। इस दृष्टि से देखने पर डेमोक्रिटस, [illegible] और स्पिनोज़ा एक-दूसरे के बहुत निकट हैं। —ऐल्बर्ट आइन्स्टाइन लिखित [illegible] (१९३४) पृष्ठ [illegible]

[१] कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपार संवित्सुख सागरेऽस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः।

रीति से जीवन-यापन करने में समर्थ होते हैं जिस रीति से परमात्मा चाहता है कि हम जीवन बिताएं। सम्पूर्ण सृष्टि का उद्देश्य मानव-जीवन का विकास करना है, मनुष्य का पुनर्निर्माण। मानव-प्रकृति को बदले बिना हम मानव-जीवन और मानव समाज को बदल पाने की आशा नहीं कर सकते। रिक्त धारणाओं और साभिप्राय कल्पनाओं के सम्बन्ध में औरंगजेब की चुटीली टिप्पणी के बावजूद कवि के आलोक और दार्शनिक के आदर्श की आवश्यकता है। कवि और दार्शनिक आत्मा की शक्ति देनेवाली शक्तियों के प्रति सचेत रहकर हमारे लिए इस संसार के अन्दर ही एक परिष्कृततर संसार की रचना को सुरक्षित बनाए रखते हैं।

आज हमें आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य के रहन-सहन के ढंग में आमूल परिवर्तन किया जाए। हम भविष्य को केवल उतनी ही सीमा तक निरापद (सुरक्षित) बनाने में सहायता दे पाते हैं जिस सीमा तक हम अपने-आपको बदल पाते हैं। यह आत्मपरिवर्तन स्वतः नहीं हो जाता। यह उस साभिप्राय आदर्श के प्रति प्रतिमान (रिस्पौंस) है जो हमें इतिहास में दिखाई पड़ता है। यह आत्म की वास्तविकता के पक्षवर्ती होता है। यही धर्म का आचरण है। भारत के रहस्यवादी धर्म की ही सब विश्व का धर्म बनने की सम्भावना है जो सब मनुष्यों को राष्ट्रीय सीमाओं के पार भी एक साझे केन्द्र की ओर खींच सकेगा। भारत के इस रहस्यवादी धर्म का कथन है कि आध्यात्मिक वस्तुएं वैयक्तिक हैं और हमें उन्हें अपने जीवन में प्रतिबिम्बित करना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम वास्तविकता को प्राप्त करने के लिए सांसारिक विषयों से विमुख हो जाएं और नई ऊर्जा तथा संकल्प के साथ इतिहास के जगत् की ओर लौट पड़ें।

२ | धर्म की प्रेरणा और नई विश्व-व्यवस्था

धर्म के प्रति विरोध—धर्म द्वारा मैत्री—व्यक्ति की प्रकृति (स्वभाव)—चिन्तन बनाम कर्म—नई व्यवस्था—प्रजातन्त्र की गत्वरता (गतिशीलता)

धर्म के प्रति विरोध

यदि संसार अपनी आत्मा की खोज में है, तो धर्म जिस रूप में कि वे हम तक पहुंचे हैं हमें उस आत्मा की प्राप्ति नहीं करा सकते। वे मानवता को मिलाकर एक करने के बजाय उसे विरोधी दलों में विभाजित करते हैं। वे जीवन के सामाजिक पक्ष पर बल न देकर वैयक्तिक पक्ष पर बल देते हैं। वैयक्तिक विकास के मूल्यों का अतिरंजन करके वे सामाजिक भावना और कल्पना को निरुत्साहित करते हैं। वे कर्म की अपेक्षा चिन्तन पर और व्यवहार की अपेक्षा सिद्धान्त पर कहीं अधिक बल देते हैं। अपनी परमात्मा के राज्य की धारणाओं द्वारा वे लोगों को इस पृथ्वी पर अपेक्षाकृत अच्छा जीवन बिताने के प्रयत्नों से विमुख कर देते हैं। ऐसा लगता है कि उनकी आत्मिक शक्ति समाप्त हो चुकी है और अब वे निर्जीव खोल-भर शेष रह गए हैं जो एक ऐसे सत्यार्थ पर निर्भर हैं जिसे वे पुनरुज्जीवित नहीं कर सकते। वे अपनी निष्प्राणता को उन विधियों और आचारों के पालन का आग्रह करके छिपाना चाहते हैं जिन्हें भावुकता और प्रथाओं ने बहुत अनुचित महत्त्व दे रखा है। वे बलिदान की उन प्रेरणाओं के प्रति जो जागरित हो चुकी हैं और सेवा के उस आवेग के प्रति जो अवसर पाने के लिए तरस रहा है निरपेक्ष जान पड़ते हैं। कुल मिलाकर वे वर्तमान अस्त-व्यस्त दशाओं को बदलने के लिए उत्साह जगाने के बजाय वर्तमान दशाओं को ही उचित ठहराते हैं। मार्क्स का विश्वास है कि धर्म एक धर्महीन समाज की उन्नति के मार्ग में रोड़ा है और और नवीन जगत् की बन्धनमुक्त मेधाएं धर्म की छमक से छुटकारा पा लेंगी क्योंकि उन्हें यह अनुभव हो जाएगा कि धर्म का दृष्टिकोण जीवन के अर्थ प्रयोजन और उद्देश्य के वैज्ञानिक सत्य का मिथ्याकरण है। यह कहा गया है कि "जिस समाज का सदस्य पूंजीदार है उसमें उस समाज की ओर विशेष धर्म-भेद और धर्म-सम्पर्कों का कोई चिह्न

भी न होगा, जनमत के परिणामस्वरूप धर्म और अन्धविश्वास अपनी मौत आप मर जाएंगे। अन्धविश्वास के रूप में धर्म के इस दृष्टिकोण का बहुत विस्तृत रूप से प्रचार किया गया है। "१९३७ के मई मास तक सोवियत संघ में कोई चर्च बाकी न बचेगा। इसलिए परमात्मा को 'पंचायती समाजवादी गणतन्त्रों के संघ' (रूस) की सीमा से मध्ययुगीन अवशेष के रूप में निर्वासित कर दिया जाएगा।"[1] २३ अगस्त १९३९ को रूस और जर्मनी के बीच मित्रता और अनाक्रमण का करार होने के बाद रूस में परमात्मा-विरोधी आन्दोलन के मन्त्री ने घोषणा की थी कि "रूसी-जर्मन करार से नास्तिकवादी प्रचार में सुविधा हो जाएगी, क्योंकि हिटलर और उसकी सरकार ईसाइयत की वैसे ही शत्रु हैं जैसी कि सोवियत सरकार।"[2] अब क्योंकि जर्मनी और रूस एक-दूसरे से लड़ रहे हैं और ग्रेट ब्रिटेन जो जर्मनी की धर्महीनता के विरुद्ध जिहाद का नेतृत्व कर रहा है, रूस का मित्र बन गया है, परमात्मा की दशा कुछ नाजुक-सी हो गई है। राजनीतिक परिवर्तनों के कारण हम यह मानने लगे हैं कि जर्मनी अनीश्वरवादी है और रूस ईश्वरभक्त।[3]

धर्म द्वारा मैत्री

जिस प्रकार संसार विभिन्न जातियों और राष्ट्रों में बंटा हुआ है, उसी प्रकार विभिन्न धर्मों में भी। पूर्व और पश्चिम, अरब और यहूदी, हिन्दू और ईसाई, परस्पर कोई भी समझौता कर पाने में असमर्थ हैं। यह समझा गया था कि एक परमात्मा में विश्वास के फलस्वरूप शान्ति और एकता हो सकेगी, परन्तु उसकी इस

---

१ एम. बुखारिन 'दि ए. बी. सी. ऑफ कम्युनिज्म' ([illegible])

२ १२ मई १९३९ का आब्ज़र्वर

३ जब ग्रेट ब्रिटेन यूरोप की केन्द्रीय शक्तियों—जर्मनी और इटली—से मित्र-सम्बन्ध बनाए रखने के लिए उत्सुक था, तब [illegible] का वर्णन करते हुए [illegible] ने कहा था कि वह 'एक असाधारण अधिकारवादी राज्य है, परन्तु उसमें न तो धार्मिक या आर्थिक स्वतन्त्रता को और न दूसरे यूरोपीय राष्ट्रों की सुरक्षा को ही किसी प्रकार का भय है।' हिटलर को एक ईश्वरभीरु कैथोलिक [illegible] के रूप में प्रस्तुत किया गया था, जो कम्युनिज्म की [illegible] था, जिसने "गिरजाघरों को तोड़ दिया है, पादरियों की हत्याएं की हैं और [illegible] का राष्ट्रीयकरण कर दिया है" [illegible] करने खड़ा हुआ था। १९३९ में [illegible] ने [illegible] में कहा था "[illegible] से भी अधिक [illegible] कि अब रूस में [illegible] [illegible] स्थापित हुआ था। फिर भी [illegible] हजारों [illegible] और पादरी [illegible] में [illegible] या [illegible] की [illegible] में [illegible] होकर बेगार कर रहे हैं।" जब २२ जून १९४१ को हिटलर ने रूस पर आक्रमण किया तो '[illegible] हुए [illegible] फिर [illegible] [illegible] के [illegible] में फिर [illegible] पर आ पहुंचे और तो और, क्या हम अपनी आंखों पर भरोसा कर सकते थे कि [illegible] (क्रिस्ताफर) फिर अपने पुराने स्थान पर [illegible] पाया गया था और [illegible] ([illegible]) [illegible] ने १९ [illegible] में [illegible] करवाई थी [illegible] [illegible] (१९४२), पृष्ठ ८४

प्रकार की व्याख्या के कारण कि सब लोगों को एक ही ढंग से विश्वास और बर्ताव करना चाहिए, उससे कहीं अधिक उत्पात हुआ है जितना कि राजाओं की महत्त्वाकांक्षाओं या जातियों की शत्रुता के कारण हुआ है। धर्म का उद्देश्य भले ही सार्वभौमता हो, किन्तु धर्म स्थानीय और विशिष्ट होते हैं और वे मैत्री के विकसित होने में बाधा डालते हैं। यहां तक कि ईसाई चर्चों को भी मिलाकर एक ही धार्मिक समाज के रूप में समन्वित करने के प्रयत्न भी असफल रहे और विभिन्न सम्प्रदाय अब भी अपनी विशिष्ट औपचारिकताओं और कर्मकांडों का आग्रह बनाए हुए हैं।[1]

परन्तु हिन्दुत्व समझौते और सहयोग के लिए प्रयत्न का प्रतिनिधित्व करता है। यह एक ही सर्वोच्च वास्तविकता तक पहुंचने और उसे प्राप्त करने के प्रयत्नों की विविधता को स्वीकार करता है। इसकी दृष्टि में धर्म का सार उसे ग्रहण कर पाने में निहित है जो शाश्वत है और सब वस्तुओं में व्याप्त है। इसकी प्रामाणिकता ऐतिहासिक घटनाओं पर निर्भर नहीं है। हमारे अन्दर दिव्यता का जो मूल सत्य विद्यमान है, उसीको विभिन्न धर्म-सिद्धान्त विभिन्न काल्पनिक रूप देकर प्रस्तुत करते हैं। सत्य के विषय में हमारा धर्म-ग्रहण प्रतीक द्वारा निर्धारित रीतियों से ही सूत्रबद्ध होता है। क्योंकि केवल वे ही प्रतीक, जो शताब्दियों तक प्रयोग में आते रहने के कारण घिस-घिसकर चिकने हो गए हैं, हमें 'दिव्य' (ब्रह्म) का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सचेष्ट कर सकते हैं। प्रतीक हृदय, विचार और मन द्वारा गढ़ी हुई धारणाएं हैं।[2] हमारा काम उनके बिना नहीं चल सकता, क्योंकि वे ही वे साधन हैं जिनके द्वारा हम समय के रूपों के अधीन रहते हुए भी शाश्वत का विचार कर सकते हैं। इस परिवर्तनशील संसार के रूपों के अधीन रहकर परमात्मा के परिवर्तन-शून्य रहस्यों का विचार कर सकते हैं। कविता, पुराण-कथाओं और प्रतीकवाद का

---

१ रूसो लिखता है : 'समाज की दृष्टि से विचार करने पर धर्म को, चाहे वह सामान्य हो या विशिष्ट, दो भेदों में बांटा जा सकता है : एक तो मनुष्य का धर्म और दूसरा नागरिक का धर्म। इनमें से पहला, जिसके न कोई मन्दिर होते हैं, न वेदियां, न धार्मिक विधियां, और जो विशुद्ध रूप से सर्वोच्च परमात्मा की पूजा-पद्धति तक और नैतिकता के शाश्वत कर्तव्यों तक ही सीमित रहता है, ईसा द्वारा उपदिष्ट धर्म है, विशुद्ध और सादा सच्चा आस्तिकवाद, जिसे प्राकृतिक दिव्य अधिकार या कानून कहा जा सकता है। दूसरा वह है, जो किसी एक देश में संहिताबद्ध होता है, जो उस देश को अपने देवता अपने संरक्षक अधिष्ठाता प्रदान करता है; इसके अपने धर्म-सिद्धान्त होते हैं, अपनी विशिष्ट रीतियां होती हैं और कानून द्वारा नियत इसकी अपनी बाह्य पूजा-पद्धति होती है। जो एक राष्ट्र इसका अनुयायी होता है, उसके अतिरिक्त शेष सारा संसार इसकी दृष्टि में नास्तिक, विदेशी और बर्बर होता है; मनुष्य के कर्तव्य और अधिकार केवल इसकी अपनी वेदियों तक ही पहुंच पाते हैं।' —'सोशल कान्ट्रैक्ट', पाठ ४

२ हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तः। तुलना कीजिए, ऋग्वेद १-६१-२। हृदा मनसा मनसा साथ ही, १०-१७७-२

प्रयोजन धार्मिक जागरण और विकास के लिए राजमार्ग के रूप में सेवा करना है। सब धर्म-विश्वास ससीम मन द्वारा असीम को ग्रहण करने के प्रयत्न हैं। जहां तक वे अन्तिम सत्य तक पहुंचने में हमारी सहायता करते हैं, वहां तक वे मूल्यवान हैं। वे विभिन्न इसलिए हैं क्योंकि वे लोगों की विभिन्न आवश्यकताओं के, उनकी जाति और इतिहास के, उनके लिंग और स्वभाव के अनुकूल बने हैं। परन्तु वे सब परीक्षणात्मक[1] हैं और इसलिए असहिष्णुता को किसी प्रकार उचित नहीं ठहराया जा सकता। धर्म का उन नियत बौद्धिक धारणाओं के साथ घपला नहीं किया जाना चाहिए जो सबकी सब मन द्वारा निर्मित हैं। जो भी कोई धर्म अन्तिम और परम होने का दावा करता है, वह अपने मतों को शेष संसार पर थोपना चाहता है और दूसरे लोगों को अपने प्रमापों (स्टैंडर्ड) के अनुसार सभ्य बनाना चाहता है। जब दो या तीन विश्वास-प्रणालियां (धर्म) सब लोगों को अपने ढांचे के अन्दर ले आने की कोशिश करती हैं, तो उनमें टकराव अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि संसार में केवल एक ही 'परम' की—वह भी यदि हो तो—गुंजाइश है। इन विरोधी निरंकुशताओं (धार्मिक तानाशाहियों) की हास्यास्पदता हमारी दृष्टि में इसलिए नहीं आती, क्योंकि हम इनके साथ बहुत अधिक परिचित हैं। जब धार्मिक जीवन का ऐक्य के भाव और आविर्भूत सत्य की स्वीकृति के साथ मिश्रण कर दिया जाता है, तब उस धर्म में बाहरी यन्त्रजात (मशीनरी) प्रमुख हो जाता है। पुरोहित या धर्म-सम्प्रदाय भावना का स्थान ले लेता है और सब लोगों से एक ही बात की मांग की जाती है कि वे उस मत के विश्वास में निष्ठा रखें। यदि आप उस मत को मानते हैं और उस समुदाय में सम्मिलित हो जाते हैं, तो आपको सदा के लिए कुछ विशेषाधिकार और कुछ विमुक्तियां (छूटें) प्राप्त हो जाती हैं। जीवन की तुलना में यह यन्त्रजात बहुत सीधा सादा है, इसकी क्रिया बहुत स्पष्ट है और इसके परिणामों की गणना बहुत ही सुनिश्चित रीति से जनगणना की रिपोर्टों और आंकड़ों द्वारा की जा सकती है, परन्तु इसका प्रभाव हमारे स्वभाव की केवल बाहरी सतह की ओर ही संचालित रहता है। यदि हम यह समझते हैं कि दूसरों को क्षति पहुंचाकर भी बल-प्रयोग द्वारा हमें अपने धर्म का प्रचार करने का इसलिए अधिकार है कि हमारा धर्म अन्य धर्मों से ऊंचा है, तो हम नैतिक आत्मविरोध के दोषी हैं, क्योंकि

---

१. एक सुपरिचित श्लोक में कहा गया है: "हे भगवान्, तुम अरूप हो और मैंने अपने ध्यान में तुम्हें रूप दे दिया। हे अखिल जगत् के गुरु, तुम अवर्णनीय हो, पर स्तुति से मैंने इस सत्य का खण्डन कर दिया है। तीर्थयात्रा करके मैंने तुम्हारी सर्वव्यापिता से इनकार किया। हे जगदीश्वर, मेरे इन दोषों को क्षमा करना।"

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत्कल्पितं
स्तुत्याऽनिर्वचनीयताऽखिलगुरो दूरीकृता यन्मया।
व्यापित्वं च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना
क्षन्तव्यं जगदीश तद्विकलतादोषत्रयं मत्कृतम्।

अत्याचार, अन्याय और क्रूरता तो आध्यात्मिक बुद्धिमत्ता और उच्चता के ठीक विपरीत हैं। हिन्दुत्व का कोई एक ऐसा नियत धर्म-विश्वास नहीं है, जिसपर इसका जीवन या मरण निर्भर हो; क्योंकि इसको यह विश्वास हो चुका है कि भावना धर्म-विश्वासों से कहीं बड़ी सिद्ध होगी। हिन्दू की दृष्टि में प्रत्येक धर्म सच्चा है, पर केवल तभी जब कि उसके अनुयायी सचाई और ईमानदारी से उसका पालन करते हों। उस दशा में वे धर्म-विश्वास से आगे बढ़कर अनुभव तक और रूप से आगे बढ़कर सत्य के दर्शन तक पहुंच जाएंगे। उदाहरण के लिए, शंकराचार्य ने पूजा की छः शास्त्रसम्मत प्रणालियों की बात कही है। उसे एक ही सत्य की विभिन्न अभिव्यक्तियों का व्यापक अनुभव था। इब्न अल अरबी लिखता है: 'मेरा हृदय अब प्रत्येक रूप धारण करने में समर्थ बन गया है; हिरनों के लिए यह चरने का मैदान है, और ईसाई मठवासियों के लिए मठ है, और मूर्तियों के लिए यह मन्दिर है, और हाजियों के लिए यह काबा और टोरा की मेज और कुरान की पुस्तक है। मैं तो प्रेम के धर्म को मानता हूं, फिर उसके ऊंट चाहे जिधर भी ले जाएं। मेरा धर्म और मेरी श्रद्धा ही सच्चा धर्म है।'[1] राम कृष्ण भी कई प्रकार के विश्वासों और पूजा-विधियों का पालन करते थे। हिन्दुत्व का धार्मिक मूल्य इस तथ्य में निहित है कि यह आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के अन्वेषकों को हर प्रकार का सहारा देता है और उन सबको उस एक ही सर्वश्रेष्ठ सत्य तक पहुंचाता है, जिसे अनेक रूप से अभिव्यक्त किया जाता है। यद्यपि धर्म-विश्वास अनेक और पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु परम्परा और जीवन की शैली एक ही है। जब हम धर्म-सिद्धान्तों और परिभाषाओं को लेकर विवाद करते हैं, तब हम विभक्त हो जाते हैं। परन्तु जब हम प्रार्थना और ध्यान के धार्मिक जीवन का अवलम्बन करते हैं, तो हम परस्पर एक-दूसरे के निकट आ जाते हैं। प्रार्थना जितनी अधिक गहरी होती है, व्यक्ति 'सर्वोच्च' (ब्रह्म) के ज्ञान में उतना ही अधिक लीन हो जाता है। अहंभाव की कठोरता द्रवित हो जाती है, धार्मिक मतों की परीक्षणात्मकता प्रकट हो जाती है और सब आत्माओं के एक परम सत्ता में सुदीर्घ केन्द्रीकरण (फोकसिंग) का बोध हो जाता है। हम सब धार्मिक अन्वेषणा की सारभूत एकता को समझ लेते हैं और विभिन्न नामपदों (लेबलों) के नीचे विद्यमान एक-से समान अनुभव को पहचान लेते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव उस 'सर्वोच्च' (ब्रह्म) के अन्तर्गत हो जाते हैं, जिसका प्रतीक 'ओ३म्' है और उनके भक्त भी

---

१ निकल्सन: 'मीस्टिक्स ऑफ इस्लाम' (१९१४), पृष्ठ १०५.

२ जैसे वर्षा का जल समुद्र में पहुंच जाता है, वैसे ही सूर्य, शिव, गणपति, विष्णु और शक्ति के पुजारी मुझ तक पहुंच जाते हैं।

सौरा शैवाश्च गाणेशा वैष्णवाः शक्तिपूजकाः
मामेव प्राप्नुवन्तीह वर्षापः सागरं यथा।

उस सर्वोच्च की ही पूजा कर रहे होते हैं।[1] यद्यपि सब रास्ते उसी एक ऊंचाई तक ले जाते हैं, फिर भी प्रत्येक मनुष्य अपनी ही पार्श्वभूमि के किसी स्थान से चलना प्रारम्भ करना चाहता है। हम सब परम्परा की सन्तान हैं और इतिहास की धारा में हमारा एक सुनिश्चित स्थान है। हिन्दुत्व किसी एक धर्म-विश्वास या एक धर्मग्रन्थ या एक पैगम्बर या संस्थापक के साथ नहीं जुड़ा हुआ है अपितु यह तो एक निरन्तर नवीन होते हुए अनुभव के आधार पर सत्य की निरन्तर और आग्रहपूर्ण खोज है। हिन्दुत्व परमात्मा के विषय में निरन्तर विकासमान मानवीय विचार है। इसके पैगम्बरों और ऋषियों का कोई अन्त नहीं है और न इसके सिद्धान्त ग्रन्थों की ही कोई सीमा है। यह सब नवीन अनुभवों का और सत्य की नवीन अभिव्यक्तियों का स्वागत करता है। प्रकाश चाहे वह किसी भी दीप से क्यों न निकल रहा हो अच्छा है जैसे गुलाब सुन्दर ही होता है चाहे वह किसी भी उद्यान में क्यों न खिला हुआ हो।

हमें धर्म जिसे धर्म-सिद्धान्तों का मानने और विधि-विधानों के पालन से अभिन्न समझा जाता है और आध्यात्मिक जीवन में जो चेतना के परिवर्तन का आग्रहकर्ता है, जिसके लिए अन्य सब वस्तुएं साधनमात्र हैं भेद करना होगा। ईसाई प्रतीक का प्रयोग करते हुए कहा जाए, तो धर्म का उद्देश्य है (ईश्वर के) पुत्र का शाश्वत पुनर्जन्म जिसके द्वारा पृथक्तावादी स्वार्थपरता का प्रायश्चित्त हो जाता है। यदि संघटित धर्म मानव-जाति का इसके जीवन और समाज का रूपान्तर नहीं कर पाया तो इसका कारण केवल यह है कि उसने इस बात पर पर्याप्त ज़ोर नहीं दिया कि उसका एकमात्र लक्ष्य आध्यात्मिक अस्तित्व के लिए मार्ग खोल देना है। हम मानव प्रकृति को विचारों द्वारा केवल उसकी ऊपरी सतह छूकर परिवर्तित नहीं कर सकते अपितु इसके लिए तो हमें प्रकृति में ही आमूल परिवर्तन करना होगा। सब धर्मों का सामान्य लक्ष्य आध्यात्मिक जीवन है। उनका परस्पर मतभेद लक्ष्य के विषय में नहीं है अपितु केवल प्रगति की उस मात्रा में है जो वे अपने क्रम या अधिक प्रयासों के सहारे कर पाते हैं। यदि हम किसी एक धर्म की तुलना दूसरे धर्मों से करें तो हमें पता चलेगा कि अन्तर केवल मन्त्रों और अनुष्ठानों में ही है। यदि हम धर्म सिद्धान्तों और धर्म-विश्वासों की तह में गहराई तक जाएं तो दिखाई पड़ेगा कि सब धर्म उस एक अथाह स्रोत से बल प्राप्त कर रहे हैं। जब कोई ईसाई यह दावा करता है कि उसने ईसा के साक्षात् दर्शन किए तो हिन्दू उसे वास्तविक मानने से इनकार नहीं करता। इसी प्रकार वह उस बौद्ध भिक्षु के आश्वासनों पर भी अविश्वास नहीं करता जो मध्यम मार्ग का अवलम्बन करता है। वह मुसलमान के संसार के सर्वोच्च स्वामी की स्वेच्छापूर्वक शरण में जाने के कथन का भी खंडन नहीं करता।

---

[1] अकारो विष्णुरुद्दिष्ट, उकारस्तु महेश्वर
मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयो मत।

आधारभूत एकता को स्वीकार कर लेने के कारण समूची मानव-जाति के कल्याण के लिए एक साझे आधार पर एक निश्चित सीमा तक परस्पर सहयोग सम्भव हो सकना चाहिए। धर्मविज्ञान-सम्बन्धी प्रतिपादन के विषय में भी अब विस्तृततर एकरूपता की सम्भावना है। राष्ट्रीय राज्यों की भांति बड़े-बड़े धर्म भी उन दिनों संसार के सीमित क्षेत्रों में उत्पन्न और विकसित हुए जिन दिनों पूर्ण मानव-जाति के साथ सम्पर्क स्थापित कर पाना कठिन था। किन्तु अब विज्ञान और व्यापार के प्रभाव के कारण एक नई विश्व-संस्कृति रूप धारण कर रही है। अब सब धर्म अपने भावों को नई बोली में अभिव्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं और इसीलिए एक-दूसरे के निकट आते जा रहे हैं। धर्मसम्बन्धीय सिद्धान्तों का खण्डन उतना नहीं किया जाता जितनी कि उनकी उपेक्षा कर दी जाती है और धर्मों के उन्हीं सार्वभौम तत्त्वों पर बल दिया जाता है जिनपर कि सब सहमत हैं। आगामी वर्षों में यह प्रक्रिया और अधिक तीव्र गति पकड़ जाएगी और सब धर्मों का धीरे-धीरे समन्वीकरण विश्व धर्म के रूप में कार्य कर सकेगा।

सहिष्णुता का सिद्धान्त हिन्दुओं का एक स्वीकृत सिद्धान्त रहा है। अशोक और उसके उत्तराधिकारी दशरथ ने नास्तिक आजीवकों को अपने यहां प्रश्रय दिया था। मनु का कथन है कि हमें भिन्न-विश्वासियों की प्रथाओं का भी आदर करना चाहिए।[1] याज्ञवल्क्य भिन्न-विश्वासियों की प्रथाओं को मान्यता देता है।[2] संक्षेप में शासकों का यह कर्तव्य बताया गया था कि वे सब धर्मों के अनुयायियों या किसी भी धर्म को न माननेवालों सभी की रक्षा करें। मुस्लिम इतिहासकार खाफी खां लिखता है: उसने (शिवाजी ने) यह नियम बना दिया था कि जहां कहीं भी उसके अनुयायी लूटमार करने पहुंचें, वहां वे किसी मस्जिद को या खुदा की किताब (कुरान) को या किसीकी स्त्री को किसी प्रकार की हानि न पहुंचाएं। जब कभी पवित्र कुरान की कोई प्रति उसके हाथ में आ जाती थी तो वह उसे आदर से रखता था और अपने किसी मुसलमान अनुचर को दे देता था। जब उसके आदमी हिन्दू या मुसलमान स्त्रियों को कैद कर लेते थे और उनकी रक्षा के लिए उनका कोई साथी उनके पास न होता था तो वह स्वयं तब तक उनकी देख-रेख करता था जब तक उनके सम्बन्धी आकर धन देकर उन्हें छुड़वाकर न ले जाएं।[3]

---

१ ४ ६१
२ १ १ २
३ इस प्रकार गवाही एक ऐसे विरोधी गवाह ने दी है, जिसने शिवाजी की मृत्यु का वर्णन इन शब्दों में किया है: 'उस दिन (५ अप्रैल १६   को) वह काफिर नरक को गया।' हाल ही में हैदराबाद के निज़ाम द्वारा की गई एक प्रशंसनीय घोषणा भी इस भावना के अनुकूल है: "मेरे राज्य में विभिन्न धर्मों और जातियों के लोग रहते हैं और उनके पूजा-स्थानों की रक्षा करना एक लम्बी अवधि से मेरे राज्य के सुनिश्चित का एक अंग रहा है।"

प्राणों का सामाजिकीकरण करने में सिर खपाने की क्या आवश्यकता है? हम तो मनुष्यों का समाजिकीकरण करते हैं।"[1] मानवीय व्यक्ति में से उसका अपना व्यक्तित्व उसकी अभिव्यक्ति और उसका आन्तरिक अतीत निकालकर उसे रिक्त कर दिया गया है। उसे एक निस्तेज बहता हुआ चटपट विश्वास कर लेनेवाला प्राणी मान लिया गया है जो मस्तिष्क और अपनी इच्छा से शून्य होकर, उन लोगों द्वारा पशुओं की भाँति हाँका जाता है या मोम की भाँति ढाल लिया जाता है जिन्होंने अपने-आपको उसका शासक बनने के लिए चुन लिया है। यदि स्वाधीनता हमारे अपने वास्तविक आत्मरूप में रहने की स्वतन्त्रता का ही नाम है तो हमसे हमारी स्वाधीनता छीन लेने की यह अधीरता मनुष्य के पतन की द्योतक है। मानव आत्मा का युद्ध के सम्मुख यह आत्मसमर्पण हमें ऐसे पशुओं की जाति बना डालता है जिनमें बुद्धि है। पशु-जगत् में व्यष्टि का महत्त्व जाति की अपेक्षा कम होता है।

स्वाभाविक अधिकार और अन्त करण की स्वाधीनता ऐसे 'उदार मोह' घोषित किए गए हैं जिनकी आड़ में पूँजीवादी व्यवस्था डेरा जमाए हुए है। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का सम्बन्ध मानवता के सामाजिक तत्त्व से है। कोई भी व्यक्ति तब तक अच्छा नहीं हो सकता जब तक कि वह सामाजिक ढाँचा (सरचना) अच्छा न हो जिसका कि वह अंग है। धर्म की इस स्थापना के कि हम तब तक समाज को नहीं बदल सकते जब तक कि मनुष्यों को न बदल डालें विरोध में मार्क्स यह विचार प्रस्तुत करता है कि जब तक हम समाज को न बदल डालें तब तक हम मनुष्यों को नहीं बदल सकते।

हम ऐसे ससार में रहते हैं, जिसमें यन्त्रों और प्राकृतिक विज्ञान का प्रभुत्व है। मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में यन्त्रात्मक दृष्टिकोण अधिक ग्राह्य हो गए हैं। मनोविश्लेषण मानव-प्राणियों को इस रूप में देखता है कि वे अपने अवचेतन मनोवेगों के जिन्हें चिकित्सक लोग नये रूपों में बदल सकते हैं, असहाय दास हैं। व्यवहारवाद (बिहेवियरिज़्म) यह मानता है कि मानव-शिशु का मन पूर्णतया एक खाली कागज़ की तरह होता है जिसपर हम चाहे जो कुछ लिख सकते हैं। मानवीय दुष्टता का कारण दूषित ग्रन्थियों और अशुद्धिमत्तापूर्ण प्रतिबन्धों को बताया जाता है। मार्क्सवादियों का विश्वास है कि आत्मा पूर्णतया परिस्थितियों की उपज है विशेषत आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों की। इसके विचार करने मूल्यांकन करने और निश्चय करने के काम इसकी स्वतन्त्र और स्वत स्फूर्त गतिविधि की अभिव्यक्ति नहीं हैं अपितु उस सामाजिक परिवेश (आसपास की परिस्थितियों) की मनोवैज्ञानिक गौण उपज हैं जिसमें यह रह रही होती है। मार्क्स ने लिखा है "मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती अपितु इसके विपरीत मनुष्यों का सामा

---

१ रमेन रोलाँन्ड, जेम्स आफ रिलूजन

पहुंच पाए और जो समाज राज्य कानून और व्यक्ति के विषय में तोतों की तरह रटे हुए विचारों को दुहराते चले जाते हैं। हम मानवीय उद्यम के सच्चे महत्त्व से पूर्णतया अनभिज्ञ रहते हैं और मानसिक दृष्टि से उन अविकसित प्राणियों की दशा तक पहुंच जाते हैं जो सनसनी (रोमांच) के लिए लालायित रहते हैं और अस्पष्ट तथा किसी ऐसी वस्तु के लिए असन्तुष्ट और उत्सुक रहते हैं जिसे वे दोष दे सकें और घृणा कर सकें। जान-बूझकर मनुष्यों के जीवनों को दरिद्र बनाया जा रहा है। पारिवारिक स्नेह, घर का प्रेम अपनों से बड़ों के प्रति आदर इस सब बातों को मानसिक दासता का ही एक रूप बताकर, वानर-युग की उपांग (एपेंडिक्स) जैसी प्रारम्भिक वस्तु जिससे कि हमें मुक्त किया ही जाना चाहिए, बलात् रद्दी करार कर दिया जाता है। हमें इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता है कि यदि आवश्यकता पड़े तो हम अपने माता-पिता तक के साथ हिंसात्मक पाशविक उपायों का प्रयोग करें। हमें सिखाया जाता है कि हम यह विश्वास करें कि इतिहास अब अवश्यम्भावी है उसका प्रतिरोध करना मूर्खता है और मनुष्य महत्त्वहीन है। हम इतिहास का निर्माण नहीं करते अपितु इतिहास के द्वारा हमारा निर्माण होता है। जन-समूह को अपने अधीन करने के लिए नेता-गण विवश करने उत्तेजित करने और प्रभावित करने के सब आधुनिक साधनों का प्रयोग करते हैं। यह भावना साधारणतया लोगों में घर करती जाती है कि विकास की प्रवृत्तियों का प्रतिरोध करने से कोई लाभ नहीं है ऐसे आन्दोलन का विरोध करना व्यर्थ है जो परिस्थितियों का तर्कसंगत परिणाम है हमें उन तथ्यों के सम्मुख सिर झुकाना ही चाहिए जिनसे बचने का कोई उपाय नहीं है। भाग्य के पुराने सिद्धान्त को ही नया भला-सा लगनेवाला जामा दे दिया गया है और आधुनिक तकनीकों से उसका प्रचार किया जा रहा है। व्यावहारिक विज्ञान और तकनीक विज्ञान का जोकि बलात् प्रकृति के ऊपर मानवीय तर्कबुद्धि की विजय के परिणाम हैं सामान्य मनुष्य पर ठीक उलटा ही प्रभाव इस रूप में हुआ है, कि इस विज्ञान का परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य यन्त्रों का दास बन गया है। मानवीय चेतना का यन्त्रीकरण हो गया है और मानव-आत्मा में नई स्वत चालितताएं (ओटोमेटिज्म) उत्पन्न हो गई हैं। हममें से अधिकांश लोग अपने जीवन का कोई भी ऊंचा उद्देश्य बनाए बिना जीते हैं और बनाना भी नहीं चाहते। हम दिन के बाद दिन जीवन बिताते जाते हैं और अन्त में वैसे ही लुप्त हो जाते हैं, जैसे वर्षा के बुलबुले फूटकर पानी में लुप्त हो जाते हैं। जीवन निरर्थक सनसनी और अन्तहीन बकबक से भरा हुआ चलता जाता है। हममें से अधिकांश को ऐसा अनुभव होता है मानो हम पिंजड़े में बन्द पशु हैं, जिन्हें इस बिलकुल बुद्धिहीन संसार में पूर्णमहत्त्वहीनता को स्वीकार कर लेने के लिए बना लिया गया है।

क्या यही है स्वतन्त्रता की पवित्र आनुवंशिक सम्पत्ति (बपौती)? स्वतन्त्रता

उन शब्दों में से एक है जिसका प्रयोग करना तो सरल होता है किन्तु परिभाषा कर पाना कठिन। वर्तमान महायुद्ध में दोनों ही पक्षों के राष्ट्र यह दावा करते हैं कि वे स्वतन्त्रता और शान्ति के लिए लड़ रहे हैं। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की घोषणा है कि वह साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारत की स्वतन्त्रता के लिए अहिंसात्मक लड़ाई लड़ रही है। हमारे कामगरों का विश्वास है कि जब वे अधिक वेतन, सामूहिक स्वामित्व (भागीदारी) मद्य-निषेध और मन्दिर-प्रवेश की मांग करते हैं तो वे स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ रहे होते हैं। स्वतन्त्रता भी पक्षी के पंख या विस्तारवत् जैसी एक अभिव्यक्ति मालूम होती है जिसमें प्रायः जो कुछ चाहें रख सकते हैं। एक राजनीतिक स्वतन्त्रता होती है एक जाति की दूसरी जातियों द्वारा पराजय और उनके प्रभुत्व से स्वतन्त्रता। एक सांविधानिक स्वतन्त्रता होती है जनता की किसी एक वर्ग या एक अधिनायक (डिक्टेटर) के अत्याचार से स्वतन्त्रता। वर्ग विशेषाधिकार मानवीय स्वतन्त्रता के विरुद्ध अपराध है। एक आर्थिक स्वतन्त्रता भी है, अर्थात् दरिद्रता या अधिक दबाव के कष्ट से स्वतन्त्रता। एक वैधानिक स्वतन्त्रता होती है अर्थात् कानून का भरोसा। जो कानून में संगत रखते हैं या हमारी रक्षा करते हैं उन्हें हमारी प्रत्यक्ष या परोक्ष सहमति प्राप्त है और जब तक उन कानूनों को रद्द न कर दिया जाए, तब तक समाज में छोटे-बड़े सबको उनका पालन करना चाहिए। यह कानून बनाया गया था कि "किसी भी स्वतन्त्र मनुष्य को न तो पकड़ा जाएगा न कैद किया जाएगा न उसकी सम्पत्ति छीनी जाएगी न उसे विधि-बहिष्कृत (भगोड़ा घोषित) किया जाएगा न देश से निर्वासित किया जाएगा और न किसी प्रकार से नष्ट ही किया जाएगा।" शारीरिक दासता से मुक्ति भी स्वतन्त्रता है। एक सामाजिक स्वतन्त्रता भी होती है। परन्तु ये सब की सब केवल साधन हैं, अपने-आपमें कोई लक्ष्य नहीं हैं। ये मानव-आत्मा की गम्भीरतम ऊर्जाओं को भली भांति अनुभव करने में सहायता देने के लिए आवश्यक सामग्री हैं। सामाजिक संगठन का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति की आत्मिक स्वतन्त्रता को मानवीय सृजनशीलता को बढ़ाना है और कष्टदायक कानूनों और प्रथाओं द्वारा रोक-थाम के बिना उसे यथेच्छ रीति से सोचने, अनुभव करने और आराधना करने में सहायता देना है। ऐसे अवसर आ सकते हैं जब हमसे कहा जाए कि न्यायोचित आर्थिक व्यवस्था के लिए अपना अधिकार और जायदाद का परित्याग कर दें। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के लिए हम अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का भी बलिदान करना पड़ सकता है किन्तु आत्मिक स्वतन्त्रता तो सर्वोच्च और परम वस्तु है और इसका त्याग तो केवल अपनी आत्मा को गंवाकर ही किया जा सकता है। महाभारत में कहा गया है "आत्मा के लिए सारे संसार का भी त्याग करना पड़े तो कर देना चाहिए[1] आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।" "यदि मनुष्य अपनी

१ त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।

आत्मा को गंवा दे और सारे संसार को भी प्राप्त कर ले, तो लाभ क्या है?"

सुकरात के रूप में हमारे सम्मुख एक ऐसे व्यक्ति का सर्वोच्च दृष्टान्त विद्यमान है जो आत्मा की स्वतन्त्रता का समर्थक था और उसे रत्नों और स्वर्ण की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् समझता था। दृढ़ विश्वास और भावना से कांपते हुए शब्दों में सुकरात कहता है, "यदि आप मुझे इस शर्त पर छोड़ने का प्रस्ताव रखें कि मैं अपनी सत्य की खोज बन्द कर दूं, तो मैं कहूंगा, एथेन्सवासियो, आपको धन्यवाद। परन्तु मैं आपकी आज्ञा मानने की अपेक्षा परमात्मा की आज्ञा मानूंगा जिसने मुझे इस कार्य में लगाया है और जब तक मेरे शरीर में श्वास है और शक्ति है, मैं अपने दर्शन (तत्त्वज्ञान) के धन्धे को नहीं छोड़ूंगा। मैं अपने इस व्यवहार को जारी रखूंगा कि जो भी कोई मिले, उसे रोककर उससे कहूं, क्या तुम्हें इस बात पर शर्म नहीं आती कि तुमने अपना सारा ध्यान सम्पत्ति और सम्मान पर ही लगाया हुआ है, पर तुम्हें विवेक और सत्य की और अपनी आत्मा को और अच्छा बनाने की जरा भी परवाह नहीं है?—मुझे पता नहीं कि मृत्यु क्या है; हो सकता है कि वह अच्छी ही वस्तु हो और मुझे उसका भय नहीं है। परन्तु यह मैं भली भांति जानता हूं कि अपने कर्तव्य-स्थान को छोड़कर भाग खड़े होना बुरी बात है; और जो चीज़ सम्भव है कि अच्छी हो (मृत्यु) और जिस चीज़ का मुझे पता है कि वह बुरी है (पलायन), इन दोनों में से मैं पहली को पसन्द करता हूं।"

किसी संगठित समाज में कोई भी व्यक्ति पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं हो सकता। सभ्यता है ही यह कि अधिक मूल्यवान स्वतन्त्रताओं के लिए कम मूल्यवान स्वतन्त्रताओं को छोड़ दिया जाए। मन और आत्मा की स्वतन्त्रता सर्वोच्च स्वतन्त्रता है जो बिना किसी को कोई क्षति पहुंचाए, सब लोगों को और सब लोगों के सम्मान

ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्। महाभारत १।११५।३८

(परिवार की रक्षा करने के लिए एक व्यक्ति का त्याग किया जा सकता है; ग्राम की रक्षा करने के लिए [illegible] परिवार का भी बलिदान किया जा सकता है; पूरे जनपद (समाज) की रक्षा के लिए एक ग्राम का बलिदान किया जा सकता है; और आत्मा की रक्षा के लिए आवश्यकता पड़े तो सारी पृथ्वी तक बलिदान कर देना चाहिए।) साथ ही देखिए सभापर्व ६१।११

२ परन्तु यह भी है एक स्वतन्त्रता [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] — [illegible]

देखिए [illegible] (११ ३)

बन जाएं परन्तु मिलकर एक मनुष्य नहीं बन सकते। हम अलग-अलग जन्म लेते हैं और अलग अलग मरते हैं और अपने अत्यावश्यक (सारभूत) जीवन में हम अलग-अलग ही रहते हैं। राज्य को व्यक्तियों और समुदायों के धर्म की रक्षा करनी ही चाहिए।

इस दृष्टिकोण का अवलम्बन भी अंशतः इस बात का कारण रहा कि प्राचीन काल से विदेशी आक्रान्ता भारत में आकर सरलता से अपने पांव जमाते रहे। जब तक लोगों के वैयक्तिक और सामाजिक-जीवन में हस्तक्षेप नहीं किया जाता था, जब तक कलाकारों, दार्शनिकों और बुद्धिजीवियों को सत्य का अनुसन्धान करने और सौन्दर्य का सृजन करने की छूट थी और सामान्य लोग शरीर, मन और आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विकास करते रह सकते थे, वरेलू शिष्टाचारों का पालन कर सकते थे और सरल स्नेह, विशुद्ध निष्ठा और गंभीर भक्ति का, जो मानव-जीवन का सर्वाधिक वैयक्तिक, सर्वाधिक अन्तरंग और सर्वाधिक पवित्र अंश है, तब तक उनकी दृष्टि में इस बात का कोई अधिक महत्त्व नहीं था कि राजनीतिक प्रभुत्व किसके हाथ में है। विचार सदा स्वतन्त्र रहता था, यहां तक कि तब भी जबकि आचरण सामाजिक रूढ़ियों द्वारा नियन्त्रित रहता था।

यह विश्वास करना कि आध्यात्मिक जीवन का मार्ग भौतिक वस्तुओं में से होकर है और हम भौतिक लाभ पहुंचाकर लोगों के हृदय को जीत सकते हैं आधुनिक जीवन की भ्रान्तियों में से एक है। यह मान लिया जाता है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति को पूरी तरह भौतिक तृप्ति प्राप्त हो जाए, तो उसकी स्वर्ग की और परम मूल्यों को प्राप्त करने की इच्छा विलीन हो जाएगी। पर क्या कोई भी भौतिक लाभ जीवन की अपेक्षा अधिक मूल्यवान हो सकता है। या कोई भी विपत्ति मृत्यु की अपेक्षा अधिक भयावह हो सकती है? हम आदेशों और आदर्शों से जितने बाधित होते हैं अपने हितों से उतने नहीं। जीवन में आर्थिक मूल्यों के अतिरिक्त भी बहुत कुछ है। हम मनुष्य हैं केवल उत्पादक या उपभोक्ता नहीं, कामगार या ग्राहक ही नहीं। यदि यह संसार दूध और शहद से भरा हुआ पार्थिव स्वर्ग भी बन जाए और सस्ती मोटरें और रेडियो सब लोगों को सुलभ भी हो जाएं, फिर भी हमें मन की शान्ति या सच्ची प्रसन्नता प्राप्त नहीं हो सकेगी। ऐसे नर-नारी भी जिन्हें वे सब सुख और सुविधाएं प्राप्त हैं जो भौतिक सभ्यता द्वारा प्राप्त हो सकती हैं, इस प्रकार हताश-सा अनुभव कर रहे हैं जैसे उनसे कुछ वस्तु छिन ली गई हो। मनुष्य केवल वर्तमान के आराम के लिए नहीं जीते अपितु अवैयक्तिक लक्ष्यों की खोज के लिए, आत्मिक जीवन के लिए जीते हैं आत्मरति आत्मक्रीडा के लिए।

विवेक का प्रयोग बेरोक-टोक कर सके। स्पष्टतः सरकार का काम स्वतन्त्रता दिलाना है। —
'थियोलौजिको पोलिटिकल ट्रैक्टेटस'

१ विचार स्वतन्त्र आचार समाजनियन्त्रित।

आपस्तम्ब कहता है कि आत्मा को प्राप्त करने से बढ़कर और कुछ नहीं है।[1] अधिकार के यन्त्रजाल (मशीनरी) द्वारा न कुचली गई आत्मा अंधकार की शक्तियों द्वारा कुचली न की जा सकी परमात्मा की ज्योति ही मानव की एकमात्र आशा है।

हम को अलग अलग प्रकार के आनन्दों में बाह्य और आन्तरिक आनन्दों में भेद न करना चाहिए। यदि हमपर देवताओं की कृपा हो तो हम जीवन में आराम से रहते हैं हमारी आंखों में चमक होती है आसपास की दुनिया हमारी प्रशंसा करती है हमारी स्तुति करती है और हमसे प्रेम करती है। हम मनमौजी और बिगड़े बच्चों की तरह रहते हैं और हम निश्चय रखना है कि सब बातें जैसी इस समय हैं उससे भिन्न हो ही नहीं सकती। परन्तु जब हम अपने प्रति ईमानदार होते हैं तब हमें मालूम होता है कि बड़ी बात यह नहीं है कि दुनिया हमारे बारे में क्या सोचती है अपितु यह है कि हम अपने बारे में क्या सोचते हैं। आनन्द सद्गुण है परिष्कार है और सौन्दर्य है निरानन्द कुरूपता है गंवारपन और कृत्रिमता। हममें से प्रत्येक की लालसा सत्य और सजीव के लिए, एक जरा-सी मित्रता के लिए जरा-से मानवीय आनन्द के लिए और ऐसे आदर्श के प्रति निष्ठा के लिए रहती है जिसमें हम अपने-आपको खपा सकें। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के ध्वंसावशेषों पर खड़ी की गई कोई भी समाज-व्यवस्था अनैतिक है। सम्पत्ति के विरुद्ध पाप का समाज के विरुद्ध पाप को क्षमा किया जा सकता है किन्तु पवित्र आत्मा के विरुद्ध पाप को क्षमा नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसे पाप के द्वारा हम स्वयं अपने प्रति हिंसा कर रहे होते हैं।

मनुष्य जिस रूप में हम उसे जानते हैं कुछ कम या कुछ अधिक आज का सा ही शरीर और मस्तिष्क लिए हुए हजारों वर्षों से जीता आ रहा है एक प्राणी जो जंगलों और गुफाओं में रहता था जो रात से और वनों से डरता था जो भूतों और प्रेतात्माओं को मनाया करता था जो मनुष्यों की हिंस्र पशुओं के साथ भाला-युद्ध लड़ाइयों के खेल देखा करता था धर्म-परीक्षा-समितियों (इन्क्विज़िशन) और न्यायिक यन्त्रणाओं में आनन्द लेता था। क्रूरता और जंगलीपन की शताब्दियों की तुलना में मानव-सभ्यता तो कल की बच्ची है। मानवता और सद्वृत्ति स्वाभाविक नहीं हैं अपितु परिष्कार द्वारा विकसित की जाती हैं और विचार की पद्धतियों पर निर्भर हैं। रुचि और परम्परा संस्कृति की उपज हैं। समाज के स्तर को नीचे के प्रमाप (स्टैंडर्ड) तक नीचे ले आने के बजाय हमें जनसाधारण को सच्ची संस्कृति के स्तर तक ऊपर उठाना होगा। सार्वभौम समानता का यह अर्थ कदापि

आत्मलाभात् न परं विद्यते।—धर्मसूत्र, १-७-२

२ मध्ययुग के धार्मिक न्यायालय जो अपने धर्म में विश्वास न रखनेवालों को कठोर यन्त्रणापूर्ण दण्ड देते थे।

नहीं है कि प्रत्येक वस्तु समान रूप से ग्राह्य हो। जन-साधारण के मन का निम्न स्तर ही निरंकुशताओं (अत्याचारी शासनों) के विकास के लिए जिम्मेदार है।

सभ्य मनुष्य का जीवन और सत्य के प्रति दृष्टिकोण असभ्य मनुष्य से भिन्न होता है। सभ्य मनुष्य की सम्मतियां सम्बद्ध तथ्यों और युक्तियों पर शान्तिपूर्वक विचार द्वारा बनती हैं जबकि असभ्य व्यक्ति अपने आवेगों, पूर्वसंस्कारों और क्षणिक भावों का दास होता है। सामूहिक प्रचार मनोवेगों को प्रभावित करता है जबकि व्यक्तिगत सुझाव बुद्धि पर प्रभाव डालते हैं। असन्तुष्ट और निराश महत्त्वाकांक्षी और जोखिम पसन्द करनेवाले अत्यधिक सप्राण और गैर जिम्मेदार युवक जो वातोन्माद (हिस्टीरिया) और सुझावों से बहुत शीघ्र प्रभावित हो जाते हैं परम्परा की शक्ति को 'सामाजिक विशेषाधिकारों के लिए आड़' बताकर अस्वीकार करते हैं और वे वर्तमान व्यवस्था को समाप्त कर देने पर उतारू हैं और उसकी जगह वे एक नई वस्तु लाना चाहते हैं, जिसके वे स्वयं नहीं जानते कि वह क्या है। क्योंकि नैतिक साधन असंगठित हैं इसीलिए संसार में अन्धेरगर्दी मची हुई है।

भारतीय संस्कृति में फिर नया यौवन भर देने की क्षमता है और यह नैरन्तर्य को बनाए रखते हुए भी आमूल उथल-पुथल कर सकती है। भारत के निवासियों में यद्यपि वे कुछ धीमे चलनेवाले हैं, फिर भी यौवन का बल और जीवनी शक्ति है और इसीलिए वे अपनी संस्कृति को बनाए रख सके हैं। उनकी सहजवृत्तियों पर वास्तविकताओं के धक्के की ऐसी प्रतिक्रिया होती है जिसमें गलती हो ही नहीं सकती। वे आमूल परिवर्तन अनिवार्य रूप से बाहरी आदर्शों को थोपकर नहीं अपितु चिन्तन और आत्मिक परिष्कार की प्रक्रिया द्वारा कर पाने में समर्थ हैं। बल प्रयोग द्वारा किए गए परिवर्तन स्थायी केवल तभी हो सकते हैं, जबकि उन्हें स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया जाए। जन-साधारण को अपने-आपको परम्परा के बन्धन से जहां वह परम्परा स्वस्थ और सजीव है वहां भी मुक्त करने की मनोवेगात्मक दृष्टि से उत्तेजनीय होते जाने की और बौद्धिक अकर्मण्यता और

---

१ 'रिपब्लिक' के आठवें खण्ड में प्लेटो कहता है, 'निरंकुशतंत्र प्रजातन्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी संविधान से उत्पन्न नहीं होती, अर्थात् अत्यधिक और चरम दासता ही चरम स्वाधीनता में से उत्पन्न होती है।' बोद्लेर कहता है, 'जीवन को हम भरे बरतनों से जिनमें यह हिसाब लगाया गया है कि मनुष्यों को एक समान जोखम उठाने के रास्ते तक पहुंचा दें, अलग कर देगा —एक दस का या पचासों परिश्रमी और ऐश में रहनेवाले का या हर मनुष्य जिसे अब प्रकार के कामों में व्यस्त से लगाव या सरोकार— विशेष रूप से यह समझता है कि वे कुछ थोड़े-से ऐसे अपवाद-रूप व्यक्तियों को जन्म देंगी जो उनसे अधिक जनसाधारण और मार्मिक रूप से उत्पन्न होंगे। मुझे विश्वास है कि प्रजातन्त्रीकृत यूरोप निरंकुश अत्याचारियों— शब्द के प्रत्येक अर्थ में—के लिए एक संवर्धन-विद्यालय और उत्पत्ति-भूमि बन जाएगा।

निष्क्रियता की प्रवृत्ति को रोका जाना चाहिए। अंधेरगर्दी और निरंकुशता के बीच में से निकलकर मार्ग बढ़ पाने का केवल एक यही मार्ग है।

आत्मा की इस स्वतन्त्रता को भौतिक और सामाजिक बन्धनों से स्वाधीनता को प्राप्त करना अत्यावश्यक है। स्वाधीनता की व्याख्या दो रूपों में की गई है। एक तो स्वाधीनता वह है जो सामाजिक बल प्रयोगों (विवशताओं) से रक्षा करती है, दूसरी हमें भौतिक विवशताओं से बचाने का प्रयत्न करती है, उन अभावों और आवश्यकताओं से हमें मुक्त करने का प्रयत्न करती है जो ठीक-ठीक आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों द्वारा पूर्ण हो सकती हैं। इन दोनों में प्रत्येक अच्छे जीवन का साधन है। दोनों में से प्रत्येक की जब यह पूर्ण हो यह मांग होती है कि समाज को न केवल व्यक्तियों और समूहों की इन बल प्रयोगों से रक्षा करनी चाहिए, अपितु उन जीवन-मूल्यों को प्राप्त करने का भी अवसर देना चाहिए, जिनका ये बल-प्रयोग निषेध करते हैं। जहां एक ओर स्वाधीनता को नकारात्मक परिभाषा करते हुए उसे बल प्रयोग का अभाव कहा जा सकता है, वहां दूसरी ओर यह सकारात्मक रूप से अच्छे जीवन का साधन भी है। यह आत्मा की स्वतन्त्रता है जिसने संस्थाओं को ढाला है और फिर नये रूप में ढाला है और हमारे जीवन तथा सभ्यता को इसके अविराम बदलते हुए रूप प्रदान किए हैं। मानव-जाति का इतिहास मनुष्य की अजेय आत्मा का जीवन है। इस जीवन में अनन्त प्रकार के रूप और अभिव्यक्तियां हैं; ये सब वे विभिन्न ढंग हैं जिनके द्वारा मानव-प्रकृति अपने-आपको अपनी आकांक्षाओं और अभिलाषाओं को, अपनी महत्त्वाकांक्षाओं और सफलताओं को, अपने संघर्षों और असफलताओं को व्यक्त करने की चेष्टा करती रही है। इन सबके बीच में होकर मनुष्य की सृजनशील आत्मा यात्रा करती रही है, और श्रम करती रही है; असफलता होती रही है, फिर भी धूल मिलाकर विजय पाती रही है, आगे ही बढ़ती रही है, कभी भी पीछे न हटकर, आगे बढ़ने के लिए ही प्रयत्नशील रही है। यह स्वतन्त्र आत्मा ही मानव इतिहास का हृदय (प्राण) है।

अतीत में मानवीय प्रगति इस कारण हो पाई कि व्यक्तियों ने अपनी सामान्य बुद्धि और अन्तःकरण को उन्मादग्रस्त यूथ-भावना में डुबा देने से इनकार कर दिया। जीवन प्रतिरोध है; रेत में अपने पैरों को गहरा गड़ाकर खड़ा होना है, जिससे धारा बहा न ले जाए। वर्तमान अव्यवस्था का एक सबसे गहरा कारण यह है कि इस समय ऐसे नर-नारियों का अभाव है जो धारा के प्रवाह में बह जाने से इनकार कर दें। सारी प्रगति का श्रेय विशेष रूप से प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों द्वारा प्रारम्भ किए गए नये विचारों को ही है। यदि बौद्धिक स्वाधीनता न होती तो शेक्सपियर या गेटे, न्यूटन या फैरेडे, पाश्चर या लिस्टर का नाम भी न होता। वे धार्मिक

तुलना कीजिए "[illegible] विश्व की पुनरावर्तित [illegible] [illegible] के लिए आवश्यक है।" —[illegible] (१२४), १ १ २

आविष्कार स्वतंत्र व्यक्तियों ने किए, जिनके द्वारा पूंजीवाद और वर्तमान राज्यों का अस्तित्व संभव हो सका। ये आविष्कार लोगों को कठोर परिश्रम से छुटकारा दिलाते हैं और एक भिन्न नई सामाजिक व्यवस्था की तैयारी करते हैं। किसी भी समाज के मूल्य को इस दृष्टि से आंका नहीं जाना चाहिए कि उसमें यान्त्रिक व्यवस्था और कार्यक्षमता कितनी उच्चकोटि की है, जितना कि इस दृष्टि से कि उसकी कार्य-प्रणाली लोगों को विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता किस सीमा तक देती है, किस सीमा तक नैतिक निर्णय को बढ़ावा देती है और अपने सदस्यों की बुद्धि और सद्भावना के विकास में किस सीमा तक योग देती है।

यद्यपि कार्ल मार्क्स का मत यह नहीं है कि व्यक्तियों का पक्का दृढ़ संकल्प इतिहास के मार्ग को बदल सकता है, और यद्यपि उसे पक्का भरोसा है कि पूंजीवादी व्यवस्था इतिहास के क्रमभंग से नष्ट हो जाएगी, अत्याचार-पीड़ितों के जान-बूझकर किए गए प्रयत्नों के परिणामस्वरूप नहीं, अपितु इतिहास की अनिवार्य प्रक्रिया के कारण, फिर भी वह हमसे विवेक के नाम पर अपील करता है। प्रकृति और ऐतिहासिक प्रक्रिया में अन्तर सूक्ष्म दृष्टि हमें सही मार्ग की ओर संकेत कर देती है। मनुष्य की स्वतंत्रता यही है कि वह ऐतिहासिक प्रतिक्रिया के अभिप्राय को समझे और अपने-आपको उस अर्थ के और अधिक प्रकाशन में लगा दे। हमारे जीवन उस अन्तिम लक्ष्य के लिए साधन बन जाने के कारण मान्य बन जाते हैं। हमें प्रगतिशील वर्ग के साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहिए और उसीके पथप्रदर्शन के अनुसार कार्य करना चाहिए। यद्यपि इस वर्ग-संघर्ष में श्रमिक वर्ग की विजय सुनिश्चित है, पर हम अपने साहस और दृढ़ संकल्प द्वारा उसे निकटतर ला सकते हैं और संक्रमण के काल को अपेक्षाकृत कम कष्टपूर्ण बना सकते हैं। यह व्यक्ति का मन ही है जो समष्टि की प्रकृति को समझ पाता है। इस प्रकार के विचार के कार्यों में आत्मा अपने-आपको सामाजिक समष्टि में अचेतन तल्लीनता से पृथक कर लेती है। व्यक्ति सामाजिक समष्टि में पूर्णतया कभी विलीन नहीं हो सकता।

फिर यदि व्यक्ति में अपनी कोई वास्तविकता है ही नहीं, तो हम उससे क्रान्तिकारी के रूप में आचरण करने को कैसे कह सकते हैं? यदि प्रवृत्तियां स्वयं ही कोई अनिवार्यता के साथ अपरिहार्य लक्ष्य की ओर हमें लिए जा रही हैं, तो हमसे यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि हम उस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए कार्य करें। जब मार्क्स हमसे जान-बूझकर किए गए कार्यों द्वारा इन प्रक्रियाओं को आगे बढ़ाने के लिए कहता है, तो वह व्यक्ति की वास्तविकता को मान रहा होता है। वह हमसे भावी समाज के लिए कार्य करने को कहता है, यथार्थ भाग्य के असहाय-पीड़ित शिकारों के रूप में नहीं, अपितु एक महान कार्य में हिस्सा बंटानेवाले जिम्मेदार

व्यक्तियों के रूप में। समाजवाद कोई अनिवार्य रूप से आनेवाली वस्तु नहीं है। यदि ऐसा होता तो समाजवादी सिद्धान्त और समाजवादी पार्टी (दल) की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। बड़ी मात्रा में प्रचार, विगुल बजाना और नारे लगाना, पर्चेबाजी और सम्मेलन-भाषण सब इस बात के सूचक हैं कि मानवीय कार्य स्वतः नहीं हो रहे। यदि मार्क्सवादियों का यह सिद्धान्त कि समाजवाद समाज के विकास में अगला अनिवार्य सोपान है सच हो तो इतनी अधिक हलचल की कोई आवश्यकता नहीं है। यह सब केवल इसलिए आवश्यक है क्योंकि वे लोगों को अपने मत में दीक्षित करना चाहते हैं। प्रचार इस उद्देश्य से किया जाता है कि वह हमारी चेतना पर प्रभाव डाले और फिर उसका प्रभाव हमारे अस्तित्व पर पड़ेगा।

साम्यवाद (कम्युनिज्म) के विरुद्ध यह आक्षेप किया गया है कि यह हमें हमारी संस्कृति से वंचित कर देगा। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो (घोषणापत्र) में कहा गया है, 'वह संस्कृति जिसके नाश पर इतना शोक किया जा रहा है, एक बहुत ही बड़ी बहुसंख्या के लिए एक यन्त्र की तरह काम करने का प्रशिक्षण-मात्र है।' मार्क्स यह नहीं समझता कि मनुष्य केवल एक यन्त्र है या यह कि सामाजिक सतयुग बिना मानवीय प्रयत्न के ही आ जाएगा। जब मार्क्स उस पूंजीवादी समाज के विरुद्ध आवाज उठाता है जो श्रमजीवियों की मनुष्यता को नष्ट कर देता है, जब वह उस धर्म की निन्दा करता है, जो उन अन्यायपूर्ण दशाओं का पृष्ठ-पोषण करता है और उन्हें पवित्र बताता है जिनमें कारखानों में दासों और भारवाही पशुओं से भी बुरा बर्ताव किया जाता है, तो वह व्यक्ति की वास्तविकता को ही महत्त्व दे रहा होता है। किसी भी व्यक्ति को अपने खाने पहनने और मकान प्राप्त करने के अधिकार से कदापि वंचित नहीं किया जा सकता। क्योंकि आर्थिक व्यष्टिवाद इस प्रकार का समाज तैयार करने में असफल रहा है इसलिए मार्क्स स्वैर तन्त्र (लेसे फेयर) की जो निन्दा करता है वह ठीक ही करता है। परन्तु एक आर्थिक सत्य को उठाकर सम्पूर्ण सत्य का स्थान नहीं दिया जा सकता। जब एक बार भौतिक आवश्यकताएं पूरी हो जाएं तो व्यक्ति को सोचने और जो कुछ वह सोचता है उसे कहने का अवसर मिलना चाहिए और यदि उसका मन हो तो उसे स्वतन्त्रतापूर्वक सत्य की खोज करने का या सौन्दर्य का सृजन करने का अवसर मिलना चाहिए। कुछ चीजें ऐसी हैं जिनके अभाव में हम जी नहीं सकते और कुछ अन्य वस्तुएं ऐसी हैं जिनके अभाव में हम जीने का कोई आग्रह नहीं होता। प्रजातन्त्रीय समाज एकमात्र जो अपने-आपको सभ्य कह सकता है, अन्य सब स्वतन्त्रताओं से बढ़कर जानने की, बोलने की और अपने अन्तःकरण के अनुसार स्वतन्त्र रूप से तर्क-वितर्क करने की स्वतन्त्रता पर आधारित होता है। प्रैसिडेण्ट रूजवैल्ट ने जब यह घोषणा की थी कि भविष्य की गत्वर (गतिशील) व्यवस्था के संगठित प्रयत्न इस दिशा में होने चाहिए कि वाणी की स्वतन्त्रता

उपासना की स्वतन्त्रता, अभाव से स्वतन्त्रता और भय से स्वतन्त्रता को स्थापित किया जा सके और उसे सुरक्षित रखा जा सके, तब उसने इसी स्थापना को निरूपित किया था।[1] स्वतन्त्र समाज में किसी भी व्यक्ति का और राष्ट्रों के मण्डल में किसी भी राज्य का आत्मनिर्णय का अधिकार है। इसकी एकमात्र सीमा प्रत्येक दूसरे व्यक्ति के या राज्य के उसी परिमाण में आत्मनिर्णय के अधिकार द्वारा नियत होती है। इस स्वतन्त्रता के अभाव में हमारे पास और चाहे कुछ भी क्यों न हो, हम निर्जीव हैं।

राज्यों और राष्ट्रों में, जो कि बढ़ते-घटते रहते हैं, सम्बन्ध में अन्तिम या शाश्वत कुछ भी बात नहीं है। परन्तु हीन से हीन व्यक्ति में भी आत्मा की वह चिनगारी विद्यमान रहती है, जिसे शक्तिशाली से शक्तिशाली साम्राज्य भी बुझा नहीं सकते। हम सबका मूल एक ही जीवन में है, और हम सब एक ही ब्रह्म के अंश हैं, अमरता के पुत्र, 'अमृतस्य पुत्राः'।[2] इन आत्मविहीन दिनों में हमें अपने मनों को सब युगों के श्रेष्ठ पुरुषों के महान् वचनों और वीरतापूर्ण कार्यों द्वारा सक्षम बनाना चाहिए। सम्भव है कि ऐसा प्रतीत हो कि हम इस समय पराजय के काल में हैं, परन्तु यह पराजय भी गौरव और इच्छा की तीव्रता से शून्य नहीं है। मनुष्य की मानवता के चिरस्थायी प्रभुत्व में विश्वास ही वह प्रकाश है, जिसके सहारे हम मृत्यु की छाया की घाटी तक में बिना लड़खड़ाए चलते रह सकते हैं।

यदि सभ्यता को जीवित बचाना है, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि इसका (सभ्यता का) सार शक्ति, धन, सफलता, सम्पत्ति और प्रतिष्ठा में नहीं है, अपितु मानव-मन की स्वतन्त्र गतिविधि में, नैतिक सद्गुणों की वृद्धि में, सुरुचि के विकास और जीने की कला में निपुणता प्राप्त करने में है। मार्क्स ने धर्म की निन्दा करते हुए कहा है कि यह एक सामाजिक प्रतीति-मात्र है, जो सामाजिक अपूर्णताओं की क्षतिपूर्ति करती है। परन्तु कुछ ऐसे असाम्य मानवीय अनुभव हैं, जैसे जन्म, प्रेम और मृत्यु, जो शाश्वत वैयक्तिक हैं। अधिकतम पूर्ण आर्थिक न्याय भी या पार्थिव

---

1 प्रेसिडेंट रूज़वेल्ट ने कांग्रेस के नाम अपने सन्देश में कहा था : 'एक स्वस्थ और दृढ़ प्रजातन्त्र की नींवों के सम्बन्ध में रहस्यमय कुछ भी नहीं है। हमारी जनता अपनी राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं से मूल वस्तुओं की अपेक्षा करती है। वे बिलकुल सीधी-सादी हैं : वे हैं : युवकों तथा अन्य लोगों की उन्नति के लिए अवसर की समानता। जो लोग काम कर सकते हैं, उनके लिए काम। उन लोगों के लिए सुरक्षा, जिन्हें उसकी आवश्यकता है। कुछ थोड़े-से लोगों के लिए असाधारण विशेषाधिकारों की समाप्ति। सब लोगों के लिए नागरिक स्वतन्त्रताओं का संरक्षण। वैज्ञानिक प्रगति के फलों का विस्तृततर समान द्वारा उपभोग और रहन-सहन के स्तर में निरन्तर उन्नति यह कोई दूर स्वप्न का स्वप्न नहीं है। यह एक उस प्रकार के संसार का सुनिश्चित आधार है, जिसे हमारे समय में ही और हमारी पीढ़ी में ही प्राप्त किया जा सकता है।' —१५ जनवरी, १९४१

2 देखो देवदत्त मोहन जो बीम स उद्धारित।

सतयुग की स्थापना भी हमारे कुछ तीव्रतम दुःखों को समाप्त नहीं कर सकती। सामाजिक स्वामित्व की स्थापना या उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण से मानवीय स्वार्थ या मूर्खता को और मानवीय आत्मा के तनाव को समाप्त नहीं किया जा सकता। मार्क्स अवश्य ही उन बुराइयों को जो सामाजिक व्यवस्था की नहीं अपितु मानव प्रकृति की हैं क्षतिपूर्ति के रूप में धर्म के मूल्य को अस्वीकार नहीं करेगा। सामाजिक क्रान्ति अपने-आपमें हमारे समाज के अव्यवस्थित अपक्षय को रोक पाने में असमर्थ है। जीवन के मानवमूल्य होते जाने से यह हमारी रक्षा नहीं कर सकती।

चिन्तनशील समाज कम

जब हम यह मान लेते हैं कि व्यक्ति के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष ऐसा भी है जो उसके केवल अपने ही प्रति है जब मनुष्य अपने-आपको अधिकतम स्पष्टवादिता के साथ प्रकट कर रहे होते हैं तब भी कुछ वस्तु ऐसी रह जाती है, जो और भी परे और पहुंच के बाहर होती है एक स्वप्न जिसमें औरों के साथ हिस्सा नहीं बटाया गया होता एक अटूट मितभाषिता जो कुछ हम कहते या करते हैं यहां तक कि हम जो कुछ एकान्त में सोचते हैं, जिसमें कि हम जो कुछ हैं, उसका निवास है उसके भी पीछे कुछ वस्तु बच जाती है तो इससे अनिवार्य परिणाम यह निकलता है कि हमारे जीवन के इस पक्ष से सम्बद्ध कुछ क्रियाविधियां भी अवश्य होंगी। हम समाज में सक्रिय रहते हैं परन्तु हम एकान्तसेवी भी हैं चिन्तनशील जो अस्तित्व के उग्र स्वर से निकलकर बारम्बार आत्म-मिलन की शान्ति में डूब जाते हैं। जब हम अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख कर लेते हैं, तो हम बाह्य घटनाओं और जीवन की उत्तेजनाओं की अपेक्षा आन्तरिक जीवन के रहस्यों में अधिक आनन्द लेने लगते हैं। उपनिषद् का वचन है कि आत्मा ने जन्म लेकर इन्द्रियों को बहिर्मुख कर दिया है इसीसे व्यक्ति को बाहर की वस्तुएं ही दीखती हैं आन्तरिक आत्म नहीं। परन्तु कोई एक जो बुद्धिमान होता है और शाश्वत जीवन का अभिलाषी होता है अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख करके आन्तरिक आत्मा को देखता है।[1] आन्तरिक ध्यान ही आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि की ओर ले जानेवाला मार्ग है।

---

१ कठोपनिषद् ४-१

२ पारसिफल [illegible] है परन्तु हम करें क्या? मार्ग है किधर हम उस [illegible] सौन्दर्य की झलक किस प्रकार पा सकते हैं, जो मानो सामान्य मार्गों से अहा कि हम लोग यहां तक कि [illegible] लोग भी उसे देख सकते हैं दूर [illegible] स्थलों में निवास करता जान पड़ता है?
तो आओ हम [illegible] को पार कर चलें। परन्तु इसके लिए हमारा मार्ग कौन-सा होगा? हमारे साथ चलने का तरीका क्या होगा? यह [illegible] पैरों द्वारा होनेवाला नहीं है, [illegible] हमें केवल एक देश से दूसरे देश तक ही ले जा सकते हैं [illegible] वस्तुओं का इस वर्तमान व्यवस्था को एक ओर अलग हटा देना होगा। तुम्हें आंखें बन्द करना होगा और एक दूसरा ही [illegible] देखने का

पास्कल ने कहा था कि जीवन की अधिकांश बुराइयां मनुष्य की एक कमरे में शान्त होकर बैठ पाने की असमर्थता से उत्पन्न होती हैं। यदि हम केवल शान्त होकर बैठ पाना सीख लें तो हम कहीं अधिक अच्छी तरह यह जान सकेंगे कि किस ढंग से कार्य करना सर्वोत्तम होगा। ये सब बड़ी-बड़ी सफलताएं, जिनपर मानव जाति को गर्व है उन लोगों की कृतियां हैं जो बैठे और अति सूक्ष्म वस्तुओं का या आकाश के ग्रह-नक्षत्रों की गतियों का चिन्तन करते रहे। ये चिन्तनशील लोग ही हैं आलसी अपरिचित ये निकम्मे लोग जो तारों की ओर देखना छोड़कर एक कुएं में जा घुसते हैं, जिन्हें हमारी सुविधाओं और आनन्द का श्रेय है।

जब धर्म चिन्तन पर बल देता है तो वह केवल यह संकेत करने के लिए कि मानवीय जीवन की कुछ अन्तरतम पवित्रताएं ऐसी हैं जिन्हें सुरक्षित बनाए रखा जाना चाहिए। जीवन का उद्देश्य पृथ्वी पर आदर्शलोक उतार लाना ही नहीं है अपितु एक उच्चतर और तीव्रतर प्रकार की चेतना प्राप्त करना है। शिव बुद्ध तथा अन्य सैकड़ों सन्तों के चित्र प्लेटो द्वारा और अरस्तू द्वारा भी बहुत किए गए इस सत्य के परिचायक हैं कि मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य चिन्तन स्वतन्त्रता और बुद्धि की शान्ति है।

मार्क्स धर्म और दार्शनिक आदर्शवाद को अभिन्न मान लेता है और कहता है कि 'अब तक दार्शनिकों ने इस संसार की व्याख्या अनेक रूपों की है पर असली काम इस (संसार) को बदलना है।'[1] मार्क्स के अनुयायी उसके इस विचार का

पालन करना होगा जो हम सबका जन्मजात अधिकार है, पर जिसका उपयोग करने की ओर थोड़े-से प्रवृत्त होते हैं।

'अपने आपको वापस भीतर ले जाओ और देखो । वैसे ही करो जैसे कि एक प्रतिमा को बनाने वाला शिल्पी करता है, जिसे कि वह एक सुन्दर बनाना चाहता है। वह कहीं छीलता है कहीं उसे चिकना करता है किसी रेखा को कुछ हल्का करता है किसीको कुछ और साफ करता है। ऐसा वह तब तक करता रहता है जब तक कि उसकी कृति पर एक सुन्दर मुख उभर नहीं आता। इस प्रकार तुम भी करो जो भी कुछ अनावश्यक है, उसे काटकर फेंक दो जो कुछ टेढ़ा मेढ़ा या कुटिल है उसे सीधा कर दो, जो कुछ अन्धकारमय या धुंधला है उसपर प्रकाश डालो। सम्पूर्ण मूर्ति को सौन्दर्य की चमक लाने के लिए प्रयत्न करो और अपनी इस मूर्ति की काट-छांट तब तक बन्द मत करो, जब तक कि तुम्हें एक निष्कलंक मन्दिर में स्थापित पूर्ण दैवी दिखाई न पड़ने लगे।

नयन नहीं बना है जो इस महान सौन्दर्य को देख सकता है। यदि वह आंख, जो इसमें दृष्टि का व्यापार करती है किसी दोष के कारण धुंधली, अस्वच्छ या कमजोर हो जाए तो वह कुछ नहीं देख सकती। प्रत्येक दृश्य को देखने के लिए एक ऐसी आंख लानी होगी जो दर्शनीय वस्तु के अनुकूल हो और उससे कुछ मिलती-जुलती हो। आंख सूर्य को तब तक नहीं देख सकती जब तक कि वह स्वयं सूर्य के सदृश नहीं हो गई। और आत्मा भी तब तक सर्वोच्च सौन्दर्य को अनुभव नहीं कर सकती, जब तक कि वह स्वयं सुन्दर न बन जाए।

—मार्कस ड लोकस 'दि लास्ट मैन' (१९५८) पृष्ठ १२०-१२१

अनुवादक के लिए आवश्यक प्रसंग

स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि यह इस बात का द्योतक है कि दर्शन को जीवन से पृथक किया जाना चाहिए सिद्धान्त को व्यवहार से। मार्क्स उस भाव-समाधि के जिसमें रहस्यवाद की अन्तिम परिणति बताई जाती है विरोध में कर्म का समर्थन करता है। अपने-आपको सारे जगत् के चिन्तन में लीन करने के बजाय हम सुनिश्चित और ऐतिहासिक अस्तित्वों के जगत् में कर्म करने में जुट जाना चाहिए। 'फ्यूअरबाख पर अपने आठवें प्रबन्ध' में मार्क्स कहता है "उन सारे रहस्यों का जो रहस्यवाद के सिद्धान्त को बनाते हैं बुद्धिसंगत समाधान मानवीय कर्म में और उस कर्म को समझने में ही है।

इसके अतिरिक्त धर्म लोगों की जीवन-सम्बन्धी मान्यताओं के मानदण्डों को उलट-पलट देता है। उन सब चीजों को जो प्रकृति की सहजवृत्तियों के अनुसार वर्तमान पृथ्वी-जीवन में मूल्यवान समझी जाती हैं सत्ता और विलास को सम्पत्ति और यश को धर्म घृणा की दृष्टि से देखता है। जिन वस्तुओं से दुनिया घृणा करती है और जिन्हें नीत्शे दासता की विशेषताएं कहता है आज्ञा-पालन और नम्रता दरिद्रता और संयम उन्हें धर्म परलोक में सुख प्राप्त करने का अचूक साधन बताता है। मनुष्य की रुचि इन्द्रिय-ग्राह्य वास्तविक जगत् से हटाकर दूसरे उस जगत् की ओर फेर दी जाती है जिसकी कल्पना धार्मिक स्फुरणाओं (इलहामों) के बल पर की गई है। जो भी कोई इस पृथ्वी पर जीवन की दशाओं का सुधारने का यत्न करता है उसे शहरी और दुनियादारी में फंसा हुआ बताया जाता है।

मार्क्स को इस बात का ध्यान है कि अन्य धर्मों की भांति ईसाई धर्म भी गरीबों और अत्याचार-पीड़ितों की अपेक्षाकृत अच्छे जीवन की आशा से लाभ उठाता है। यदि इस जीवन के अन्याय ही सब कुछ हों तो जीवन का कुछ अर्थ ही नहीं रहेगा। इसलिए धर्म परमात्मा के राज्य की धारणा प्रस्तुत करते हैं उस परमात्मा के राज्य में मृत्यु के बाद गरीब और अत्याचार-पीड़ित लोग धनिकों और आराम से रहनेवालों की अपेक्षा कहीं अधिक सरलता से प्रविष्ट हो सकेंगे। मरणोपरान्त न्याय के विषय में केवल इस प्रकार का विश्वास ही पृथ्वी पर हमारे वर्तमान जीवन का कुछ औचित्य बता सकता है। इसलिए मार्क्स आलोचना करते हुए कहता है "धर्म पीड़ित प्राणी की सिसकी है, एक हृदयहीन संसार का हृदय है और नितान्त आत्महीन दशाओं की आत्मा है। यह गरीबों की अफीम है।"[1] परमात्मा की धारणा ही विकृत सभ्यता की केन्द्र-शिला है मार्क्स कहता है "धर्म का जो एक भ्रामक काल्पनिक आनन्द देता है दमन करना वास्तविक आनन्द के दावे की स्थापना करना है।"[2] एंजिल्स कहता है कि धर्म का पहला

१ जे एम मरी का अपेक्षित अनुवाद। [illegible] की पुस्तक [illegible] डिमोक्रेसी (१९३९) पृष्ठ १

२ पूर्वोक्त वही १ ८४

जन्म ही मूठ होता है। लेनिन ने लिखा है कि धर्म आत्मिक अत्याचार का ही एक पहलू है। शोषकों के विरुद्ध संघर्ष में शोषितों की असहायता अनिवार्य रूप से मृत्यु के पश्चात् उत्कृष्टतर जीवन में विश्वास को जन्म देती है। उन लोगों को जो सारे जीवन परिश्रम करते हैं और फिर भी तंगी में जीवन बिताते हैं धर्म विनम्रता और धैर्य की शिक्षा देता है और उन्हें स्वर्ग में पुरस्कार मिलने की आशा द्वारा उनके आंसू पोंछता है। परमात्मा और पारलौकिक जीवन में विश्वास आदर्शों के प्रति निष्ठा की ओर से ध्यान को दूसरी ओर हटा देता है।

ये टिप्पणियां भी धर्म की विवेक की ओर सहानुभूति की भावना से शून्य नहीं हैं। इस पृथ्वी के उत्तराधिकार से वंचित लोग भौतिक सुख और सुविधा के जीवन के लिए परलोक की ओर क्यों ताकें? मशीनों द्वारा उत्पादन की तकनीक के कारण यह संभव हो गया है कि पृथ्वी पर ही सब लोग पहले की अपेक्षा अच्छा जीवन बिता सकें। यदि केवल सिद्धान्तात्मक धर्म की जकड़ किसी प्रकार ढीली हो जाए, तो वे वंचित नर-नारी जिनके पास न सम्पत्ति है न भविष्य के लिए सुरक्षा उन पूंजीपतियों के विरुद्ध विद्रोह कर देंगे जो अपने साथी मनुष्यों के कल्याण के प्रति इतने उत्तरदायित्वशून्य हैं कि वे न्यूनतम वेतन पर उनका उपयोग करते हैं और जब उनसे काम निकल चुकता है तो उन्हें उठाकर कूड़े के ढेर पर फेंक देते हैं। धर्म मानवीय भ्रातृत्व को क्रियान्वित करने के बजाय हम परतन्त्रता के आगे झुकने को क्यों कहे? एक धार्मिक कल्पनाशक्ति के बुमहान प्रयत्न द्वारा मार्क्स इस बात को देखता है और अनुभव करता है कि मानव-समाज एक ही जीव (सजीव) समष्टि है और वह आधिदैविक परलोकपरक धर्म का विरोध करने का प्रयत्न करता है। पूंजीवादी व्यवस्था के विनाश से तर्कसंगत रूप से उन सब संस्थाओं विचारों और पद्धतियों का मूलोच्छेद हो जाएगा जिनके द्वारा जन-साधारण को बहुत कर दास बनाया गया था।

मार्क्स इस स्थापना को अस्वीकार करता है कि विचार इतिहास के गतिपथ पर नियंत्रण रखते हैं। यह ठीक है कि जिस वस्तु से इतिहास का निर्माण होता है वह विशुद्ध विचार नहीं है अपितु वह विचार है, जो अपने आपको व्यावहारिक समस्याओं पर लागू करता है। विचार की अन्तर्वस्तु भले ही सामाजिक हो किन्तु विचार को स्वयं सामाजिक उपज नहीं होना चाहिए। इसे तो निजस्व चिन्तन की ही उपज होना होगा। वे महान विचार, जो सम्पूर्ण संसार को आन्दोलित करते हैं और चरित्र को उन्नत करते हैं शायद ही कभी सक्रिय सार्वजनिक कार्यकर्ताओं की देन होते हैं। वे तो कवियों और विचारकों कलाकारों और धर्मप्रचारकों की देन होते हैं। उनकी सुरक्षा एकान्त और चिन्तन में होती है और उनके लिए एक ऐसी आत्मशून्यता और मन की स्वतन्त्रता की अपेक्षा रहती है जिसे प्राप्त कर पाने की सार्वजनिक जीवन के दबाव और तनाव के नीचे रहनेवाले सार्वजनिक

कायकर्ता शायद ही कभी आशा कर सकते हैं।

विचार धर्म का सार है। प्रारम्भ म केवल शब्द था और शब्द से ही यह हाड मांस बना। स्वप्न इतिहास बन जाता है और संस्कृति सभ्यता। यूनानी सभ्यता की रचना मे प्लेटो और अरस्तू ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। १६४२ म हौब्स ने गृह युद्ध का और १६८८ मे लौक ने क्रांति को प्रेरणा दी। फ्रांसीसी क्रांति वाल्टेयर रूसो तथा विश्व ज्ञान-कोष-लेखकों (ऐनसाइक्लोपीडिस्ट) की विचारधारा का परिणाम थी। दार्शनिक आमूल परिवर्तनवादियों बैन्थम और मिल ने उन्नीसवीं शताब्दी के उदार कार्यक्रम को प्रेरणा दी। मार्क्स स्वय भी ऐतिहासिक प्रक्रिया की एक व्याख्या प्रस्तुत करता है और सब व्याख्याए संसार को बदलने के इरादे से ही प्रस्तुत की जाती हैं। जीवन आदर्शों से शासित रहता है और सब क्रांतिकारी आदोलनों की पृष्ठभूमि म विचारधाराएं (दर्शन) काम करती रही हैं। हम जो कुछ सोचते हैं उसीके परिणाम हम हैं। दार्शनिक लोग भविष्य के स्रष्टा होते हैं। दर्शन का काम केवल जीवन की व्याख्या प्रस्तुत कर देना नहीं है अपितु उसे दृष्टि प्रदान करना और मार्ग दिखाना भी है।[1] ध्यान प्रार्थना और जीवन एक-दूसरे से पृथक वस्तुएं हैं एक-दूसरे की विरोधी नहीं। उन दोनों का अस्तित्व साथ-साथ रह सकता है। वे एक दूसरे की ओर सकेत करती हैं और साथ-साथ काय करती हैं। फिर यदि हम अपने-आपको न बदल तो हम समाज-व्यवस्था को बदल नहीं सकते। हमारी समाज-व्यवस्था उन लोगों के चरित्र के अनुसार ही उच्च या निम्न होती है जिनसे मिलकर वह बनी है। एक अधिक प्रभावी समाज-व्यवस्था का अर्थ है—एक विभिन्न प्रकार के मनुष्य। जीवन की कोटि (किस्म) को बदलने के लिए हम नया जन्म ग्रहण करना होगा। धर्म केवल इसलिए असफल हो गए कि हमने उन्हें गम्भीरतापूर्वक ग्रहण नहीं किया उनका मुख्य उद्देश्य है मनुष्य का पुनर्निर्माण। अपनी मनमानी यह भावना अपनी ही बाजी चलते जाने का हठ अपनी ही सौदे

---

[1] तुलना कीजिए 'कुछ लोग ऐसे हैं—और मैं भी उनमें से एक हूं—जो समझते हैं कि घर का किराया [illegible] में सबसे अधिक व्यावहारिक और महत्त्वपूर्ण बात विश्व के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण है। हम समझते हैं कि मकान-मालकिन के लिए अपने किरायेदार के सम्बन्ध में विचार करते हुए उसकी आय को जानना महत्त्वपूर्ण है, पर उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है उसकी विचारधारा को जानना। हम समझते हैं कि किसी भी सेनापति के लिए शत्रु से लड़ने के पहले शत्रु की [illegible] को जानना महत्त्वपूर्ण है, परन्तु उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है उसकी विचारधारा को जानना। हम समझते हैं कि प्रश्न यह नहीं है कि विश्व का सिद्धान्त मामलों पर असर डालता है या नहीं, अपितु प्रश्न यह है कि अन्ततोगत्वा कोई अन्य वस्तु भी उन पर असर डालती है या नहीं।' —चेस्टर्टन

इस प्रकार भिन्न-भिन्न [illegible] भिन्न होते हुए भी एक-दूसरे से मिलकर एक हो सकते हैं, परन्तु [illegible] (अर्थात् जहां एक रहेंगे वहां हम [illegible])। [illegible] (१९ [illegible])

बातों में लगे रहना और दूसरों को बुद्धू बनाकर अपना उल्लू सीधा करना ये ही सारी विफलता के कारण हैं। निस्स्वार्थता, पड़ोसी के प्रति प्रेम और सहयोग इस विफलता से बचने के उपाय है। हममें से कितने लोग हैं जिन्होंने निस्स्वार्थता के नियम का पालन किया है या पालन करने की कोशिश भी की है। यदि बहुत सारे से लोगों की प्रवृत्ति ही इस ओर रही हो तो हम स्वार्थपरता के पक्ष के बारे में क्या कह सकते हैं? हमें बचाने के लिए केवल ज्ञान ही काफी नहीं है। उसके लिए कठोर अनुशासन जिसमें आत्मविश्लेषण और समर्पण भी सम्मिलित है आवश्यक है। मानव-व्यक्ति प्रकाश और छाया का, ज्ञान और अज्ञान का मिलन-स्थल है। उसके रूप में ब्रह्म ने शरीर का वस्त्र धारण कर लिया है। सच्चा अस्तित्व वैयक्तिक अस्तित्व की आवश्यकता से सीमित हो गया है। दो प्रवृत्तियां एक तो पृथक (एकान्त) वैयक्तिक जीवन की ओर और दूसरी एकता और सार्वभौमता की ओर परस्पर संघर्ष कर रही हैं। इन दोनों का मेल बिठाना ही वह समस्या है, जो हमारे सम्मुख रखी गई है और जिसे हल करने के लिए अनेक कठिनाइयों और कष्टों, रक्त और आंसुओं को सहना होगा। चिन्तनशील रहस्यवादी संसार को सम्मोहित करके मिथ्या या काल्पनिक स्वप्न में नहीं भुला देते। वे भी मारकाट से ऊपर उठे हुए नहीं हैं। सांसारिक व्यवस्था के सम्बन्ध में वे प्रायः युद्धप्रिय होते हैं। वे दुनियादारी में फंसे हुए लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट करनेवाली और रचनात्मक प्रयोजन की तीव्रता के साथ कार्य करते हैं। उन धार्मिक महापुरुषों की शानदार परंपरा पर दृष्टि डालिए, जिन्होंने न केवल धार्मिक संघों की स्थापना की अपितु शिक्षा और रोगियों की देखभाल जैसे व्यावहारिक राजनीति के विषयों पर भी बहुत स्वस्थ प्रभाव डाला।

मार्क्स ने धर्म को परलोकपरक बताकर जो उसकी निन्दा की है वह धर्म के कुछ एकपक्षीय दृष्टिकोणों के विषय में उचित है। भले ही धर्म के वास्तविक जीवन का सम्बन्ध शाश्वतिक व्यवस्था से हो फिर भी क्योंकि हम लोग तो पार्थिव और ऐहिक व्यवस्था के सदस्य हैं, इसलिए हम अपनी जिम्मेवारियों से बच नहीं सकते। हम आत्माएं अवश्य हैं किन्तु सशरीर हैं और हमें अपने आसपास की दशाओं को

---

१ 'अपने अन्दर दोनों को मिलाकर एक नया मनुष्य बनने के लिए और इस प्रकार शान्ति स्थापित करने के लिए और इसलिए कि वह इन दोनों को एक शरीर में क्रास द्वारा अपने अन्दर विद्यमान शत्रुता को समाप्त करके परमात्मा में मिला सके।' —सेंट पाल एफेसियन्स २ : १५, १६ मॉफिन्स टीका

साथ ही देखिए 'मानव-मन की नैसर्गिक रचना दुहरी है। एक भाग वह है जिसे सूफियों ने 'नीमं' (मनो ग) की संज्ञा दी थी, जो मनुष्य को इधर-उधर ले जाती है, दूसरा भाग विवेक है, जो यह बताता है और स्पष्ट करता है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विवेक अधिक बल से आदेश देता है और वासना आदेशों का पालन करती है।' —सिसरो 'दि ऑफीशियस' खण्ड १ अध्याय २८

स्वीकार करके चलना होगा। हमें अपने शरीर को निष्क्रिय नहीं करना है जो एक साधन है जिसके द्वारा हम संसार की चेतना को ग्रहण करते हैं और संसार का आनन्द लेते हैं। अधिक अच्छी तरह देखने के लिए हमें अपनी आंखों को निकाल फेंकने की आवश्यकता नहीं है। स्वर्ग प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम इन्द्रियों को मृतप्राय कर दें या मन को मारकर बैठ जाएं। शारीरिक आनन्द एक पवित्र तत्त्व है। यजुर्वेद में भी कहा है, 'हम सौ वर्ष जिएं—ऐसा जीवन जिसमें हमारी दृष्टि, श्रवण शक्ति और बोलने की शक्ति ठीक बनी रहे, और हम दूसरों पर आश्रित न हों। हम इस प्रकार का जीवन सौ से भी अधिक वर्ष तक जी सकें।'[1] यह शरीर आत्मा का केवल आवरण ही नहीं है, अपितु आवश्यक साधन भी है।

हमें उन शाश्वत सत्यों को, जो हम अपने जीवन के लिए आचरण के सर्वोच्च नियम प्रदान करते हैं, इस पृथ्वी पर ही सामाजिक और ऐहिक रूपों में प्राप्त करना है। प्रत्येक धर्म की एक नैतिक और सामाजिक अभिव्यक्ति होती है। पवित्रता (सन्तता) और प्रेम दोनों साथ-साथ रहते हैं। मनुष्य किसी न किसी समाज का सदस्य ही बनकर जन्म लेता है। उसका जीवन अन्तरंग सम्बन्धों का, आत्मपरता का और निर्भरता का एक जाल-सा है, जिसे तोड़कर स्वतन्त्र हो जाना न तो उसके लिए सम्भव ही है और न वांछनीय ही। अरस्तू कहता है, 'जो व्यक्ति समाज में रहने में असमर्थ है, या जिसे इसलिए समाज में रहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह अपने लिए ही पर्याप्त है, वह या तो देवता है या पशु।'[2] उसके लिए समाज में कोई स्थान नहीं है। सामाजिक सम्बन्ध व्यक्ति की शक्तियों और सुअवसरों को बढ़ाते हैं और उसकी स्वतन्त्रता को और विस्तृत कर देते हैं।

हिन्दू विचारधारा सांसारिक और ऐहिक वस्तुओं की उपेक्षा नहीं करती। यह जीवन के चार लक्ष्यों को स्वीकार करती है: नैतिक, आर्थिक, कलात्मक और आत्मिक (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष)। इसमें जीवन के चार सोपानों (आश्रमों) के सिद्धान्त में सामाजिक उत्तरदायित्वों पर बल दिया गया है। संन्यासी के रूप में भी व्यक्ति विश्व-समाज की सेवा करता है। चिन्तन के साथ-साथ इस संसार में कर्म करने पर भी जोर दिया गया। 'ईशोपनिषद्' के अनुसार पूर्णता की खोज करने वाले साधक को कर्म और भगवान का ज्ञान इन दोनों की साधना साथ-साथ

1. पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं [illegible] अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् —[illegible]

2. [illegible]

किसलिए करे ? यदि योद्धा के इस कर्तव्य की समस्या का समाधान हो जाए, तो शेष सब मामलों को भी इसी ढंग से निपटाया जा सकता है। गीता में जिस प्रश्न का विवेचन किया गया है वह युद्ध के औचित्य या अनौचित्य का प्रश्न नहीं है। यह तो अपना कर्तव्य करते हुए, चाहे वह कर्तव्य युद्ध भी क्यों न हो, शान्ति और पूर्णता प्राप्त करने की बात है। इसका उद्देश्य सिद्धान्त की शिक्षा देना उतना नहीं है जितना कि व्यवहार में प्रवृत्त करना। कृष्ण कहता है : "जनक आदि ने कर्म द्वारा ही सिद्धि या पूर्णता प्राप्त की थी। तुझे भी संसार की व्यवस्था का दृष्टि में रखते हुए कर्म करना ही चाहिए।"[1] "जिस प्रकार मूर्ख कर्मफल में आसक्त होकर काम करते हैं उसी प्रकार ज्ञानी लोग कर्मफल में अनासक्त रहकर संसार में व्यवस्था स्थापित करने के लिए कर्म करते हैं।"[2] फिर, "केवल काम करना छोड़ देने से ही तो कर्म से मुक्ति नहीं मिल जाती। केवल काम करना बन्द कर देने से भी किसीको सफलता नहीं मिल सकती।[3] जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है मनुष्यों में वही समझदार (पण्डित) है। नियमों के अनुसार वही पूर्ण कर्म का करनेवाला है। कर्म के फल की आसक्ति से रहित होकर, सदा सन्तुष्ट और स्वतन्त्र रहकर यदि वह निरन्तर कर्म में लगा भी हुआ हो तो भी वह कर्म नहीं करता।"[4] "अपने सारे कामों को 'मुझ' पर छोड़ दे, अपने मन को परमात्मा में लगा दे और लालसा को त्यागकर, मन में कोई विचार रखे बिना, उत्तेजनाशून्य होकर तू युद्ध कर।" संन्यास का हल (समाधान) कोई हल नहीं है क्योंकि मनुष्य चाहे या न चाहे, कर्म तो उसे करना पड़ता ही है। योग कर्म में कुशलता का ही नाम है। "जो कोई 'मेरा' काम करता है, 'मुझे' अपना लक्ष्य मानता है, 'मेरा' भक्त है, जो सब आसक्तियों से मुक्त है, जो किसी भी जीव से घृणा नहीं करता, वह 'मुझे' प्राप्त करता है (मेरे पास पहुंच जाता है)।"[5] कर्म किया जाता है उसके बाहरी परिणामों के लिए नहीं, अपितु आन्तरिक विकास के लिए। कर्मयोग अनिवार्यता है। समाज के लिए कार्य भी कर्मयोग नहीं है, परन्तु वह प्रारम्भिक अनुशासन के रूप में उपयोगी है। "सद्बुद्धिप्राप्त आत्मा पुण्य और पाप दोनों को इस संसार में ही छोड़ जाती है।" आध्यात्मिक गुणों का विकास किए बिना आध्यात्मिकता का दिखावा करने से कोई लाभ नहीं है। जो लोग संसार से बाहर रहते हैं और दिव्य शक्ति के उपकरण बन जाते हैं, वे महान कार्य करते हैं। बिना यह जाने कि हम क्या करते हैं और कैसे करते हैं, इधर उधर भागते फिरना खाली हलचल

---

१ ३९ ५
२ १
३ -२
४ १९-२५
५ ९-२

लगभग २५ वर्ष पहले यूनानियों ने यह धारणा विकसित की थी कि शासकों को जनता का सेवक होना चाहिए। सत्ता (अधिकार) का पद प्राप्त करने के योग्य होने के लिए पहले उन्हें सम्पत्ति का विचार त्याग देना पड़ता था, मित व्यय और तपस्या का जीवन बिताना पड़ रहा था और विशेष शिक्षा ग्रहण करनी होती थी। इस प्रशिक्षण का स्थान अकादमी कहलाता था। जिस संस्था की स्थापना इस उद्देश्य से हुई थी कि वह उस समय यूनानी जगत् को ज्ञात व्यावहारिक उद्यम की अपेक्षा अधिक अच्छे उद्यम की शिक्षा दे सके, यदि उसका नाम अव्यावहारिक जीवन के साथ जोड़ दिया जाए, तो इससे मानव-प्रकृति की विडम्बना ही प्रकट होती है।

दुर्भाग्य से ईसाई नीति-शास्त्र कभी भी स्पष्ट रूप से इस संसार के जीवन का भाग नहीं रहा।[1] प्रारम्भिक चर्च इस पृथ्वी पर के जीवन को नये जीवन की प्रतीक्षा

अधिक उन्नति हो सकेगी और वह अपने देश का गौरवस्तम्भ [illegible] जन्मभूमि बन सकेगा।

—'रिपब्लिक' ४९९

१ भोजन और मद्यपान के प्रेमियों के लिए जो इसका मार्मिक और विशद [illegible] की बिल्कुल शून्यता का सूचक है, ईसाइयत के पास कोई सन्देश नहीं है। इन्होंने कहा है, 'एक समय में एक ही संसार।' अपनी [illegible] भाष्यमाला में प्रोफेसर [illegible] मैकनील ने यह प्रश्न उठाया है, 'यौन प्रेम (पुरुष और स्त्री के प्रेम) के सम्बन्ध में ईसाइयत के पास कहने को क्या है? और इसके उत्तर में कहा है, 'लगभग कुछ भी नहीं, एक शब्द भी नहीं या केवल एक अपमानजनक शब्द।' पादरी-पुरोहितों के पास स्त्रियों या प्रेमी-प्रेमिकाओं के सम्बन्ध में कहने को अपमानजनक बातें कम ही थीं। वे ब्रह्मचर्य की प्रशंसा करते हैं, उसे श्रेष्ठ बताते हैं। [illegible] ने स्त्रियों के सम्बन्ध में कहा था कि 'वे [illegible] हैं,' और विवाह के सम्बन्ध में सन्त पॉल की उक्तियों से तो हम सब परिचित हैं। फिर भी यह [illegible] विषय है जिसकी ओर कवियों और कलाकारों का ध्यान [illegible] किसी भी विषय की अपेक्षा अधिक रहा है। यह एक ऐसी भावना है जो सब जीवन के मूल में विद्यमान है और जो अन्य सब भावनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक [illegible] है। इसके सम्बन्ध में [illegible] ने कहा है कि '[illegible] अभिव्यक्तियों में [illegible] का [illegible] है' जिसने संसार को महान् [illegible] के लिए मूल सामग्री प्रदान की है, जिससे प्रत्येक [illegible] भाग है, जो सारे [illegible] से भी अधिक [illegible] और [illegible] को जन्म देता है, जो [illegible] में महत्त्वपूर्ण भाग लेता है, जो [illegible] में [illegible] रहकर [illegible] में [illegible] व्याप्त रहती है, पारिवारिक [illegible] को जन्म देता है, जो हमारे [illegible] के प्रत्येक पद के साथ सम्बन्ध स्थापित किए हुए है, जो हमारे [illegible] के प्रत्येक दिन में [illegible] विश्वासघातों, आत्मबलिदान और वीरता की घटनाओं के लिए प्रेरक [illegible] है जो [illegible] से [illegible] दिया [illegible] है और जो [illegible] के सभी [illegible] में विद्यमान रहता है। ऐसे [illegible] विषय, जिसकी कि नैतिक [illegible] सर्वथा [illegible] है, ईसाई ग्रन्थों में एक विलक्षण मौन का [illegible] है।' (१९१७, पृष्ठ १०-११)। वह और आगे कहता है, 'परन्तु [illegible] के विषय में भी इनमें ऐसा ही [illegible] है। परमात्मा की सृष्टि में इसके स्थान की उपेक्षा कर दी गई है। इसके विषय में यह नहीं समझा गया कि '[illegible] से [illegible] कुछ [illegible] है, [illegible] है, [illegible] दया और प्यार की आवश्यकता है या [illegible]

का स्वप्न-सा समय मानकर चलता था। उस नए जीवन की "जब हम लोग जो कि जीवित हैं और जीवित रहेंगे, ऊपर बादलों में जा पहुँचेंगे।"[1] मध्ययुग में संसार को प्रलोभनों की घाटी के रूप में समझा जाता था, जिसमें से प्रत्येक व्यक्ति को गुजरकर न्याय की घाटी में पहुँचना होता है। ईसाई जीवन केवल किसी मठ में या कॉन्वेंट में ही बिताया जा सकता है। प्रोटेस्टेंट पंथिकतावादियों का संसार में रहनेवाले औसत आदमी पर ईसाई जीवन को थोपने का प्रयत्न असफल रहा। एक नियम को मानना और आचरण किसी दूसरे नियम के अनुसार करना हममें से अनेक लोगों के औसत जीवन की सर्वाधिक स्पष्ट विशेषता बन गई है। ईसाइयत ने दुनिया के साथ समझौता कर लिया। कभी-कभी ईसा के इस वचन की "जो वस्तुएं सीज़र (उस समय का रोमन सम्राट्) की हैं, उन्हें सीज़र को दो और जो वस्तुएं परमात्मा की हैं, उन्हें परमात्मा को दो" व्याख्या इस रूप में की जाती है मानो इससे दुरंगा व्यवहार करने की अनुमति मिल जाती हो। धर्म और राजनीति की अलग-अलग क्षेत्र हैं और उन क्षेत्रों के बीच में एक खाई बनी हुई है। इन दोनों क्षेत्रों के विचार, अनुभूति और आचरण के अपने अपने प्रमाप (स्टैंडर्ड) हैं। परमात्मा के राज्य का आध्यात्मिकता से शून्य मनुष्यों और उनके भ्रष्ट उत्तप्त विचार से कोई सरोकार नहीं। धार्मिक मनुष्य इस संसार को सहन कर सकता है, इसमें जैसे-तैसे गुजारा कर सकता है, परन्तु चूंकि वह यहां केवल कुछ देर के लिए ठहरा हुआ है, उसे इस संसार के निकट भी नहीं जाना चाहिए, ताकि वह

जीवन में उनका कोई भाग है। हमें बताया गया है कि पृथ्वी पर मृत्यु पाप के कारण आई; और यद्यपि पशुओं ने पाप में कोई भाग नहीं लिया, मृत्यु में और मृत्यु के परिणामों में वे भाग लेते हैं। न यही प्रतीत होता है कि उनके किसी प्रकार के कोई अधिकार हैं और न उनके प्रति हमारे कोई कर्तव्य ही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हम उनके साथ जैसा चाहें व्यवहार कर सकते हैं। (वही पृष्ठ ११)। स्वर्ग में अपने सेवकों, दासियों, कुत्तों या घोड़ों से हमारी भेंट नहीं होगी।

[1] इस कथन से तुलना कीजिए, जो ईसा का बताया जाता है और फतहपुर सीकरी की मस्जिद में दरवाजे की मेहराब पर खुदा हुआ है: संसार एक पुल है; इस पार कर जाओ पर इसपर अपना घर मत बनाओ। यह दुनिया सिर्फ घड़ी-भर रहनेवाली है, इस समय को भक्ति में बिताओ।

[2] न्यूमैन लिखता है: 'जब तुम्हारे प्रति विरोध और अपमान किया जाए तो सोचो कि संसार की रीति ही यह है, यदि तुम संसार में जीना चाहते हो, तो तुम केवल इसी वस्तु की आशा कर सकते हो। तुम यह आशा नहीं कर सकते कि तुम्हारा हाल कुछ उससे अच्छा होगा, जैसाकि ईसा का हुआ था। अगर तुम भेड़ियों के बीच में रहना चाहते हो तो तुम्हें उनके साथ रोना होगा। हम एक ऐसी जगह में छिपा दिए गए हैं, जिसका अधिकारी शैतान है और अधिकारिणी यह दुनिया है और इस प्रकार की दुर्भाग्यपूर्ण धारा के बीचोंबीच हैं—और ये उनके सब कामकाज (धर्म) के विरुद्ध हैं। —[illegible]'

कहीं मलिन न हो जाए। परन्तु यह अग्राह्य दृष्टिकोण है। भीतर की वस्तुओं का सम्बन्ध परमात्मा की वस्तुओं से होना चाहिए। आध्यात्मिक मूल्य (मान्यताएं) सांसारिक जीवन में रमे रहने चाहिए। धर्म आत्मा के रोगों (उपद्रवों) के लिए कोई अधीमिश्रित शामक औषधि नहीं है। यह तो सामाजिक प्रगति के लिए गति देनेवाली शक्ति है। जब तक हमें एक आन्तरिक व्यवस्था में आस्था न होगी तब तक हम स्थायी बाह्य व्यवस्था का निर्माण नहीं कर सकते। धर्म इतनी लोकोत्तर वस्तु नहीं है कि उसका मानव-जीवन के साथ कोई सम्बन्ध ही न हो। अपनी अन्तर्दृष्टि के क्षणों में हम मनुष्य के अन्तिम लक्ष्य को समझ पाते हैं और हमें निश्चय होता है कि अन्त में विजय उसीकी होकर रहेगी। यदि ऐसी घटनाएं भी घटती हों जिनसे यह प्रतीत होता हो कि यह विश्व प्रयोजन निष्फल रहेगा तो भी हम हताश नहीं होते। जिसे उच्चतम लक्ष्य की झलक मिल चुकी है, वह अपनी ओर से उस लक्ष्य की सफलता के लिए भरसक प्रयत्न करता है। परमात्मा के उद्देश्य को जान लेने के कारण उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उसे पूरा करे। भविष्यदर्शी (पैगम्बर) लोग सदा पहले से स्थापित व्यवस्था का विरोध ही करते रहे। वे शान्ति को भंग करनेवाले लोग थे। इस विश्वास के साथ कि विश्व उनके उद्देश्य का समर्थन करेगा वे सांसारिक शक्तियों से विरुद्ध जूझ पड़े और कष्ट सहते रहे। सब महान उपलब्धियां (सफलताएं) कष्ट सहन और बलिदान से ही प्रसूत हैं। यदि हम संसार में फंसे रहेंगे तो हममें कोई मौलिकता नहीं होगी और हम समाज या मानव-प्रकृति को किसी नये सांचे में नहीं ढाल पाएंगे हम अज्ञात में अन्वेषण-यात्राएं नहीं कर पाएंगे और राजनीति तथा समाज के विषय में हमारे विचार निर्जीव और यन्त्रनिर्मित से होंगे। सच्चे धार्मिक व्यक्ति को मानवीय वास्तविक तथ्यों की सुनिर्दिष्ट अनुभूति होगी। हेगल का आदर्शवाद जो क्रम का तत्कालीन स्थानापन्न था उस समय विद्यमान प्रशियन राज्य को परमात्मा के राज्य से अभिन्न मानता था। जो राज्य सार्वभौम और शाश्वत है उसे परमात्मा के राज्य के प्रति द्रोह किए बिना किसी भी सांसारिक राज्य के अधीन नहीं किया जा सकता। गिजोट (गिज़ो) ने यूरोपियन सभ्यता का अन्य सब सभ्यताओं से वैषम्य बताते हुए कहा है कि यूरोप में कोई भी सिद्धान्त विचार, समुदाय या वर्ग कभी भी अन्तिम और पूर्ण रूप से विजयी नहीं हुआ और यूरोपियन सभ्यता के

---

१ [illegible] से तुलना कीजिए "संसार का निर्माण दुःख में ही हुआ है शिशु या तारे (नक्षत्र) के जन्म के समय वेदना होती ही है। — टि मोलनिस

आधुनिक भारत के सन्तों में से एक को जब फांसी के लिए ले जाया जा रहा था तब उसके दो शिष्यों की एक चौपाई कविता में उस आश्चर्यजनक तथ्य को प्रकट किया "मरना भी [illegible] पूर्ण बने रहने की अपेक्षा [illegible] टुकड़े-टुकड़े हो जाना कहीं अधिक अच्छा है।

प्रगतिशील स्वरूप का कारण भी यही है।

यदि आत्मा स्वच्छ हो और प्रेम प्रगाढ़ हो तो हम उस उच्च सत्ता में जिसे हम परमात्मा कहते हैं श्रद्धा रखते हुए ससार मे कार्य कर सकते हैं। सन्त आत्माएं मनुष्य के कष्टों के प्रति सवेदनशील होती हैं और जीवन के बोझ को अपने बोझ की ही भांति अनुभव करती हैं। उनकी वेदनाभक्ति विश्वव्यापी होती है उनकी दृष्टि में युद्ध मानवता का अपने ही विरुद्ध वो मार्गों में विदीर्ण हो जाना है जो बहुत ही कुत्सित है क्योंकि प्रेममय दयालुता ही सर्वोच्च सौन्दर्य है। हमें जीवन के सर्वोत्कृष्ट विशेषाधिकार का उपयोग इस ढंग से करना चाहिए कि विश्व की सृजनशील ऊर्जा हममें सजीव हो उठे यह हमारे शरीर को अपने वरन रूप में धारण कर सके अपने-आपको हमारी चेतना द्वारा क्रियान्वित कर सके और परिवेश पर विजय पा सके।

धार्मिक जीवन के विकास के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य व्यावहारिक गतिविधि से विरत हो जाए, जिससे बौद्धिक या भावात्मक चिंतन की एकाग्रता हो पाए। धार्मिक जीवन निवर्तन (पीछे हटना) और पुनरावर्तन की एक सजबद्ध गति है व्यक्तिगत एकान्त म निवर्तन जो विचार और चिन्तन की आवश्यकता का द्योतक है और समाज के जीवन में पुनरावर्तन। एकान्त की गतिविधि दो रूप धारण करती है बौद्धिक जो दर्शन और धर्मविज्ञान की ओर ले जाती है और भावात्मक जो कला और रहस्यवाद में जाकर परिणत होती है। ये दोनों धार्मिक जीवन के प्रवयवसूत्र भय हैं व्यक्ति की पृथक और स्वतन्त्र गतिविधियां नहीं हैं। जब भी कभी हमें विफलता अनुभव हो रही हो अपनी ऊर्जा क्षीण होती हुई शक्ति दुर्बल पड़ती हुई अनुभव हो रही हो और ऐसा लगता हो हम स्नायवीय विक्षेप (नर्वस ब्रेकडाउन) के छोर पर खड़े हैं तो हमे प्रार्थना और ध्यान की शरण लेनी चाहिए। ईसा के मौन सीधे तौर पर शक्ति को फिर तरोताजा कर देने से सम्बद्ध थे। यहां किया पर और बैतूलो के शिखर के बाद मे उसकी प्रार्थना की रात्रियां शक्ति प्राप्त करने के लिए ही बीती थी। जो लोग भगवान के निकट 'प्रतीक्षा' करेगे उनकी शक्ति अवश्य 'फिर नई' हो जाएगी। 'तुम्हें शक्ति निस्तब्धता और विश्राम (एकान्त) में प्राप्त होगी। मादाम गुयो के शब्दो मे ये "परमात्मा के साहचर्य म बिताई हुई सृजनशील घडियां" हैं। सभी ईश्वरनिष्ठ व्यक्तियों के जीवन में हमे यह लयबद्ध गति दिखाई पड़ती है दबाव और तनाव की ओर से निश्चेष्टता और चिन्तन की ओर, तूफान से निस्तब्धता की ओर तथा सघर्ष से शांति की ओर मूले की सी गति और सभी जगह एकान्त में जो दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है, वही सूझना मे भी जीवन का पथ प्रदर्शन करती है। दिव्यदृष्टिसम्पन्न मनुष्य अपने स्वप्नो की वास्तविकता के तन्तुओ मे गूथ देते हैं। उनका यश अपने अस्तित्व के ऊपर विजय पाने का होता है उससे बचकर भाग खड़े होने का नहीं। निरपेक्षता

या तन्मयता को ऊंचा नहीं बताया गया अपितु साम्यावस्था (समतुलन) को ऊंचा कहा गया है। इस संसार का जोकि मतभेदों या झगड़ों का क्षेत्र है उद्धार केवल अन्तर्दृष्टि द्वारा ही हो सकता है।

वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही पहलू अत्यावश्यक हैं। व्यक्ति को कभी भी समाज द्वारा या अनेक मध्यवर्ती समूहों में से किसीके द्वारा पूर्ण समावेशन (अपने साथ संयुक्त कर लेना) का वशवर्ती नहीं होना चाहिए। समाज की शक्ति सबल व्यक्तियों की शक्ति से ही बनती है। यदि व्यक्तित्व जाता रहे तो समझो कि सब कुछ जाता रहा। आधुनिक मनुष्य को बिना अपनी सामाजिक चेतना या अन्तःकरण को गंवाए, अपने अन्दर व्यक्तिगत पहल करने के एक स्रोत को खोज निकालना चाहिए, जो इतना सबल हो कि सामाजिक निरंकुशताओं (तानाशाहियों) का सामना कर सके।[1]

धर्म का उद्देश्य चिन्तन या ध्यान-समाधि नहीं है अपितु जीवन की धारा के साथ एकात्म्य स्थापित करना और इसलिए सृजनात्मक प्रगति में भाग लेना है। धर्मपरायण मनुष्य उसके ऊपर उसकी भौतिक प्रकृति या सामाजिक व्यवस्था द्वारा थोपी गई मर्यादाओं से ऊपर उठ जाता है और सृजनात्मक उद्देश्य को विशालतर बनाता है। धर्म एक गत्वर (गत्यात्मक) प्रक्रिया है सृजनशील तीव्र मनोवेग के नवीकृत प्रयास को असाधारण व्यक्तियों के माध्यम से कार्य करता है और जो मानव-जाति को एक नये स्तर तक उठाने के लिए प्रयत्नशील है। यदि सामाजिक निरपेक्षतावाद को रहस्यवाद का परिणाम बताया जाता है, बुरा है तो यान्त्रिक साम्यवाद भी उतना ही बुरा है। मार्क्स का मुख्य दावा यह है कि वह हमें स्वयं को समष्टि के आध्यात्मिकीकरण के लिए समर्पित कर देने को प्रेरित करे। मानवीय आत्मा को स्वतन्त्रता दिलाकर हम केवल उस एकमात्र पद्धति द्वारा संसार को उत्कृष्टतर बनाते हैं जिससे कि इसे बनाया जा सकता है और वह है आन्तरिक पद्धति।

नई व्यवस्था

यदि धर्म को ढंग से समझा जाए और ठीक ढंग से उसपर आचरण किया जाए, तो उससे एक गहरा नवीकरण एक शान्तिपूर्ण क्रान्ति हो सकती है एक आधुनिक कवि के शब्दों में "गम्भीरतम परम्परा के साथ के लिए बुराइयों पर विजय" प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य अभी इतिहास के आरम्भ पर ही है अन्त पर नहीं वह प्रेम और भक्ति का सत्य और सृजनशीलता का एक भण्डार रखने

---

१ [illegible] जो देखने में परस्पर-विरोधी प्रतीत होती हैं, वस्तुतः एक-दूसरे की पूरक हैं। इनमें से पहला कहता है कि "प्रत्येक व्यक्ति का समाज के साथ वही सम्बन्ध है जो किसी एक भाग का सम्पूर्ण सत्ता (समष्टि) से होता है" और दूसरी कहती है कि "मनुष्य अपने समूचे अस्तित्व या अपनी सब वस्तुओं की दृष्टि से राजनैतिक समाज का अंग नहीं है।"

के लिए प्रयत्नशील है एक ऐसा संसार, जो सही अर्थों में अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है।

हमारे धार्मिक नेता घोषणा करते हैं कि वे एक धर्मयुद्ध (जिहाद) में जुटे हुए हैं। उनकी यह इस प्रकार की घोषणा कोई पहली बार नहीं हो रही। वे इस बात को जोर देकर कहते हैं कि यदि हम इस युद्ध को न जीत पाए, यदि हम नात्सीवाद के अत्याचार को उखाड़ न फेंकें तो संसार फिर एक नये अन्धकार-युग में जा पड़ेगा जिसमें विज्ञान की शक्ति का लाभ गुंडे उठा रहे होंगे और वे करोड़ों लोगों को अज्ञान और दरिद्रता में पटक देंगे। वे घोषणा करते हैं कि हिटलर की विजय का अर्थ होगा प्राचीन अन्धकार में से महा विप्लव (असभ्यता) का पुन: प्रादुर्भाव जो मानव-जाति की सुस्थिरता और सुव्यवस्थित समाज की ओर कष्टपूर्ण उन्नति को यदि उलट नहीं भी देगा तो भी उसमें बाधा अवश्य डाल देगा। हमें बताया जाता है कि यह युद्ध ईसाई सभ्यता और धर्महीन पाशविकता के बीच प्रजातन्त्र और तानाशाही के बीच युद्ध है। परन्तु थोड़ा ध्यान से सोचने पर पता चलता है कि वैषम्य इतना स्पष्ट नहीं है। वर्तमान व्यवस्था को न तो ईसाई ही समझा जा सकता है न सभ्य ही और यहां तक कि न सच्चे तौर पर प्रजातन्त्रीय ही समझा जा सकता है। साम्यवादी परम्परा जिसपर हम गर्व नहीं हो सकता प्रत्येक राष्ट्र में विद्यमान है और अपने अपराधों को वैध ठहरा रही है। सम्पत्ति और विशेषाधिकारों का वह ढांचा जिसके परिणामस्वरूप बहुत अमीरी और बहुत गरीबी उत्पन्न होती है और जो लगभग सभी देशों में विद्यमान है अन्यायपूर्ण है। जाति की असमानता आधुनिक साम्राज्यवाद का आधार है। हमने आबादियों (जनसंख्या) के विषय में भी व्यापार की सी भावना बना ली है और जो लोग व्यापारों पर स्वामित्व कायम करना चाहते हैं उनमें संघर्ष अवश्यम्भावी है। राष्ट्र एक विश्व-समाज के सम्भावित सदस्य माने जाने के बजाय ऐसी यान्त्रिक शक्तियां समझे जाते हैं जो एक-दूसरे से संघर्ष करती हैं और राष्ट्रीय नीतियां इस चिन्ता द्वारा प्रेरित होती हैं कि किसी प्रकार इन शक्तियों में सन्तुलन बनाए रखा जाए। यदि हम नात्सीवाद को पराजित कर भी दें तो भी जब तक जिसे ईसाई सभ्यता में प्रजातन्त्र कहा जाता है उसमें ये बुराइयां जारी रहेंगी तब तक स्थायी शान्ति नहीं हो सकती। १९१८ की सैनिक विजय से यह बात स्पष्ट है कि सैनिक विजय अन्तिम सफलता नहीं है। यदि प्रजातन्त्र में हमारी श्रद्धा के अनुसार ही हमारे काम भी हुए होते तो इस वर्तमान युद्ध से बचा जा सकता था। १९१९ से १९३९ तक के वर्षों में विजयी शक्तियों ने इंग्लैंड के जर्मन प्रजातन्त्र की जड़ में मट्ठा डाला निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के प्रयत्नों में रुकावट डाली लीग के प्रतिज्ञा-पत्र की सामूहिक सुरक्षा को निर्जीव कर दिया और चीन, अबीसीनिया स्पेन और अन्त में म्युनिख में सैनिक आक्रमण से मौन सहमति प्रकट की। इंग्लैंड ने भार एवं

रूस के साथ हुई अपनी भेंट में भविष्यदर्शिता की सी स्पष्टता के साथ हम युद्ध की ओर ले जानेवाले मार्ग का भविष्य में ही देख लिया था "उसने पश्चिमी शक्तियों की और विशेष रूप से ब्रिटेन की शिकायत की। उसने अपने अंग्रेज दर्शनार्थी को बताया कि मैंने जर्मनी की असली प्रतिपक्ष जनता को अपनी नीति के पक्ष में कर लिया है। उसने जर्मनी का लीग आफ नेशन्स का सदस्य बनवा दिया था। उसने लोकार्नो के समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए थे। वह देता गया, देता गया, देता गया यहां तक कि उसके देशवासी उसके विरुद्ध हो गए। यदि तुम लोगों ने मुझे एक भी रियायत दे दी होती, तो मैं लोगों को अपने साथ खींच लेता। मैं अब भी ऐसा कर सकता हूं। परन्तु तुम लोगों ने कुछ भी नहीं दिया और जो नगण्य-सी छोटी-मोटी रियायतें दीं भी, वे भी सदा बहुत देर में दीं। और अब पाशविक शक्ति के सिवाय और कुछ बचता नहीं है। अब भविष्य नई पीढ़ी के हाथ में है और जर्मनी के युवकों को, जिन्हें शान्ति और नवीन यूरोप के पक्ष में किया जा सकता था, हम दोनों ही खो चुके हैं। यह मेरी विपत्ति है और तुम्हारा अपराध।"[1]

मानवता उस व्यवस्था से उभरकर बाहर आने के लिए संघर्ष कर रही है जिसका समय पूरा हो चुका है। यदि हम पुरानी व्यवस्था को ही फिर स्थापित करने का प्रयत्न करें और कोई ऐसा नया आधार न खोजें जिसके ऊपर मानव-जीवन का निर्माण किया जाए, तो यह युद्ध लड़ना व्यर्थ रहेगा। नये संसार को, जोकि अत्यधिक वैज्ञानिक और यन्त्रीकृत है, एक नई रीति के बर्ताव की आवश्यकता है और उसके लिए मन और हृदय में एक ऐसे नये परिवर्तन की जरूरत है जिसके द्वारा हम इस संसार का पथप्रदर्शन कर सकें, इसे नियन्त्रण में रख सकें और इसका मानवीकरण कर सकें। हम किसी एक दल-विशेष के लिए कार्यक्रम नहीं चाहते, अपितु जनता के लिए एक जीवन-पद्धति चाहते हैं; समझौते (ऐडजस्टमेण्ट ऐंड सैटलमेंट) या एक नया समूह नहीं, अपितु मनुष्य के हृदय की ही एक नई धारणा चाहते हैं।

यह स्थानीय और सामयिक प्रश्नों को एक ओर छोड़कर, अविलम्ब भविष्य

---

1. न्यू स्टेट्समैन ऐण्ड नेशन, २८ मार्च, १९४१। आज विल्सन यही भावपूर्वक कहता है "आज यूरोप में जो कुछ हो रहा है उसके लिए हम अंग्रेज लोग सबसे अधिक जिम्मेदार हैं। युद्ध-विराम-संधि पर हस्ताक्षर होने के बाद जर्मनी को भूखों मारने का दायित्व मुख्य रूप से हमपर है। शान्ति-संधि का दायित्व भी मुख्य रूप से हमपर है जिसमें वह अन्यायपूर्ण और अपमानपूर्ण अनुच्छेद रखा गया था जिसके द्वारा जर्मनी को विवश किया गया था कि वह युद्ध का सारा दोष अपने सिर ले, यद्यपि युद्ध का दोष हम सब का भी उतना ही था जितना कि जर्मनी का। यह मुख्य रूप से हमारा अन्याय ही था, हमारा नैतिकता और मानवता के उन सिद्धान्तों के प्रति, जिन्हें हम स्वीकार करने का दावा करते हैं, विश्वासघात ही था जिसने कि जर्मनी का सब कुछ नष्ट कर दिया है, जिसकी क्षतिपूर्ति करने की हम व्यर्थ चेष्टा कर रहे हैं।" डिक्लाइन ऐण्ड रिवाइवल (१९४१), पृष्ठ ९८, १००

की समस्या भौतिकवाद की शक्तियों के जो मानवीय भ्रातृत्व को व्यावहारिक रूप मे क्रियान्वित होने देने के विरोध मे कार्य कर रही हैं, और अव्यक्त आध्यात्मिक शक्तियों के जो उसके पक्ष मे कार्य कर रही हैं बीच की समस्या है। भौतिकवाद प्रजातन्त्रो और अधिनायकतन्त्रो (तानाशाहियो) दोनो मे ही मजबूती से पैर जमाए हुए है यह मन्दिरो और गिरजाघरो मे तथा कार्यालयो और बाजारो मे दृढ़ता से जमा हुआ है।

वह जीवन का कौन-सा दर्शन (विचारधारा) है, जिसके लिए हम लड़ रहे हैं? वह राष्ट्र-समुदाय की कौन-सी सरचना (ढाचा) है जिसे पूर्ण विजय प्राप्त करने के बाद ब्रिटेन रूस और अमेरिका खड़ा करने का प्रयत्न करेंगे? सरकारो के उद्देश्यो को वे किस प्रकार विश्वासतर बनाएगे? तोपो और टैको से विमानों और युद्धपोतो से हम शत्रु को भले ही परास्त कर दे किन्तु जीतकर स्थायी शान्ति स्थापित नही कर सकते। हमे प्रत्येक मानव प्राणी को उसकी अपनी आत्मा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने देना होगा और प्रत्येक राष्ट्र को चाहे वह अशक्त हो या सशक्त छोटा हो या बड़ा जीवन और परीक्षण की स्वतन्त्रता का अधिकार देना होगा। आत्मिक परम के रूप मे प्रजातन्त्र इस बात के लिए विवश करता है कि समाज का रूपान्तर किया जाए। यदि हमे नये सौन्दर्य और नये अर्थवाले जीवन का विकास करना है तो वह केवल आध्यात्मिक शक्ति की नई धारा फूट पड़ने के परिणामस्वरूप ही हो सकता है जैसे बहुत समय पहले मिस्र और भारत म हुआ था बाद मे बौद्ध धर्म के प्रचार के बाद के दिनो मे यूनान चीन और जापान मे हुआ था और उत्तरी यूरोप मे मध्ययुग की उन दो शताब्दियो मे हुआ था जब रहस्यवादी धर्म का प्रभुत्व था। श्रद्धा पर केवल श्रद्धा ही विजय पा सकती है।

हम सब चिल्ला-चिल्लाकर यह आशा प्रकट कर रहे हैं कि ऐसी बात फिर कभी नही होने पाएगी। हमने ये शब्द तब कहे थे जब १ १४ मे नेपोलियन हमारा शत्रु था १९१४ मे कैसर के विरुद्ध अपनी घृणा प्रकट करते हुए हमने कहा था 'ऐसा फिर कभी नही होने पाएगा। आज हम उन्ही शब्दो को फिर दुहरा रहे हैं और उन्हे सुनकर हमारे श्रोता खुशी से तालियां बजाते हैं। हर बार हम तोते की तरह इन शब्दो की रट लगाते हैं कि हम यह महान युद्ध सभ्यता और मानव के लिए लड़ रहे हैं। युवक लोग इस भ्रम मे पड़ जाते हैं कि जब यह युद्ध समाप्त हो जाएगा और विजय प्राप्त हो जाएगी तब उनके सम्मुख एक नया जीवन और एक युद्धहीन ससार होगा और उसकी रचना की आकृति व्यर्थ नही होगी। परन्तु इन बातों का तो कहीं कोई चिह्न नही है। यदि ससार का कार्यभार विचारशील और अन्त करण वान नर-नारी न लेंगे तो हमे सुधार के विषय म भरोसा नही हो सकता अपितु अपने बच्चो के लिए केवल चिन्ता ही रहेगी जिन्हे अगली पीढ़ी मे फिर आग और ज्वाला का मृत्यु और विनाश का सामना करने के लिए विवश किया जाएगा।

इस बात की क्या निश्चितता है कि १९१८–३९ के वर्षों का इतिहास फिर नहीं दोहराया जाएगा? जब तक हम यूनानियों की 'नगर-राज्य' की, यहूदियों की 'चुनी हुई जाति' की और आधुनिक यूरोप की 'राष्ट्र राज्य' की परम्परा को बनाए रखेंगे तब तक हम युद्धों से बच नहीं सकते। मानव-जाति एक इकाई बनने के लिए बनी है। मनुष्य बालू के कणों की भांति एक-दूसरे से पृथक नहीं है। हम अङ्गाङ्गी रूप से एक सजीव एकता में बंधे हैं। इस एकता को केवल प्रेम की भावना ही सचेत बना सकती है। हममें स्वभाव और परम्परा के अन्तर अवश्य हैं, किन्तु यह विविधता समष्टि के सौन्दर्य को बढ़ा देती है। यदि मानव-जाति की एकता की अनुभूति कुण्ठित हो जाती है, यदि नैतिक विधान की एकता की चेतना क्षीण पड़ जाती है, तो स्वयं हमारी प्रकृति कलंकित होती है। राष्ट्र सामूहिक जीवन के वे रूप हैं, जो मानवीय इतिहास के प्रवाह को गढ़ते हैं, परन्तु उनमें अन्तिम या परम जैसी कोई बात नहीं है। जो राष्ट्र राजनीतिक दृष्टि से पराधीन हैं, उनकी स्वतन्त्रता की मांग समझ में आनेवाली चीज है। मनुष्यों की एक जाति पर किसी दूसरी जाति द्वारा शासन शासित लोगों के सम्मान और गौरव से असंगत है, इसीलिए विश्व की शांति और कल्याण से भी असंगत है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीयता मानवीय स्वभाव का कोई जन्मसिद्ध सार्वभौम मनोभाव नहीं है। यह राष्ट्रीयता यूरोप की जातियों में सबसे अधिक प्रबल है, जो 'धर्म-सुधार' (रिफोर्मेशन) के इतिहास के पश्चात् की चार शताब्दियों की उपज है। फिर, राष्ट्रीयता को सरलता से राजनीतिक प्रभुता से अलग किया जा सकता है। राजनीतिक प्रभुता राष्ट्रीयता के साथ आवश्यक रूप से संयुक्त वस्तु नहीं है। यदि प्रत्येक राष्ट्र अपनी इच्छा का प्रभुत्वसम्पन्न स्वामी हो, यदि अपने उद्देश्य का वही अन्तिम निर्णायक हो, यदि वह अपने बनाए विधान से उच्चतर किसी विधान को न मानता हो, तो वह केवल शक्ति और अधिकार बढ़ाने की दृष्टि से ही सोचेगा और अन्य सब हितों को शक्ति-संगठन के हितों की अपेक्षा गौण कर देगा। मनुष्यों का कोई भी समाज, जो एकता और समस्वार्थता की भावना से अनुप्राणित हो, राष्ट्र होता है। यह भावना साझे जातीय, भाषामूलक, धार्मिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक या आर्थिक आधारों में बद्धमूल हो भी सकती है, और संभव है कि न भी हो। राष्ट्र के सम्बन्ध में कुछ भी बात नियत (स्थिर) या स्थायी या सुनिश्चित नहीं है। कुछ की रचना परम्परा के आधार पर हुई है, और कुछ विरोधी परम्पराओं के होते हुए भी राष्ट्र बने हुए हैं। कुछ भाषा के आधार पर बने हैं, जबकि कुछ अन्य भाषा के आधार पर नहीं हैं। राष्ट्र साझे इतिहास की परम्पराओं द्वारा बनते हैं। इतिहास मान्यताओं (मूल्यों) की श्रेणी की वस्तु है। जैसाकि ह्यूमीडा हरीज ने कहा है, यह "एक ऐसी सम्पत्ति है, जिसपर सदा के लिए कब्जा रहता है।" मान्यताओं के साझे अनुभव के अभाव में कोई इतिहास होता ही नहीं। किन्तु मानव-समाज के समृद्धतर और पूर्णतर जीवन के लिए पृथक राष्ट्र जो सांस्कृतिक

उन्नति का पोषण करते हैं, परमावश्यक हैं। 'मनुष्य अपने पड़ोसियों से कुछ ऐसी वस्तु की अपेक्षा करते हैं जो इतनी काफी सदृश (मिलती जुलती) हो कि समझी जा सके, कुछ ऐसी वस्तु की जो इतनी काफी भिन्न हो कि ध्यान आकृष्ट करे, और कुछ ऐसी वस्तु की जो इतनी काफी महान हो कि श्रद्धा की पात्र बने।'[१] राष्ट्रीय समाजों की नैतिक प्रामाणिकता न्यायसंगत है। राष्ट्र वे स्वाभाविक और आवश्यक रूप हैं जो व्यक्ति और मानव-जाति के बीच मध्यवर्ती पड़ाव समझे जा सकते हैं।

हम इस समय सभ्यता के ऐक्य के काल में हैं। इस शताब्दी के प्रारम्भ होने तक परिवहन और संचार (सम्पर्क-स्थापन) की कठिनाइयों के कारण संसार की जातियां समुद्रों, नदियों और पहाड़ों की भौतिक रोकों द्वारा पृथक कर दिए गए प्रदेशों में रहती थीं और अपना-अपना समूह-जीवन स्वतन्त्र रीति से विकसित करती थीं। उस समय सभ्य जीवन के विकास के लिए जन्मभूमि के प्रेम से पूर्ण उत्कट देशभक्ति और सांस्कृतिक परम्परा के प्रेम से पूर्ण उत्कट राष्ट्रीयता स्वाभाविक आवश्यकताएं थीं। आदिम आर्थिक विकास ने अपरिचितों के प्रति विरोध की मनोवृत्ति को पुष्ट किया जो आत्मसंरक्षण के लिए आवश्यक समझी गई थी। *आज वैज्ञानिक आविष्कारों ने सारे संसार को एक निकट सहभाव में ला रखा है।* हमारा ज्ञान, हमारी विचार की आदतें, विश्व के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण, हमारी सबसे अमूल्य सम्पत्तियां, हम तक सभी राष्ट्रों से पहुंचती हैं। यदि वे स्वयं ऐक्य स्थापित न भी करती हों, तो भी वे ऐक्य के अनुकूल दशाएं अवश्य उत्पन्न कर देती हैं। संसार की यह नई बढ़ती हुई परस्पर संयुक्तता लोगों से अपेक्षा करती है कि वे नई सहिष्णुता और साहचर्य की भावना लेकर परस्पर निकट आ जाएं। हमें अपने-आपको एक ही परिवार का सदस्य समझना चाहिए और एक सबल विश्व-शक्ति में हिस्सा बटाना चाहिए, जो हमारी राष्ट्र-भक्तियों का स्थान छीने बिना उनकी पूरक बनती है। हम धीरे-धीरे एक ही सभ्यता के सदस्य बनते जा रहे हैं, इसलिए हमारे अपराध घरेलू दुर्घटनाएं (ट्रैजेडी) हैं और हमारे युद्ध गृह-युद्ध हैं। जब हमने चीन में दमकते हुए सभाओं को इथियोपियावासियों की असहायता को और स्पेन में फासिस्टों और कम्युनिस्टों की असमान प्रतियोगिताओं को देखने से ही इनकार कर दिया और जब हमने निर्दोष दुर्बल की बलि देकर और दोषी बलवान की सहायता करके अपने-आपको बचाने की चेष्टा की, तब हमने अपने आपको मानव-जाति की एकता के श्रेष्ठ आदर्श के प्रति निष्ठाहीन प्रमाणित कर दिया। परन्तु *सिद्धान्ततः प्रजातन्त्रीय प्रणाली दूसरे लोगों के साथ उन्हें कानून से* बाहर मानकर या उन्हें अवमानव (मनुष्य से नीचे का) समझकर बर्ताव करने को किसी प्रकार उचित नहीं ठहरा सकती। प्रबुद्ध लोगों को उस नई व्यवस्था के

[१] ए. एन. व्हाइटहैड : साइन्स एण्ड द मॉडर्न वर्ल्ड (१९२६)

साथ अपना एकात्म्य स्थापित करना चाहिए, जो जन्म लेने के लिए संघर्ष कर रही है। मानवता के लिए एक उज्ज्वलतर दिन की कल्पना उतनी ही प्रार्थना भी है जितनी की भविष्यवाणी।[1]

नये आदर्शों को नई आदतों और नई प्रथाओं में उद्योग और व्यवसाय के पुनर्गठन में साकार किया जाना चाहिए। इन प्रक्रियाओं को जोकि आदर्शों के हाथ और पैर हैं, नई दिशा की ओर मोड़ने में नये आदर्शों को साकार किया जाना चाहिए। अच्छा जीवन कानूनों और संस्थाओं के माध्यम से वास्तविक बनना चाहिए। सामूहिक सुरक्षा के लिए राज्यों की प्रभुता और स्वतन्त्रता की कुछ मर्यादा बांधना अत्यावश्यक है। बहुत बड़े परिमाण में बढ़ती हुई सम्पत्ति और शक्ति का जो इस समय राष्ट्रों के अधिकार में है, अन्तर्राष्ट्रीय और न्यायोचित नियन्त्रण होना आवश्यक है। इस युद्ध में जो बातें नई पता चली हैं, उनमें से एक यह है कि कोई भी राज्य अपनी स्वतन्त्र प्रभुता को बचाए नहीं रख सकता। शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य तक को अमेरिका से सहायता मांगने की आवश्यकता पड़ती है। छोटे-छोटे देशों का अत्यधिक उद्योगीकृत देशों से कोई मुकाबला नहीं है। राष्ट्र या तो स्वेच्छा से या बाहरी दबाव के कारण एक स्थायी राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से परस्पर मिल जाएंगे।

युद्धोत्तर संसार के लिए कई योजनाएं प्रस्तुत की गई हैं। कुछ लोग प्रजातन्त्रों का संघ बनाने की बात करते हैं, कुछ दूसरे लोग अंग्रेज-अमेरिकन, यूरोपियन और एशियाई, तीन गुटों की चर्चा करते हैं। हमारा लक्ष्य विश्वव्यापी राजनीतिक और आर्थिक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग होना चाहिए। एक विशाल समाज पर आधारित शान्ति की आशाएं इन प्रादेशिक संघों पर आधारित आशाओं की अपेक्षा अधिक स्वस्थ हैं। हमारी योजनाएं साहसमय और व्यापक होनी चाहिए, घटती हुई और टुकड़े-टुकड़े करके (क्रमशः) नहीं होनी चाहिए। मिल्टन ने कहा था 'इंग्लैण्ड को यह नहीं भूलना चाहिए कि वह दूसरे राष्ट्रों को यह सिखाने में अग्रणी है कि कैसे जीना चाहिए।' सभ्यता को बचाए रखने के लिए मनुष्य-जाति की अन्तर्राष्ट्रीय साझेदारी और राजनीतिक एकता अनिवार्य शर्त है और यह काम ब्रिटेन, अमेरिका और रूस का है कि वे स्वतन्त्र लोगों का एक विश्व-समाज बनाने के कार्य का नेतृत्व करें। अटलांटिक-घोषणा में शान्ति-समझौते के लिए सामान्य सिद्धान्त निश्चित कर दिए गए हैं।

---

१ एक संस्कृत श्लोक में कहा गया है, 'गिरिजामाता मेरी माता है, उसका स्वामी मेरा पिता है, सब मनुष्य मेरे बन्धु हैं और तीनों लोक मेरा स्वदेश है।

(माता) मे पार्वती देवी पिता देवो महेश्वरः

बान्धवा मनुजाः सर्वे स्वदेशो भुवनत्रयम्।)

२ मैं जन घोषणा-पत्र की यहाँ चर्चा कर रहा हूँ।

स्थायी शान्ति की शर्तें इसमें हैं। यह मान लिया गया है कि कोई भी राष्ट्र आक्रमण द्वारा अपने पड़ोसियों की सुरक्षा के लिए भय का कारण नहीं बनेगा। पूर्व स्थिति को बल-प्रयोग द्वारा बदलने के प्रयत्नों को रोकना ही काफी नहीं है। हमें सामान्य कल्याण के हित में शान्तिपूर्ण परिवर्तनों को करने के लिए भी प्रभावी व्यवस्था रखनी चाहिए। युद्ध की समाप्ति पर प्रतिशोध के लिए, या राष्ट्रीय क्षेत्र

"संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रेसिडेण्ट और प्रधान मंत्री श्री चर्चिल ने जो संयुक्त राज्य (ब्रिटेन) में महामहिम सम्राट् की सरकार के प्रतिनिधि हैं, आपस में मिलकर यह उचित समझा है कि वे अपने-अपने देशों की राष्ट्रीय नीतियों में विद्यमान उन कुछ सामान्य सिद्धान्तों को लोगों को विदित करा दें जिनके आधार पर वे संसार के लिए अच्छेतर भविष्य की आशा करते हैं।

पहला—उनके देश अपना राज्यक्षेत्रीय या अन्य किसी प्रकार का विस्तार करना नहीं चाहते।

दूसरा—वे राज्यक्षेत्रों में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं होने देना चाहते जो वहां की सम्बद्ध जनता की स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट की गई इच्छा के अनुकूल न हो।

तीसरा—वे सब लोगों के इस अधिकार का आदर करते हैं कि वे उस शासन का चुनाव कर सकें कि वे जिस प्रकार की शासन व्यवस्था के अधीन रहना चाहते हैं; और वे चाहते हैं कि जिन लोगों से प्रभुता के अधिकार और स्वशासन बलपूर्वक छीन लिए गए हैं, उन्हें वे फिर वापस दिलाए जाएं।

चौथा—अपने वर्तमान दायित्वों का समुचित ध्यान रखते हुए वे इस बात के लिए प्रयत्न करेंगे कि छोटे-बड़े विजेता और विजित, सब राष्ट्रों को समान शर्तों पर व्यापार में भाग लेने और संसार के उन कच्चे मालों को प्राप्त कर सकने का अधिकार हो, जिनकी उन देशों की आर्थिक समृद्धि के लिए आवश्यकता है।

पांचवां—वे सब राष्ट्रों में श्रम का स्तर सुधारने के लिए, आर्थिक उन्नति के लिए और सामाजिक सुरक्षा के लिए आर्थिक क्षेत्र में सब राष्ट्रों के बीच पूर्णतम सहयोग स्थापित करना चाहते हैं।

छठा—नाजी निरंकुशता का पूर्ण विनाश करने के बाद उन्हें आशा है कि वे ऐसी शान्ति स्थापित हुए देख सकेंगे जिससे सब राष्ट्रों को अपनी सीमाओं के अन्दर निरापद रहने का अवसर मिल सकेगा और जो शान्ति यह आश्वासन दे सकेगी कि सब देशों में सब लोग अपना जीवन स्वतन्त्रतापूर्वक भय और अभाव से मुक्त होकर बिता सकते हैं।

सातवां—ऐसी शान्ति द्वारा सब लोगों को बिना रुकावट सागरों और महासागरों के पार आने-जाने में समर्थ हो सकना चाहिए।

आठवां—उनका विश्वास है कि संसार के सब राष्ट्रों को, आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक कारणों से बल के प्रयोग का परित्याग स्वीकार कर लेना चाहिए। क्योंकि यदि वे राष्ट्र, जिनके अपने राज्यक्षेत्र से बाहर आक्रमण का भय है, या भविष्य में भय हो सकता है, स्थल, जल और वायु सेनाओं का शस्त्रीकरण जारी रखें तो भविष्य में शान्ति कायम नहीं रखी जा सकती। इसलिए उनका विश्वास है कि जब तक सामान्य सुरक्षा की ओर विस्तृततर और स्थायी प्रणाली स्थापित न हो जाए, तब तक के लिए ऐसे राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण अनिवार्य है। इसी प्रकार वे उन सब व्यावहारिक उपायों को सहायता देंगे और प्रोत्साहित करेंगे जिनसे शान्तिप्रिय प्रजा के लिए शस्त्रीकरण का कमर-तोड़ बोझ हल्का हो सके।

विस्तार के लिए या दोनों के लिए की जानेवाली लोकप्रिय मांगों का प्रतिरोध कर पाना आसान नहीं होगा। यूनानी लोग जो इतनी वीरता के साथ लड़े हैं शायद यह मांग कर बैठें कि अल्बानिया का कुछ हिस्सा देकर उनका राज्यक्षेत्र बढ़ा दिया जाए। सोवियत संघ अपनी सुरक्षा के हित में फिनलैंड या बाल्कन राज्यों के कुछ राज्य-क्षेत्र को अपने साथ संयुक्त कर लेने की मांग कर सकता है। हम इस विषय में भी निश्चिन्त नहीं हो सकते कि ब्रिटेन द्वारा अफ्रीका या एशिया में साम्राज्यवादी अतिक्रमण का खतरा नहीं होगा। जापान और ब्रिटेन ने चीन का जो प्रदेश हथिया लिया है और इथियोपिया के जिस प्रदेश पर इटली का कब्जा है उसे वापस दिलाने में भी कई समस्याएं खड़ी होंगी।

दूसरी धारा सिद्धान्त की दृष्टि से निर्दोष है। जिन राष्ट्रों को धुरी-आक्रान्ताओं ने अपने अधीन कर लिया है उनके लिए तो युद्ध का असली उद्देश्य विदेशी राज्य से स्वाधीनता प्राप्त करना ही है। यदि सब परिवर्तन लोगों की स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट की गई इच्छाओं के अनुसार ही होने हैं तो उन्हें अपने भविष्य का चुनाव स्वयं करने की स्वतन्त्रता मिलनी ही चाहिए। यह बात केवल यूरोप में नाजियों द्वारा जीते गए देशों पर ही लागू नहीं होनी चाहिए अपितु एशिया में जापानियों द्वारा जीते गए देशों पर भी लागू होनी चाहिए। बर्मा, मलाया और डच ईस्ट इंडीज के साथ क्या बर्ताव किया जाएगा? क्या आस्ट्रिया को यह निश्चय करने की स्वतन्त्रता रहेगी कि वह जर्मनी के साथ अपने सम्मिलन को बनाए रखे या नहीं? क्या इन सबको राष्ट्रों के रूप में अपने भविष्य का निर्णय करने की स्वतन्त्रता होगी?

अवश्य ही हमें दूसरे राष्ट्रों को क्षति पहुंचाने की रोकथाम करनी चाहिए। राष्ट्रवाद ही वह सिद्धान्त है जिसने सारे चीन को मिलाकर एक कर दिया है और यही आज भारत में भी प्रमुख सिद्धान्त है। हम जातीय या धार्मिक समुदायों को राष्ट्रों की एकता को ठेस नहीं पहुंचाने दे सकते क्योंकि इससे तो राष्ट्र छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट जाएंगे जिन्हें सम्भालना ही असम्भव होगा। यदि किसी राष्ट्र के अन्दर कुछ कठिनाइयां या गतिरोध उपस्थित हो जाएं तो अन्तर्राष्ट्रीय निकाय को, जिसे कि सबसे अधिक नैतिक प्राधिकार (अथॉरिटी) प्राप्त है, दोनों पक्षों के दावों पर विचार करने के बाद निर्णय करना चाहिए, और उसका निर्णय सब पक्षों को मान्य होना चाहिए।

तीसरी धारा के अनुसार शासन के रूपों में कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। सोवियत रूस तक ने विश्व क्रान्ति की योजना को त्याग दिया है। मार्क्स के ऊपर स्तालिन की विजय स्थायी विश्व क्रान्ति के ऊपर केवल एक देश में 'समाजवाद' की विजय है। स्तालिन की पूंजीवादी देशों के साथ मित्रतापूर्ण सहयोग की नीति इस युद्ध में स्पष्ट दीख रही है। बोल्शेविज्म (साम्यवाद) आदरणीय हो गया है।

पेशेवर क्रान्तिकारी रूस से बाहर दूसरे देशों में हैं रूस में नहीं।[1] सोवियत रूस समाजवाद की सीमाओं का विस्तार करने को प्रयत्नशील नहीं है। यदि हम सब लोगों के अपने लिए वह शासन प्रणाली चुनने के जिसके अधीन वे रहना चाहते हैं अधिकार का आदर करते हैं" तो हमें इस विषय में अपनी सदाशयता उन स्थानों में स्व-शासन का अधिकार देकर प्रमाणित करनी चाहिए, जहां हमारे हाथ में पहले ही शक्ति विद्यमान है। 'विदेशी जुए की असह्य हीनता" केवल यूरोप से ही नहीं अपितु संसार के प्रत्येक भाग से समाप्त की जानी है। भारत में एक राष्ट्र के रूप में अपनी भवितव्यता की चेतना भरने का श्रेय मुख्य रूप से ब्रिटेन को ही है। परन्तु भारत पर विशेष शक्तियों (अधिकारों) का प्रयोग करके अ प्रजातन्त्रीय प्राधिकार का उपयोग करके प्रतिनिधि नेताओं को जेल में डालकर शासन इस बात का द्योतक है कि हममें अपने-आपको धोखा देने की कितनी भुविपुल क्षमता है। इस अधिकार पत्र को भारत पर लागू करने के प्रसंग में श्री चर्चिल का कथन है 'ब्रिटेन भारत को राष्ट्रमण्डल में हमारे साथ स्वतन्त्र और समान साझेदारी प्राप्त करने में सहायता देने के सम्बन्ध में अगस्त १९४० की घोषणा से वचनबद्ध है परन्तु उसे भारत के साथ दीर्घकालीन सम्बन्ध के कारण उत्पन्न उत्तरदायित्वों को पूर्ण करते हुए और भारत के विभिन्न धर्मों जातियों और हितों के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को ध्यान में रखते हुए ही ऐसा करना होगा। इन ऐतिहासिक उत्तरदायित्वों का उपयोग भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए किया जा रहा है। पराधीन लोगों को आत्मनिर्णय का अधिकार नहीं है। इस युद्ध से ब्रिटेन के भारत, बर्मा तथा संसार की रंगीन (काली या पीली) जातियों के प्रति रुख में कम ही अन्तर पड़ा है। जब श्री चर्चिल इस अधिकार-पत्र को लेकर वापस लौटे तो उन्होंने यह स्पष्टीकरण करने में तनिक देर नहीं की कि इसकी तीसरी धारा भारत या बर्मा के प्रति ब्रिटिश नीति पर किसी भी तरह लागू नहीं होती। श्री चर्चिल ने कहा कि 'इस धारा

---

१ लन्दन में हुए मित्र-राष्ट्र सम्मेलन में लन्दन स्थित रूसी राजदूत श्री मेस्की ने घोषणा की थी कि 'सोवियत संघ प्रत्येक राष्ट्र की स्वाधीनता और राजनैतिक स्वतन्त्रता के अधिकार का, अपने लिए सामाजिक व्यवस्था चुनने के अधिकार का और अपने लिए ऐसा शासन-पद्धति चलाने के अधिकार का समर्थन करता है, जिसे वह राष्ट्र अपनी आर्थिक समृद्धि की ओर सभी तरह बढ़ाने के लिए आवश्यक समझता हो।

२ दि एशियाटिक क्वार्टरली (अप्रैल जून १९४२) में प्रकाशित लेख में लेखक ने लिखा है ... यह बात स्पष्ट है कि दुर्भाग्य से अधिकांश अंग्रेज-अमरीकी राष्ट्रों के सभी वर्गों में एक गहरा भेद भाव रंगीन जातियों के प्रति सहज स्वाभाविक अरुचि और अविश्वास बहुत व्यापक है और यह समझना कि यह भेदभाव केवल निम्नस्तर या स्वार्थ-प्रेरित 'शासक वर्गों' तक ही सीमित है समस्या को गलत समझना है (पृष्ठ १७५)। 'आगन्तुकों द्वारा जनता की विजय और यूरोपियनों के प्रति विरोध सत्कार की भावना को जनता अपने देश और जाति के सम्मान के अभाव के कारण हो गए। (पृष्ठ १७६)

का प्रभाव किसी भी रूप म उन नीति-सम्बन्धी अनेक वक्तव्यो पर नही पडता जो समय-समय पर भारत बर्मा तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागो मे सांविधानिक शासन के विकास के सम्बन्ध म दिए गए हैं। और यह कि इस धारा का सम्बन्ध मुख्यतया 'यूरोप के उन राज्यो और राष्ट्रो मे जो इस समय नात्सी जुए के नीचे दबे हुए हैं प्रभुता स्व-शासन और राष्ट्रीय जीवन की पुन स्थापना से है। एशियाई जातियों की महत्त्वाकाक्षाओ की उपेक्षा करके वह हिटलर के श्रेष्ठ जाति के सिद्धान्त को ही स्वीकार कर रहे हैं। १ नवम्बर, १९४२ को लार्ड मेयर के भोज म भाषण देते हुए श्री चर्चिल ने यह स्पष्ट कर दिया कि 'यदि इस विषय म किसी को कोई गलतफहमी हो तो भी हम अपने ही मत पर स्थिर रहेगे। मैं राजा का प्रधान मत्री ब्रिटिश साम्राज्य के परिसमापन का सभापतित्व करने के लिए नही बना हू और फिर भी हमे बताया जाता है कि साम्राज्यवाद अब अतीत की वस्तु हो चुका है। भारतीय एकता और स्वाधीनता की समस्या को बलपूर्वक गलत ढग से सभालते रहने के फलस्वरूप भारत मे स्थिति अब खतरे के बिन्दु तक पहुच चुकी है। जब शक्तिशाली राष्ट्रो द्वारा अपनाई गई नीतिया समूचे विश्व के सामने उद्देश्य को ही अस्वीकार करके हमे निराशापूर्ण निराशा म पटक देती हैं तब नेताओ द्वारा की गई घोषणाओ का मूल्य बहुत कम रह जाता है। श्री चर्चिल को अब्राहिम लिंकन के इन बुद्धिमत्तापूर्ण शब्दो को याद रखना चाहिए, 'क्योंकि मैं दास बनकर रहने को तैयार नही हू इसलिए मैं मालिक भी नही बनना चाहता। जिस किसी व्यक्ति का इस बात से इतना मतभेद है कि उसे मतभेद कहा जा सके वह प्रजातन्त्रवादी नहीं है। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ बातें तो नय ससार की करते हैं परन्तु सदा उनका यत्न यही रहता है कि उसकी स्थापना पुराने साधनो द्वारा ही की जाए। पर ऐसा हो नही सकता। यदि वे इस युद्ध को केवल फिर जीवन की पुरानी पद्धतियो की ओर लौट जाने के लिए जीतना चाहते हैं तो इस 'महान् धर्मयुद्ध' का उद्देश्य सिवाय रक्तपात और विद्रोह के और कुछ नहीं है।

प्रेसिडेंट रूजवेल्ट ने अपने ऐतिहासिक रेडियो प्रसारित भाषण म कहा था "हमारा विश्वास है कि स्वामी जाति के बारे म तानाशाहो का नारा निरा बकवास और बेहूदा सिद्ध होगा। अब तक कभी कोई ऐसी जाति नहीं हुई और न कभी होगी जो अपने साथी मनुष्यो का स्वामी बनकर रहने के उपयुक्त हो सके। फिर भी उनके देश मे सवा करोड नीग्रो ऐसे हैं जिन्हे जातीय पक्षपात के कारण राष्ट्रीय जीवन मे किसी प्रकार का सक्रिय भाग नही लेने दिया जाता। उनके विरुद्ध किया जानेवाला सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक भेदभाव इस बात को प्रकट करता है कि वह स्वाधीनता और समानता जिसके निमित्त हम लडने को कहा जाता है उन लोगों पर लागू किए जाने के लिए नही है। सयुक्त राज्य अमेरिका म रगीन लोगों के साथ किया जानेवाला बर्ताव सामाजिक भेदभाव

रखा उद्योगों तथा ट्रेड-यूनियनों से रंगीन श्रमिकों को बाहर ही रखना इस बात की घोषणा नहीं करते कि अमेरिका सर्वात्मना प्रजातन्त्र और जातीय समानता का पुष्ट पोषक है। फिर दक्षिण अफ्रीका संघ की रचना करनेवाले अधिनियम में दक्षिण अफ्रीका के मूल निवासियों की बहुत बड़ी संख्या का मतदान का अधिकार नहीं दिया गया। सम्राट् की ब्रिटिश सरकार के प्रत्यक्ष अधिकार क्षेत्रों जैसे केन्या में जातीय अन्याय एक ऐसी बुराई है जो निरन्तर बढ़ती पर है। बाहर से आए थोड़े से अल्पसंख्यक लोगों ने वैसा ही पूर्ण आधिपत्य जमाया हुआ है जैसाकि नाज़ी लोग कायम कर सकते थे भले ही वह उतना ज़ोर-ज़बरदस्ती का नहीं है। भूमि श्रम तथा कर-आरोपण के सम्बन्ध में बने कानून और प्रशासन अफ्रीकी लोगों के स्वाधीन आर्थिक उन्नति के अवसरों को सीमित कर देते हैं उन्हें यूरोपियन उद्यमों में (फार्मों में) बेगार करने को विवश करते हैं और उन्हें अपनी पराधीन स्थिति से बाहर निकलने से रोकते हैं, जबकि वे ही कानून और प्रशासन अल्पसंख्यकों के राजनीतिक सामाजिक और शैक्षिक विशेषाधिकारों की रक्षा करते हैं। किसी दूसरी जाति को अपने से घटिया समझकर उससे घृणा करना जैसाकि नाज़ी करते हैं एक बात है परन्तु ऊपर से समानता के बर्ताव का दिखावा करते हुए व्यवहार में उनसे घृणा करना तो और भी अधिक बुरा है। इनमें से पहला कम से कम ईमानदार और स्पष्टवादी तो है दूसरा जिसमें घृणा और घटिया लोगों के प्रति उदारता के व्यवहार का मिश्रण है निश्चित रूप से अधिक खतरनाक है। जब जापान ने लीग के प्रतिज्ञा-पत्र की शर्तों में जातीय समानता का सिद्धान्त भी सम्मिलित कर लेने का प्रस्ताव रखा तो प्रेसिडेंट विल्सन ने उसका विरोध किया और ब्रिटिश प्रतिनिधि मंडल का समर्थन भी प्राप्त कर लिया इसमें सन्देह नहीं कि श्री ऐटली ने इस बात पर ज़ोर दिया था कि इससे पहले जिन उन्होंने सिद्धान्तों की जो घोषणा की थी वह संसार की सब जातियों पर लागू होती है।

---

१ जैकीस मारिटेन कहता है 'इसाई धर्म का अनुयायियों किसी अन्य वस्तु से इतनी हानि नहीं पहुँची जितनी कि ईसाई लोगों में विद्यमान जातीय पक्षपात से और न है अन्य वस्तु ईसाई धर्म की भावना के इतना प्रतिकूल भी नहीं है, जितना कि यह पक्षपात है। इसके बाद में इससे अधिक विस्तृत रूप से व्यापक भी और कुछ नहीं है।

२ लन्दन में वरिष्ठ अफ्रीका वालों द्वारा अपने सम्मान में दिए गए सत्कार में भाषण देते हुए श्री पेथिक ने कहा 'इस देश की सरकार की ओर से युद्ध के सम्बन्ध में जो घोषणाएं की गई हैं उनमें आप कोई ऐसी ध्वनि नहीं पाएंगे कि जिस स्वतन्त्रता और सामाजिक सुरक्षा के लिए हम लड़ रहे हैं उससे मनुष्यों की किसी भी जाति को वंचित किया जाएगा। इस प्रकार हम कि गोरी जातियों द्वारा अफ्रीका जातियों के साथ किए गए अन्यायों को क्षमा अनुभव करते रहे हैं। मुझे यह देखकर प्रसन्नता होती है कि किस प्रकार समय बीतने के साथ साथ अफ्रीकियों के सम्बन्ध में यह धारणा कि वे तो ऐसे निम्नतर लोगों द्वारा बसे हुए स्थान हैं जिनका काम केवल दूसरे लोगों की सेवा करना और दूसरों के लाभ के लिए सम्पत्ति उत्पन्न

चीन में ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा अपने राज्य क्षेत्रातीत अधिकारों का त्याग एक बड़ा कदम है और यदि इसके बाद अमेरिका में एशियाई लोगों द्वारा नागरिकता के अधिकार प्राप्त करने पर लगाया गया ईर्ष्यामय प्रतिबन्ध भी समाप्त कर दिया जाए तो यह संयुक्त राज्य अमेरिका की जनता की ओर से जातीय पक्षपात की भावना से मुक्त होने की घोषणा होगी।

ऐसे संसार में जिसे पहले विजयों द्वारा खण्डित किया गया और अब बल प्रयोग द्वारा खण्डित रखा जा रहा है युद्धों का होना अनिवार्य है। यदि इस युद्ध में मृत लोगों की मृत्यु व्यर्थ न जानी हो यदि युद्ध के अन्त में होनेवाली शान्ति को निरन्तर प्रतिरोध और प्रतिशोध की आशंका को निमन्त्रित न करते रहना हो यदि पराधीन राष्ट्रों को अपनी बेड़ियों में ही न घुलते जाना हो यदि मनुष्यों के मनों में घृणा और निराशा को न जमाया जाना हो तो अतीत में किए गए अन्यायों को ठीक किया जाना चाहिए और सब राष्ट्रों के जीवन और सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण प्राप्त होना चाहिए। यदि विजय का उपयोग इस समय विद्यमान प्रबन्धों (व्यवस्था) को ही उचित ठहराने के लिए किया जाना हो जिनमें कुछ थोड़े से व्यक्तियों और राष्ट्रों के प्रति अनुकम्पता प्रदर्शित की जाती है तो यह तो केवल लोभ ही हुआ जो अपनी पाशविक महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए हत्या का काम में ला रहा है। सभ्य संसार के अन्त करण की यह माग है और उसे यह आशा है कि उपनिवेशों और पराधीन देशों की प्रमुख समस्याओं का हल न्याय और निलिप्तता की भावना के साथ किया जाए।

फिर शक्तिशाली किस प्रकार का हो इसका चुनाव जनता द्वारा किया जाना है परन्तु नवीन संसार में राष्ट्रों को अपने विवाद में स्वयं ही निर्णायक बनने का अधिकार नहीं मिल सकता। सामान्य सुरक्षा की किसी भी प्रणाली में शस्त्रास्त्रों की वृद्धि के अधिकार तथा राष्ट्रों के अन्य अधिकारों को सीमित कर दिया जाएगा। सब राष्ट्रों के लिए कुछ न्यूनतम प्रमाण नियत कर देने पड़ेंगे जिनके द्वारा सबको भय और अभाव से मुक्ति मिल सके। इन प्रमाणों को विशुद्ध रूप से घरेलू विषय नहीं माना जा सकता। हम प्राथमिक मानवीय अधिकारों जैसे काम प्राप्त करने और सम्मति प्रकट करने की स्वतन्त्रता उपासना की स्वतन्त्रता संगठन बनाने की स्वतन्त्रता और जातीय अत्याचार से स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में एक योजना बनाने और इसे लागू करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय प्राधिकारी (अथॉरिटी) की आवश्यकता है। "छोटे और बड़े विजेता और विजित सब राष्ट्रों को समान अधिकार दिलाने की बात को यदि कोई क्रियान्वित कर सकता है तो वह है केवल एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय प्राधिकारी जिसके पास आर्थिक क्षेत्र में नियन्त्रण शक्तियां

बराजन्मर है समान हा न जा रहा है म र उनका स्वन और राष्ट्र सर्वत्र न्याय और धर्म क बने विचार न रह है

और ध्वस्त हो। हमें व्यापार-युद्ध को रोकना होगा। श्री चर्चिल ने कहा था "जिस प्रकार की अनिश्चित रोक और बाधाएं नाज़ी जर्मनी के व्यापार को नष्ट करने के प्रयत्न में, जैसी कि १९३० में लोगों की मनोदशा थी बजाय इसके हमने सुनिश्चित रूप से यह दृष्टिकोण अपना लिया है कि यह बात संसार के और हमारे दो देशों (ब्रिटेन और अमरीका) के हित में नहीं है कि कोई भी बड़ा राष्ट्र समृद्धिहीन रहे या उसे अपने उद्योग और उपक्रम (उद्यम) द्वारा अपने लिए और अपनी जनता के लिए अच्छा रहन-सहन प्राप्त करने के साधनों से वंचित रखा जाए।
पांचवीं धारा में उन सबके लिए एक आर्थिक राष्ट्र-मण्डल बनाने का विचार किया गया है जो उसके सिद्धांतों को स्वीकार करते हैं। इसके द्वारा वर्तमान आर्थिक अराजकता के स्थान पर एक सुव्यवस्था स्थापित करने का प्रस्ताव सामने रखा गया है। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों के हितों पर भी विचार-विमर्श किया जाएगा। आर्थिक साम्राज्यवाद को निरुत्साहित करना होगा। सबलों के दुर्व्यवहार से निर्बलों की रक्षा की ही जानी चाहिए।

अगली धारा में आक्रमण के विरोध में सामूहिक सुरक्षा का आग्रह किया गया है। उससे अगली धारा में समुद्रों की स्वतन्त्रता का उल्लेख है और अन्तिम धारा में राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में बल के प्रयोग को त्यागने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया है। हम किसी भी राष्ट्र को इतनी शक्ति प्राप्त नहीं करने देंगे कि वह अपने पड़ोसियों के विरुद्ध आक्रमणात्मक युद्ध छेड़ सके। इसे क्रियान्वित करने के लिए नए उपाय खोज निकालने होंगे सम्मेलन-पद्धति आर्थिक सामाजिक बौद्धिक और आत्मिक रचनात्मक कार्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे की व्यवस्था विद्यमान अधिकारों में मध्यस्थता द्वारा परिवर्तन के लिए व्यवस्था शस्त्रास्त्रों में सर्वतोमुखी कटौती और आक्रमण के विरुद्ध सामूहिक प्रतिरक्षा के लिए प्रभावी तैयारी की व्यवस्था। युद्ध के बाद का काल विश्व के लिए स्वास्थ्य-लाभ का काल होगा और विजेताओं को विजित को अपने पास धरोहर के रूप में रखना चाहिए जिससे स्वास्थ्य-लाभ शीघ्र हो सके।

ये आधारभूत सिद्धान्त जिनके अनुसार नई सभ्यता की रूप-रचना होनी चाहिए 'दि टाइम्स' के नाम भेजे गए एक पत्र में प्रस्तुत किए गए हैं जिसपर कैंटरबरी और यॉर्क के आर्कबिशपों फ्री चर्च फैडरल कौंसिल के मॉडरेटर और ग्रेट ब्रिटेन में रोमन कैथोलिक चर्च के अध्यक्ष वैस्टमिंस्टर के आर्कबिशप के हस्ताक्षर हैं। वे सिद्धान्त ये हैं

(१) सब राष्ट्रों को स्वाधीन रहने का अधिकार।

(२) निःशस्त्रीकरण।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों की गारण्टी करने के लिए और जब आवश्यक हो उनका पुनर्निरीक्षण (रिविज़न) करने और उन्हें ठीक करने के लिए कोई

न्याय-विधान-सम्बन्धी सत्ता।

(४) राष्ट्रों के निवासियों और अल्पसंख्यकों की न्याय्य मांगों का यथा-आवश्यक समजन (बठन-बिठाव)।

(५) जनता और शासकों को सार्वभौम प्रेम से प्रेरित करना चाहिए। इन आधारभूत सिद्धान्तों के साथ पत्र में पांच सिद्धांत और जोड़े गए हैं :

(क) सम्पत्ति और जायदाद की अत्यधिक असमानता समाप्त कर दी जानी चाहिए।

(ख) प्रत्येक बच्चे को शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर मिलना चाहिए।

(ग) सामाजिक इकाई के रूप में परिवार को बनाए रखने का आश्वासन दिया जाना चाहिए।

(घ) मनुष्य के दैनिक कार्य में दैवीय पुकार की भावना फिर स्थापित की जानी चाहिए।

(ङ) पृथ्वी के साधनों का उपयोग समस्त मानव-जाति के लिए किया जाना चाहिए और वर्तमान तथा भावी पीढ़ियों की आवश्यकताओं का समुचित ध्यान रखते हुए किया जाना चाहिए।

सोवियत क्रांति के २५वें वार्षिकोत्सव के अवसर पर मास्को सोवियत के सम्मुख भाषण देते हुए स्तालिन ने युद्ध-उद्देश्यों की घोषणा की :

'इटली और जर्मनी के गठबन्धन का कार्यक्रम की ये विशेषताएं कही जा सकती हैं—जातीय विद्वेष, चुने हुए (परमात्मा द्वारा) राष्ट्रों की सर्वोच्चता, दूसरे राष्ट्रों के राज्यक्षेत्रों को हथियाकर उन्हें अधीन करना, विजित राष्ट्रों को आर्थिक दृष्टि से दास बनाना, उनकी राष्ट्रीय सम्पत्ति का बंधन, प्रजातन्त्रीय स्वाधीनता का विनाश और सब जगह हिटलरी शासन पद्धति की स्थापना। ऐंग्लो-सोवियत-अमेरिकन गठबन्धन का कार्यक्रम है : जातीय भेदभाव की समाप्ति, राष्ट्रों की समानता और उनके राज्यक्षेत्रों की अखण्डता, दास बना लिए गए राष्ट्रों को स्वाधीन कराना और उनकी प्रभुता के अधिकार उन्हें वापस दिलाना, जो भी शासन-पद्धति वे चाहें स्थापित करने का अधिकार, जिन देशों को क्षति उठानी पड़ी है उनको आर्थिक सहायता और भौतिक समृद्धि प्राप्त करने में उनकी सहायता की जाए, प्रजातन्त्रीय स्वाधीनता की पुनः स्थापना और हिटलरी शासन पद्धति का विनाश।' जर्मनी और जापान की पराजय के बाद रूस की स्थिति सशक्त होगी और संसार की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि शान्ति-काल में अमेरिका, रूस और ग्रेट-ब्रिटेन की मित्रता संसार की भलाई के लिए हो, ममार पर प्रभुत्व जमाने के लिए नहीं। यदि कोई ऐसा समझौता हुआ जिसमें रूस और उसके घोषित उद्देश्यों का ध्यान नहीं रखा गया, तो उसका परिणाम एक और विश्वयुद्ध होगा जो और भी सत्यानाश दशाओं में लड़ा जाएगा। रूस का जातीय

भेद भाव का प्रभाव एशिया के लोगों को तथा संसार की अन्य रंगीन जातियों को बहुत अधिक प्रभावित करता है।

यदि हमें विजय के बाद फिर भूख, भय और निराशा की ओर लौट जाना हो, तो युद्ध को जीत लेना भर पर्याप्त नहीं है। यह तो प्रकाश और अन्धकार के बीच चल रहा संघर्ष है, सच्ची समन्वित सभ्यता की उपलब्धि और उग्र तानाशाहियों द्वारा असभ्यता में वापस लौट जाने के बीच संघर्ष, जो तानाशाहियों मानव-जाति को तब तक नारकीय पराधीनता में रखेंगी, जब तक कि वह प्रवनत होते-होते पतन के उस स्तर तक नहीं पहुंच जाती, जहां पहुंचकर वह अन्त में समूल नष्ट हो जाएगी।

हम इस समय एक युग की समाप्ति पर खड़े हैं और अब संसार फिर युद्ध-पूर्व काल के नमूने पर नहीं लौट सकेगा। यदि इस युद्ध में अपना जीवन बलिदान करने वाले युवकों की आशाओं के साथ फिर विश्वासघात न किया जाना हो, यदि इस युद्ध को मानव-जाति के कल्याण की आशा से शून्य एक और युद्ध न बनाना हो, तो हमें संसार को वैयक्तिक एवं सामूहिक स्वार्थ के कुप्रभाव से मुक्त करना चाहिए। राष्ट्रों को अपने कुहत्या के लिए सज्जित होना चाहिए। संसार की उन्नति करने का मार्ग पश्चात्ताप का ही है। इस काम के रक्तपात और अव्यवस्था में से एक उत्कृष्टतर युग का आविर्भाव हो सकता है। यदि मानव-समाज को एक सजीव *वास्तविकता के रूप में कार्य करना हो तो केवल किसी राजनीतिक या आर्थिक* संगठन से काम न चलेगा। वह एक शरीर-रचना है, संगठन नहीं है। वह एक सजीव और बढ़ती हुई वस्तु है। इसके अन्दर आत्मा का श्वास फूंका जाना चाहिए। मानव-समाज को विश्व की सृजनशील आत्मा की एकता में निष्ठा की और एक अर्थ में बन्धुत्व (साथीपन) की अभिव्यक्ति बनना होगा। प्रत्येक मानवीय ढांचे में एक अमर महत्त्वाकांक्षा विद्यमान है, एक सार्वभौम चेतना, जो अपने-आपको सीमित मना और विकृत मूढ़ भावों में प्रकट करती है। केवल सत्य की ही विजय होनी है, असत्य की नहीं, चाहे हमपर दुःख भी क्यों न बीते, सत्य की ज्योति बुझेगी नहीं।

प्रजातंत्र की सार्वता

प्रजातन्त्र इस नैतिक सिद्धान्त की, कि मनुष्य का सच्चा उद्देश्य उत्तरदायित्व पूर्ण स्वतन्त्रता है, राजनीतिक अभिव्यक्ति है। काट का विख्यात *नैतिक सिद्धान्त* कि, 'मानवता को चाहे वह तुम्हारे अपने देह में हो या किसी दूसरे के देह में सदा साध्य मानकर ही कार्य करो, केवल एक साधन मान कर नहीं', प्रजातन्त्रीय विश्वास का मूलवर्ती चरण है। सिद्धान्ततः प्रजातन्त्र नैतिक है और इसलिए सार्वभौम है। स्वयं जीवन की सीमाओं के अतिरिक्त इसकी और कोई सीमाएं नहीं हैं। व्यास कहता है, 'सब प्राणी सुखी हों, सब परम आनन्द प्राप्त करें, सब भले

दिन देखें कोई भी दुःख न पाए।" ब्लेक ने अपनी कविता 'डिवाइन इमेज' (दिव्य प्रतिमा) में अकारण ही यह पद्य नहीं लिखा

क्योंकि सबको मानवीय रूप से प्रेम करना ही चाहिए,
भले ही वह रूप मूर्तिपूजक में हो या तुर्क में या यहूदी में
जहां दया शान्ति और करुणा का निवास है
वहीं भगवान का भी निवास है।

प्रजातन्त्र का उद्देश्य सर्वदा समूचे समाज का हित होता है किसी एक वर्ग या समुदाय का हित नहीं। सब व्यक्तियों को चाहे उनका धर्म या जाति कुछ भी क्यों न हो एकमात्र उनकी समान मानवता के आधार पर राजनीतिक समाज में ग्रहण किया जाना चाहिए। समाज के सदस्य प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को समाज की राजनीतिक सत्ता में समान भाग प्राप्त करने का अधिकार है। जब हम कहते हैं कि सब मनुष्य समान हैं तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि सब मनुष्य परम मूल्य (एब्सोल्यूट वैल्यू) के केन्द्र हैं। हम यह नहीं कह सकते कि अपने लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए समाश्रित साधन के रूप में हमारे अन्दर तो पूर्ण मूल्य है और दूसरे लोगों में केवल व्युत्पन्न (गौण अमौलिक) और साधनात्मक (सहायक) मूल्य है। जहां तक हमारे साधनात्मक मूल्य का प्रश्न है हम असमान हैं। क्योंकि हमारी क्षमताएं अलग-अलग हैं इसलिए हम अलग-अलग कार्य अपना लेते हैं जिन्हें हम अलग-अलग कोटि की कुशलता के साथ पूरा करते हैं। परन्तु सामाजिक संघटन में प्रत्येक व्यक्ति को स्थान मिलना चाहिए। मनुष्यों की समानता के विषय में विवाद तात्त्विक और साधनात्मक मूल्यों में अन्तर न करने के कारण होता है। अपने तात्त्विक मूल्यों की दृष्टि से सब व्यक्ति समान हैं परन्तु अपने साधनात्मक मूल्यों की दृष्टि से असमान हैं। प्रजातन्त्र जनता का शासन केवल इस अर्थ में है कि जनता में समाज के सब सदस्य आ जाते हैं। प्रजातन्त्र अल्पसंख्यकों या अल्प सख्यकों के मतों के दमन का पूर्णतया विरोधी है। यदि कहीं अल्पसंख्यकों का दमन होता हो या उनका मुंह बन्द किया जाता हो तो प्रजातन्त्र निरंकुशता (अत्याचार) बन जाता है।

सन् ४३१ ईस्वी पूर्व में पेरिक्लीज़ ने 'फ्यूनरल ओरेशन' (अन्त्येष्टि भाषण) में प्रजातन्त्र की अपनी धारणा का स्पष्टीकरण किया है। हम प्रजातन्त्र इसलिए कहलाते हैं क्योंकि हमारा प्रशासन कुछ थोड़े-से लोगों के हाथ में नहीं अपितु बहुत से लोगों के हाथ में है। अपने वैयक्तिक विवादों में सब मनुष्य कानून के सामने बराबर हैं परन्तु लोकमत में सम्मुख उन्हें सम्मान दिया जाता है यह उनके पद के कारण नहीं अपितु उनके गुणों के कारण और कोई नागरिक चाहे कितना भी

सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

गरीब कितना भी दीन और कितना भी अप्रसिद्ध क्यों न हो परन्तु इसके कारण उसे यदि उसमें नगर की सेवा कर पाने की योग्यता है तो सार्वजनिक जीवन से रोका नहीं जाएगा। एक ओर अगर हमें सार्वजनिक जीवन में स्वतन्त्रता प्राप्त है तो दूसरी ओर वैयक्तिक मामलों में भी कुछ कम स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। इससे भी बड़ी बात यह है कि हम अपने पड़ोसी के आनन्द को देखकर अप्रसन्न नहीं होते न हम उसे आनन्द मनाते देखकर मुंह ही लटका लेते हैं जो भले ही असहमति की हानिरहित अभिव्यक्ति हो किन्तु केवल इसीलिए वह कम अप्रिय नहीं हो जाती। वैयक्तिक और सार्वजनिक मामलों में हम शिष्ट आचरण करते हैं। जो लोग सत्तारूढ़ हैं उनके प्रति और कानूनों के प्रति हमारे मन में गहरे सम्मान की भावना है विशेषतः उन कानूनों के प्रति जो पीड़ितों के लाभ के लिए बनाए गए हैं और उन अलिखित कानूनों के प्रति जो अपना उल्लंघन करनेवाले को उसके साथियों की दृष्टि में कलंकित बना देते हैं।"[1] फिर भी घटनाओं के दबाव में पड़कर पैरिक्लीज को अपने ही सिद्धान्तों से न केवल विचलित होना पड़ा अपितु उनका खण्डन तक करना पड़ा। ऐथन्स की सभ्यता उन विशालसंख्यक लोगों पर निर्भर थी जो नागरिक नहीं थे स्त्रियों और दासों पर। पैरिक्लीज को इतने से सन्तोष था कि ऐथन्स के सब नागरिकों को राज्य के शासन में भाग लेने का समान अवसर प्राप्त है और वे सब कानून के सम्मुख समान हैं।

४ जुलाई १७७६ की अमेरिकन स्वाधीनता की घोषणा में ये उच्च भाव विद्यमान हैं, "हम इन सत्यों को स्वतः सिद्ध मानते हैं कि सब मनुष्य समान सिरजे गए हैं उनको उनके सिरजनहार ने कुछ ऐसे अधिकार दिए हैं जिन्हें उनसे छीना नहीं जा सकता जीवन स्वाधीनता और आनन्द की प्राप्ति का प्रयत्न इन अधिकारों में से ही है इन अधिकारों को सुरक्षित बनाए रखने के लिए ही मनुष्यों में सरकारें स्थापित की गई हैं और इन सरकारों को न्यायोचित शक्तियां शासित लोगों की सहमति से ही प्राप्त होती हैं और जब कभी कोई शासन प्रणाली इन उद्देश्यों के लिए विनाशकारी बन जाए, तब लोगों को यह अधिकार है कि वे उसे बदल दें या उखाड़ फेंकें और उसके स्थान पर एक नया शासन स्थापित करें, जिसकी नीवें ऐसे सिद्धान्तों पर रखी गई हों और जिसकी शक्तियां ऐसे ढंग से संघटित की गई हों कि जो उन्हें (लोगों को) ऐसी प्रतीत होती हों कि वे उनकी सुरक्षा और आनन्द पर अधिकतम अनुकूल प्रभाव डाल सकती हैं। यदि हम इसमें से धर्म-विज्ञान के उल्लेख और इन अर्धतात्त्विक दावों को कि सब मनुष्य समान सिरजे गए हैं निकाल दें तो हमें प्रजातन्त्र का सारभूत सिद्धान्त मिल जाता है कि सब लोगों को स्वतन्त्र और सुखी रहने का समान अधिकार मिलना चाहिए। इस अवसर की समानता में जीविका साधनों के अधिकार की बात सम्मिलित

[1] [illegible] (११) पृष्ठ ३११

है। इसके लिए यह आवश्यक है सब मनुष्यों को जिनमें नीग्रो (हब्शी) और स्त्रियाँ भी सम्मिलित हैं, ऐसी दशाओं में पहुँचाया जाए, जिनके अभाव में सुख प्राप्त हो ही नहीं सकता। आज तक कोई भी शासन इस सिद्धान्त को क्रियान्वित करने में सफल नहीं हुआ। ऐथेन्स का प्रजातन्त्र दासता की प्रथा पर आधारित था। मध्य युग में कृषिदास-प्रथा थी। आज हमारे युग में उच्चतर और निम्नतर वर्ग हैं अमीर और गरीब। यह बड़ी भ्रमावह टिप्पणी है कि महान सभ्यताएं दासता और धर्म दासता के आधार पर खड़ी की गई थी। यूनान और रोम में बहुत बड़ी संख्या दासों की थी। मध्ययुगीन फ्रांस और पुनर्जागरित इटली उन कृषि-दासों के सहारे खड़े हुए थे जो कृषक के रूप में भूमि के साथ बंधे हुए थे और जिन्हें केवल जीवन निर्वाह मात्र का अधिकार प्राप्त था। आधुनिक सभ्यता की पृष्ठभूमि भी दरिद्रता पशुओं और कठिनाइयों (तबी) की ही है।

१७८९ की फ्रांसीसी राज्यक्रांति ने विचार के वातावरण पर प्रभाव डाला और आज कम से कम सिद्धान्त रूप में इस बात को अस्वीकार कर पाना असम्भव है कि गरीबों और अज्ञ लोगों को भी स्वतन्त्र और सुखी रहने का अधिकार है। फ्रांसीसी राज्य क्रांति द्वारा लोकप्रिय बनाए गए तीन सिद्धान्तों पर टिप्पणी करते हुए मनकी आदमी का कहना है कि स्वाधीनता का अर्थ है 'मैं जैसा चाहूं कर सकता हूं' समानता का अर्थ है "तुम मुझसे कुछ अधिक अच्छे नहीं हो" और भ्रातृत्व का अर्थ है 'जो कुछ तुम्हारा है यदि वह मुझे चाहिए, तो वह मेरा है।' इस प्रकार सोचने का परिणाम अराजकता मध्यम-कोटिता (औसत दर्जे की अच्छाई) और हस्तक्षेप हुआ है।

कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो' ऐसे व्यक्तियों के समाज के आदर्श का समर्थन करता है जो परस्पर इस ढंग से संगठित हुए हों कि 'प्रत्येक का स्वतन्त्र विकास ही सबके स्वतन्त्र विकास की शर्त हो।' 'मैनीफैस्टो' का सम्पत्ति के उचित वितरण का आग्रह करना बिलकुल ठीक है। इसके लिए इस अर्थ में आर्थिक समानता की कि किसी भी व्यक्ति की आय अन्य किसी भी व्यक्ति की आय से अधिक न हो आवश्यकता है या नहीं यह एक अलग प्रश्न है। आर्थिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसमें सब मनुष्यों को स्वतन्त्र और सुखी जीवन बिताने का अवसर मिल सके। प्रजातन्त्र के—नैतिक मूल्यों के रूप में एक अच्छे जीवन की कल्पना के रूप में—अन्यतम मूल्य को मूर्तिविष्ट (ठोस) अन्तर्वस्तु द्वारा भरा जाना चाहिए। आत्मा को साकार होना होगा। मतदान का समान अधिकार उस महत्त्वपूर्ण सत्य का बाह्य चिह्नमात्र है जिसे हमें अपने जीवन में प्राप्त करना होगा। राजनीतिक प्रजातन्त्र का लक्ष्य है कि राजनीतिक सत्ता के सम्बन्ध में मनुष्य के अधिकार को माना जाए। सामाजिक प्रजातन्त्र का उद्देश्य यह है कि सब लोगों को समाज के लाभों में समान भाग प्राप्त करने में समर्थ बनाया जाए।

दीनता और कष्ट मनुष्य को तभी ऊंचा उठाते हैं जबकि वे स्वेच्छा से अपने ऊपर लादे गए हों। जो लोग यह कहते हैं कि दरिद्रता कलाकार की सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति है उन्होंने स्वयं इसकी तीव्र व्यथा को कभी अपनी आत्मा में अनुभव नहीं किया। जब हम कठोर परिश्रम और घोर दरिद्रता की दशा में रह रहे होते हैं उस समय हमारी अनेक आत्मिक सम्पत्ति की सम्भावनाओं को पनपने का अवसर नहीं मिलता। जो लोग अत्यधिक भीड़ भरे मकानों में गन्दगी और बीमारी के बीच भूख और सर्दी से कष्ट पाते हुए जीवन बिताते हैं, सम्भव है, उनमें सहिष्णुता और त्याग की विरक्त वशोचित भावना उत्पन्न हो जाए, परन्तु वे समाज को कुछ सृजनात्मक देन नहीं दे सकते। रोगग्रस्त शरीरों और निराश विफल जीवनों का कारण गरीबी भी है। सम्पत्ति की असमानताएं दासता-प्रथा की ही भांति सामाजिक व्याधियां हैं। अरस्तू के इस विचार के विषय में कि पूर्ण जीवन के लिए यह आवश्यक शर्त है कि मनुष्य को जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएं इतनी काफी मात्रा में प्राप्त हों कि वह मनोजगत् की वस्तुओं की साधना निश्चिन्त होकर कर सके बहुत कुछ कहा जा सकता है। भले ही भौतिक वस्तुएं जीवन का महान लक्ष्य नहीं हैं, फिर भी वे अपरिहार्य (जिनके बिना काम न चले) साधन अवश्य हैं। भारतीय कवि भर्तृहरि ने अपने 'नीतिशतक' में दरिद्रता के कारण होनेवाले नैतिक पतन का वर्णन इस प्रकार किया है : "सब इन्द्रियां वही हैं, नाम भी वे ही हैं, बुद्धि भी वही पहले जैसी अक्षत है, वाणी भी वही है, फिर भी धन की गर्मी से शून्य मनुष्य मानो क्षण भर में बदलकर कोई और ही बन जाता है।"[2] यदि मनुष्य को अपने

---

१ सर आर्थर स्लिवर आर्थर का कथन है, 'सन् [illegible] के बाद बड़े कवियों में से दो विश्वविद्यालयों के [illegible] थे। [illegible] इस में हमारे लिए यह बड़ी असम्मानजनक बात है—यह निश्चित है कि हमारे राष्ट्रमण्डल के किसी दोष के कारण इन दिनों किसी गरीब कवि को पनपने की जरा भी सम्भावना नहीं है और न [illegible] सौ सालों में रही है। मेरे बात मानिए—और मैंने अपने पिछले दस वर्षों का बड़ा भाग लगभग ३२० प्रारम्भिक विद्यालयों का ध्यान से निरीक्षण करने में लगाया है—कि हम प्रजातन्त्र की चाहे जितनी डींग हांकें, परन्तु इंग्लैंड में एक गरीब बालक उससे अधिक कुछ ज्यादा नहीं कर सकता [illegible] कि [illegible] के दास का पुत्र [illegible] की सुक्ष्म [illegible] बौद्धिक स्वतन्त्रता द्वारा अपनी दासता से बाहर [illegible] का आशय कर सकता था।' —'आन दि आर्ट आफ राइटिंग'

२ तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्।
[illegible]
[illegible]

[illegible] "इस प्रकार मैं इसमें महत्त्वपूर्ण वस्तु है। [illegible] [illegible] और गौरव का [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] है। [illegible] कि यह [illegible]

गौरव को बनाए रखना हो निर्बाध चलता-फिरता हो उदार, स्पष्टवादी और स्वाधीन रहना हो तो उसके लिए न्यूनतम आर्थिक सुरक्षा अत्यावश्यक है। श्री क्लेमेंट ने दिसम्बर १९४ में अपनी शाम की गपशप' (फायरसाइड चाट) में कहा था "मैं ऐसे प्रजातन्त्र की रक्षा करने के लिए कदापि नहीं कहूंगा जो बदले में राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति की अभावों और कष्टों से रक्षा नहीं करता।" किसी भी स्वस्थ सामाजिक योजना में सबके प्रति प्रत्येक व्यक्ति की जिम्मेदारी स्वीकार की जानी चाहिए। परम्परागत व्यक्तिवाद व्यक्ति के सामाजिक उत्तरदायित्वों का यथेष्ट ध्यान नहीं रखता। यदि हम यह समझते हो कि जो वस्तुएं हमें प्राप्त होती हैं, उन पर हमारा बिना शर्त अधिकार है और उनके बदले कुछ भी तुल्य वस्तु देने की हमारी जिम्मेदारी नहीं है, तो यह हमारी बड़ी भूल है। हम अपनी स्वतन्त्रता को केवल तभी क्रियान्वित कर पाते हैं जब हम ऐसे सदस्यों के रूप में कार्य करते हैं जिनकी एक-दूसरे के प्रति जिम्मेदारियां हैं। इसके बदले में समाज हमारी रक्षा करता है और अपने प्रयत्नों से हमें सुरक्षित रखता है। श्री चर्चिल ने प्रधान मन्त्री बनने पर, अपने पुराने विद्यालय हैरो के विद्यार्थियों के सामने भाषण देते हुए कहा था कि जब युद्ध समाप्त हो जाएगा तब 'हमारा एक यह भी उद्देश्य होना चाहिए कि समाज में ऐसी स्थिति लाने का यत्न किया जाए, जिसमें लाभ और विशेषाधिकार, जिनका आनन्द अब तक केवल कुछ थोड़े-से लोग उठा रहे थे समूचे राष्ट्र के मनुष्यों और युवकों में कहीं अधिक विस्तृत रूप से बंट जाएं।' वर्तमान व्यवस्था में ये लाभ और विशेषाधिकार एक छोटे-से वर्ग तक सीमित हैं यह वर्ग *रक्त या विवाह या साझे हितों द्वारा परस्पर सम्बद्ध है* इसमें केवल कुछ ही नये लोग प्रवेश कर पाते हैं, क्योंकि इस चुने हुए समुदाय में सम्मिलित होने का प्रवेश पत्र भारी धनराशि द्वारा खरीदते हैं।

लगभग सभी देशों की आर्थिक स्थिति में एक भयावह एकरूपता है। जनता का एक बहुत छोटा-सा अल्पसंख्यक वर्ग लाभ उठाता है और बहुत बड़ी जनसंख्या कष्टों और पराधीनता से और उसके फलस्वरूप होनेवाली शारीरिक और मानसिक अस्वस्थताओं से पीड़ित रहती है। समाज के वर्तमान संगठन में उन्नति के

को अन्ना ही निश्चित रूप से बरबाद कर देता है जिन्दा कि अब श्रेष्ठ पुरुषों को सबल और सचेष्ट बनाता है।

¹ आंकड़ों से तुलना कीजिए, 'संयुक्त राज्य अमेरिका की अवस्था समूह की आम-दनी की कुल १ प्रतिशत है। पर सम्पदा की ४ प्रतिशत सम्पत्ति उनके पास है। फिर भी, कैम्ब्रिज क्लेमेंस ने स्वयं स्वीकार किया राष्ट्र का एक तिहाई भाग ऐसा है, जो मूल-भावना का शिकार है जिनके पास यथेष्ट धन नहीं है और जो असम्मानजनित दशाओं में जीवन बिता रहा है।' 'मॉडर्न कॉर्पोरेशन एण्ड प्राइवेट प्रॉपर्टी' में बर्ले और मीन्स ने बताया है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के उद्योगों का लगभग ५ प्रतिशत भाग, मजबूती रूप से दो हजार से भी कम लोगों के हाथ में है।

अवसर की समानता की मांग का अर्थ है—*सामाजिक दृष्टि से अनुत्तरदायी स्वामित्व* की समाप्ति और सामूहिक उत्पादन के उपकरणों का नियन्त्रण। स्वामित्व के तथ्य के साथ हुक्म चलाने का अधिकार भी जुड़ा हुआ है और अधिकारी तथा अधीनस्थ के सम्बन्ध विकसित हो जाते हैं। मालिक-वर्ग को अधिक ऐश्वर्य श्रमिकों की पराश्रित स्थिति का लाभ उठाने के कारण ही प्राप्त हुआ है, ठीक वैसे ही जैसे कि पुराने सामन्तीय कुलीन वर्ग को या बाधा के स्वामी अभिजात वर्ग (अरिस्टोक्रेसी) को अपनी आश्रित कृषि-दासों या दासों के अतिरिक्त श्रम से प्राप्त होती थी। राजनीति में 'जन की शक्ति' शान्ति के लिए सबसे बड़ा संकट है। मुनाफे के लिए उत्पादन के स्थान पर अब उपयोग के लिए उत्पादन होना चाहिए। यह *सामूहिक नियंत्रण (कंट्रोल) द्वारा किया जा सकता है।* अब कामगर और किसान पूंजीपतियों की मेज से नीचे गिर पड़नेवाली रोटी के चूरचार से उनके दयापूर्वक दिए गए दान से जैसे वृद्धावस्था की पेंशनों स्वास्थ्य और बेकारी के बीमों न्यूनतम वेतनों से सन्तुष्ट नहीं हो सकते। यदि पूंजीपति उस राजनीतिक उपकरण को तोड़ने का प्रयत्न करते हैं जिसके द्वारा आर्थिक शक्ति का हस्तान्तरण होता है तो उससे एक प्रत्याक्रमण को उत्तेजना मिलती है। साम्यवाद (कम्यूनिज्म) मानवीय उत्तरदायित्वों से शून्य सम्पत्ति की संस्था पर एक आक्रमण है। किसी भी समाज के जीवित बने रहने के लिए अपने-आपको परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लेने की जो प्रक्रिया अत्यावश्यक है वह इस समय भयजनक रूप से धीमी पड़ गई है। जिस समय इतिहास तीव्र वेग से झपट रहा है उस समय पुराने रूपों से चिपटे रहने का कोई लाभ नहीं है। यदि हम ऐसा करेंगे तो हम बह जाएंगे। असह्य अन्याय और अमर्यादित दुष्कर्मों को देखते हुए निश्चेष्ट बने रहना अनैतिक है। उस अभागे मनुष्य की अपेक्षा जो जीवन के लिए संघर्ष में एक ओर पटक दिया गया है लोगों के मन में उस पक्षी के लिए अधिक दया है जिसके पंख टूट गए हैं और जो उड़ नहीं सकता। हमारे कानूनों और संस्थाओं ने उन्हीं लोगों को संरक्षण प्रदान नहीं किया जिन्हें उसकी सबसे अधिक आवश्यकता है। वे मजदूरी कमानेवालों (वेतनजीवियों) को वैसी ही मजबूत बेड़ियों में जकड़कर रखते हैं जैसी कि दासों के पांवों में डालकर हथौड़े से ठोककर जकड़ दी जाती थी। वे बड़ी सूक्ष्मता से बलवानों और धनवानों के अधिकारों का निरूपण करते हैं और निर्धनों तथा *निर्बलों के अधिकारों के प्रति उदासीन (निरपेक्ष) रहते हैं। वे अभागों के प्रति* निष्ठुर और शिशुओं के प्रति अन्याय्य रहे हैं। कुछ संवेदनशील और सूक्ष्म मानवीय प्रवृत्तियों को ऐसी समाज-व्यवस्था की जालसाजियों में ओछेपन और कमीना के सिवाय कुछ दिखाई नहीं पड़ता जो स्वतःस्फूर्तता का गला घोटने में स्वप्नों का उपहास करने में और आनन्द को बुझा देने में ही विशिष्टता प्राप्त किए हुए हैं।

आत्मा की कम ही मनोदशाएं ऐसी हैं जो उन मनोदशाओं की अपेक्षा अधिक

विकसित करने योग्य हो जिसमें हम अपनी दुःखी और किंकर्तव्यविमूढ़ मानव-जाति के प्रति श्रद्धा रखते हैं। इन मनोदशाओं द्वारा एक समुदाय की तात्त्विक भावना की पुष्टि होती है। यदि हमारा प्रजातन्त्र स्वस्थप्रज्ञ है तो हम एक ऐसी सामाजिक रचना के लिए प्रयत्न करेंगे जिसमें इस बात का निश्चय रहे कि सब वयस्कों को काम मिलेगा और भविष्य के लिए निश्चिन्तता रहेगी सब बालकों को अपनी विशेष क्षमताओं के लिए उचित शिक्षा मिलेगी जीवन के लिए आवश्यक और सुविधाजनक वस्तुओं का वितरण विस्तृत किया जाएगा बेकारी के कष्ट के विरुद्ध सब रक्षण उपाय किए जाएंगे और आत्मविकास की स्वतन्त्रता रहेगी।

प्रजातन्त्रीय मनोभाव ने जोकि फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति के साथ सक्रिय हो उठा था समानतावादी आकांक्षा उत्पन्न की जो शीघ्र ही उतनी ही आधारभूत (महत्त्वपूर्ण) सब मनुष्यों के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने की आकांक्षा से सम्मिलित हो गई। इस प्रकार प्रजातन्त्र युद्धप्रिय हो गया और वह न केवल उनके प्रति ईर्ष्यालु हो उठा जो सम्पत्ति सत्ता और प्रतिष्ठा के आनुवंशिक अधिकारों का उपभोग कर रहे थे अपितु उनके प्रति भी जिन्होंने स्वयं अपनी ऊर्जा और उद्यम से जीवन को कुछ कम प्रतिभाशाली लोगों की अपेक्षा अधिक लाभदायक बना लिया था। क्योंकि धन और सत्ता का साथ है इसलिए धन चाहे वह पूर्वजों से उत्तराधिकार में प्राप्त हो और चाहे वह व्यक्ति के अपने प्रयत्न से उपार्जित हो आक्रमण का लक्ष्य बन गया। रूसी क्रान्ति ने जिसका उद्देश्य विशेषाधिकारों और सम्पत्ति की असमानताओं को दूर करना था सब प्रकार के कामों के लिए इस आधार पर समान पारिश्रमिक या प्रतिफल देने का परीक्षण किया कि वे सब काम समाज के लिए अत्यावश्यक हैं परन्तु यह परीक्षण सफल नहीं हुआ। कम्युनिस्टों की यह युक्ति "हर एक से उसकी शक्तियों के अनुसार (काम) लो और हर एक को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार (प्रतिफल) दो" सही अर्थों में समानता स्थापित नहीं कर पाई। कुछ एक कट्टर सिद्धान्तवादी उत्साही लोगों को छोड़कर शेष मामूली लोगों ने भरसक परिश्रम करना बन्द कर दिया। जब तक कम और अधिक कठिनाई और मूल्यवाले कार्यों का प्रतिफल समान मिलता रहा तब तक लोगों को इस बात का प्रलोभन रहा कि वे हल्के कम परिश्रम के काम करके ही सन्तुष्ट रहें। परिणाम यह हुआ कि काम में ढील आ गई। इसलिए फिर परिवर्तन किया गया और इस समय वहां वेतन इस अनुपात में है कि समाज के प्रति की गई सेवाओं की कठिनाई कितनी है और उनका मूल्य कितना है। इस प्रकार फिर अन्तर स्थापित हो गए हैं क्योंकि जिन लोगों को अधिक पैसा मिलता है, उनके हाथ में अधिक शक्ति आ जाती है और उनके साथ अपेक्षाकृत अधिक आदर का बर्ताव किया जाता है। इस प्रकार वर्ग भेद उत्पन्न हो जाते हैं। कुशल प्रशासकों की नौकरशाही औद्योगिक अर्थव्यवस्था के सक्षम और महत्त्वाकांक्षी प्रबन्धक अभिज

वर्ग का नियन्त्रण करते हैं आन्तरिकवर्ग में प्रविष्ट होने के लिए तीव्र प्रतियोगिता शुरू हो जाती है। दूसरों से आगे बढ़ जाने की उतावली भरी महत्त्वाकांक्षा अन्य आवेश मूर्खता अनाड़ीपन तथा अन्य मानवीय स्वभाव की दुर्बलताओं को पनपने का अवसर मिल जाता है। परम्परागत अभिजात-वर्ग या पूंजीपति-वर्ग का स्थान एक सशक्त नौकरशाही ले लेती है। ईर्ष्या और विद्वेष की भावनाएं जिनके लक्ष्य पहले राजा और कुलीनवर्ग पुरोहित और पूंजीपति होते थे अब कमिसारों और तानाशाहों की ओर मोड़ दी जाती हैं। क़ानून बनाकर हम प्रकृति की असमानता की ओर झुकाव को समाप्त नहीं कर सकते। किसी भी समाज में एक दृश्यात्मक सोपानतन्त्र (एक वर्ग के ऊपर दूसरा फिर उसके ऊपर तीसरा वर्ग इत्यादि) रहता है। जिनके हाथ में शक्ति है वे उसको समाज की सेवा की भावना से अपने हाथ में बनाए रख सकते हैं। वर्गहीन समाज अव्यावहारिक है और यदि उस चरम (बहनेवाले) वर्ग को जिसके कि हाथ में शक्ति है उस शक्ति का उपयोग ठीक भावना से करना हो तो वह बाह्य नियन्त्रणों पर निर्भर न होकर आन्तरिक परिष्कार पर निर्भर है। यदि सत्ताधारी लोगों में विनम्रता की भावना का विकास करना हो तो यह भाव में समानता स्थापित करने के प्रयत्न द्वारा नहीं किया जा सकता। केवल अच्छी शिक्षा और धार्मिक अन्तःकरण के सक्षम नियन्त्रण द्वारा ही सत्ता के अभिमान और विशेषाधिकारों के दुरुपयोग को रोका जा सकता है। परिवर्तन की आवश्यकता वस्तुओं की ऊपरी सतह में नहीं अपितु मानव प्रकृति के मूल आधारों में ही है। राज्य को सच्ची सभ्यता का साधन बनना होगा और उसे अपने सदस्यों को सामाजिक उत्तरदायित्व की एक बिलकुल नई धारणा की शिक्षा देनी होगी। यदि इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए हम धार्मिक अनुशासन में विश्वास रखते हैं तो हमें कच्चा और भावुक नहीं समझा जाना चाहिए।

प्रजातन्त्र का लक्ष्य यह है कि आमूल आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन शान्तिपूर्ण और अहिंसात्मक रीति से किए जा सकें। यदि न्याय के लिए अविलम्ब्य मांगों और उनके विरुद्ध सुदृढ़ प्रतिरोध के बीच देर तक तनाव बना रहे तो क्रांति आवश्यक हो जाती है। मार्क्सवादियों को विश्वास हो चुका है कि प्रजातन्त्र जब सम्पत्ति के अधिकारों पर कोई प्रबल प्रतिबन्ध लगाना चाहेगा तब सम्पत्ति के स्वामी प्रजातन्त्र की इच्छा के सामने झुकने से इनकार कर देंगे। मार्क्सवादियों का कथन है कि शान्तिपूर्ण और प्रजातन्त्रात्मक रीति से नई आर्थिक व्यवस्था की रचना कर पाना असम्भव है। कोई भी समाज-व्यवस्था अपने बाद आनेवाली समाज-व्यवस्था के लिए प्रतिरोध किए बिना स्थान खाली नहीं करती। इतिहास हमें यही सिखाता है कि सामाजिक व्यवस्था केवल बलपूर्वक सत्ता पर अधिकार करके और वर्ग-संघर्ष द्वारा ही बदली जा सकती है। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे सभ्य प्रजातन्त्र में भी दासता की प्रथा को गृह-युद्ध के बिना समाप्त नहीं किया जा सका। जब भी कभी

किसी पुरानी समाज-व्यवस्था के पेट से कोई नई समाज-व्यवस्था जन्म लेने को होती है तब केवल 'शक्ति' (बल प्रयोग) ही दाई का काम करती है। केवल वर्ग संघर्ष और हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा ही समाजवाद के लिए मार्ग साफ हो सकता है। परन्तु रूसी शोषण अपने अप्रजातन्त्रीय स्वरूप अपनी हिंसा और अधीरता के कारण सफल न हो पाई। रूसी सरकार बल प्रयोग पर आधारित एक ऐसी तानाशाही (अधिनायकतन्त्र) बन गई, जिसपर कानूनी परम्परागत नियमों या समझौतों का कोई भी बन्धन नहीं था। हिंसात्मक क्रान्तियां क्रोध के उन्माद में की जाती हैं। धर्म विहीन एक महान प्रेरक शक्ति के रूप में कभी सफल नहीं हो सकता। भौतिक शक्ति कोई नैतिक तर्क नहीं है। हम यह सोचने की आवश्यकता नहीं है कि अमीरों का सद्गुणों पर एकाधिकार है, प्रशासन की क्षमता, शासन की योग्यता और निस्वार्थ भक्ति उनमें है, क्योंकि धनिकों को सब कल्पनीय दोषों का सूझबूझ के अभाव, स्वार्थपरता और भ्रष्टाचार का भरपूर भाग मिला है। उन दोनों के रूप मूलतः एक जैसे होते हैं। वे दोनों ही सम्पत्ति की समस्या को सर्वोच्च समझते हैं। कम्युनिस्टों और पूंजीपतियों में एकमात्र अन्तर सम्पत्ति के स्वामित्व के सम्बन्ध में है कि यह सम्पत्ति का स्वामित्व व्यक्तियों के हाथों में रहे या सामूहिक नियन्त्रण में रहे। आर्थिक विषयों को प्रमुखता देने के बारे में दोनों का रुख एक ही है।

साधारणतया यह समझा जाता है कि प्रजातन्त्र की काम-पद्धतियां मन्द और परस्परविरुद्ध स्वार्थों की धक्केबाजियों से भरी और बाबा आदम के जमाने की (पुरानी) होती हैं। जो लोग इस अन्यायपूर्ण समाज को समानता पर आधारित ढांचे में रूपान्तरित करना चाहते हैं उन्हें भय है कि संसदीय क्रियाविधि द्वारा तो आवश्यक परिवर्तन करने में बहुत लम्बा समय लग जाएगा। इसलिए हमारे पास धनिकों के हित में दक्षिणपंथी तानाशाहियां हैं और समाजवाद के हित में वामपंथी तानाशाहियां।

आज बड़ी-बड़ी आर्थिक समस्याएं सामने हैं। बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से हमारा संसार एक भयानक पतन के किनारे पर खड़ा है। यदि कोई प्रजातन्त्र सुशिक्षित हो, उसमें कल्पनामयी दृष्टि और नैतिक साहस हो तो वह बिना हिंसा के सामाजिक क्रान्ति कर सकता है। प्रजातन्त्रीय जीवन-पद्धति कोई निसर्ग (प्रकृति) का नियम नहीं है। यह ऐसी विकासात्मक प्रक्रिया भी नहीं है कि जो जहां कहीं भी मानव प्राणी अपने मनुष्यत्व का मूल्य समझते हैं वहां अपने-आप स्थापित हो जाती हो। यह तो एक बहुमूल्य स्वत्व है, जिसे प्रबुद्ध लोगों ने युगों के प्रयत्न के बाद प्राप्त किया है और जब मनुष्य इसके प्रति निश्चिन्त हो जाएंगे तो यह फिर अन्धकार युग में खो जा सकती है। यह एक विचार है, कोई प्रणाली नहीं, और इसे इसकी बड़ी सावधानी के साथ रक्षा करनी चाहिए, विशेष रूप से ऐसे समय में क्योंकि आर्थिक सम्पदा की बढ़ती हुई शक्ति बड़ी संस्थाओं में अधीनस्थजनों को जकड़ रहे

रही है। सुधार की प्रजातन्त्रीय पद्धतियां क्रान्ति की स्थितियों को समाप्त कर सकती हैं। ऐसी किसी भी आर्थिक प्रणाली को समाप्त कर देना चाहिए, जिसमें कामगर के व्यक्तित्व की उपेक्षा की गई हो या जो कुछ थोड़े-से लोगों के लाभ के लिए काम गर को आत्मनाशी प्रभाव या भ्रष्टाचार की ओर से आनेवाली बेकारी का शिकार बनने देती हो। संसार की आर्थिक वस्तुओं का समुचित वितरण किया जाना चाहिए, क्योंकि आर्थिक साधन उन्नति के अवसरों को खरीद सकते हैं। सम्पत्ति के संचय पर बहुत अधिक प्रतिबन्ध लगा दिए जाने चाहिएं, और सम्पत्ति के विषय में प्रत्येक व्यक्ति के प्रति सब लोगों की जिम्मेदारी स्वीकार की जानी चाहिए। शेयर बाजार में लेन-देन द्वारा संचित की गई सम्पत्ति और किसान द्वारा अपने श्रम से निर्मित सम्पत्ति में अन्तर है। इनमें से पिछली को वे अधिकार हैं जो पहली को नहीं हैं। जब लेनिन ने १९२१ की "नई आर्थिक नीति" जारी की तब उसने आर्थिक जीवन को वैयक्तिक सूत्रारम्भ (उद्यम) द्वारा ही फिर अपने पैरों पर खड़ा किया। आय को सेवा के प्रतिफल के रूप में माना जाना चाहिए, सम्पत्ति से उत्पन्न होने-वाले किसी पवित्र अधिकार के रूप में नहीं।

इस युद्ध में ब्रिटेन और अमेरिका के साथ रूस के मिल जाने से कम्युनिज्म (साम्यवाद) के रूप और अन्तर्वस्तु में प्रजातन्त्र की दिशा में कुछ परिवर्तन होगा। वर्तमानकालीन कम्युनिज्म अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर और सन्तुलित है और प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए कम से कम सिद्धान्त में तो, तैयार है। व्यावहारिक दृष्टि से यह सफल नहीं रहा इसका स्पष्ट कारण यह है कि साम्यवादी सिद्धान्त में प्रजातन्त्र के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रजातन्त्र की साम्यवादियों द्वारा की गई आलोचनाएं रूसी क्रान्ति के बाद के दिनों की वस्तु हैं। स्वयं मार्क्स ने प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त की प्रामाणिकता को स्वीकार किया मार्क्सवादी पार्टी का नाम ही 'सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी' (समाजवादी प्रजातन्त्रीय दल) था और उसका उद्देश्य था कि प्रजातन्त्रीय पद्धतियों द्वारा सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न की जाए। प्रजातन्त्रीय मत दान का अधिकार मिल जाने से कामगरों को प्रभुसत्ता का एक महत्त्वपूर्ण अंश प्राप्त हो जाता है और उन्हें वास्तविक राजनीतिक सत्ता मिल जाती है जिसका उप योग वे राज्य की उपकारी गतिविधियों को बढ़ाने के लिए करते हैं। इस दिशा में किए गए प्रयत्न यदि सफल हो जाएं तो उससे क्रान्ति की प्रेरणा कम हो जाती है। अ-पूंजीवादी प्रजातन्त्र राजनीतिक शक्ति को सम्पत्ति से छीन लेता है और उसे व्यक्ति में निहित कर देता है। 'कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो' में कहा गया है कि 'काम गरों की क्रान्ति में पहला कदम है—श्रमिक-वर्ग को ऊंचा उठाकर शासक-वर्ग बनाना प्रजातन्त्र की विजय।' जब श्रमिक-वर्ग ही शासक-वर्ग बन जाता है तब क्रान्ति राजनीतिक प्रतगति बन जाती है (अर्थात् उसकी आवश्यकता ही नहीं रहती)। मार्क्स मानता है कि शान्तिपूर्ण क्रान्ति भी सम्भव है। वह लिखता है

३ | हिन्दू धर्म

हिन्दू सभ्यता—आध्यात्मिक मान्यताएं—धर्म की धारणा—धर्म के स्रोत—परिवर्तन के सिद्धान्त—धार्मिक संस्थाएं—जाति और अस्पृश्यता—संस्कार

हिन्दू सभ्यता

जहां अन्य सभ्यताएं नष्ट हो गईं या उन परिवर्तनों में विलीन हो गईं, जो पिछले पांच हजार वर्षों के काल प्रवाह में होते रहे, वहां भारतीय सभ्यता जो मिस्र और बेबीलोन की सभ्यताओं की समकालीन है, अब भी कार्य कर रही है। हम यह नहीं कह सकते कि यह अपनी मंजिल पूरी कर चुकी है या अब इसका अन्त निकट है। भारतीय जीवन के कुछ पहलुओं को देखकर ऐसा प्रतीत हो सकता है कि भारत मृत मान्यताओं और क्षीण होती हुई परम्पराओं का देश है। परन्तु हमारे यहां क्रान्तदर्शी आत्माएं हैं जो क्षीणता पर से पर्दा हटाने के लिए और सीधे सादे सत्यों की फिर दृढ़ता से घोषणा करने के लिए कटिबद्ध हैं। इससे उसकी जीवनी शक्ति का पता चलता है। उन लोगों की दृष्टि में जिनके मन में प्रगति की धारणा उन असम्बन्धित परिवर्तनों के रूप में ही बनी हुई है जो समस्त परम्परा में एक के पीछे एक आते-जाते हैं, भारतीय संस्कृति का डटे रहना एक ऐसा तथ्य है जिसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। किस विचित्र सामाजिक कीमियागरी से भारत ने अपने विजेताओं को वश में कर लिया और उन्हें रूपान्तरित करके अपना अंग और सार ही बना लिया? इतने सामाजिक देशान्तर गमनों (प्रवसनों) में उथल पुथलों और राजनीतिक परिवर्तनों में जिन्होंने अन्यत्र समाज का रूप ही बदल डाला है, यह कैसे लगभग ज्यों की त्यों बनी रही? इसका क्या कारण है कि उसके विजेता अपनी भाषा, अपने विचार और प्रथाएं उसपर लाद पाने में सफल नहीं हुए, यदि थोड़ी-बहुत सफलता मिली भी तो बिलकुल छिछली और ऊपरी ढंग की? भारत को अपने इस जीवन-उद्देश्य में जो सफलता मिली है, वह बल के प्रयोग से या आक्रमणात्मक गुणों के विकास से नहीं मिली। क्या भारत और चीन

के भाग्य प्रकृति के उस सामान्य नियम के दृष्टान्त नहीं हैं जिनके द्वारा तलवार जैसे दाँतोंवाली व्याघ्र जातियों के सदस्य तो घटकर बहुत कम रह गए हैं जबकि प्रतिरोध न करनेवाली भेड़ें बहुत बड़ी संख्या में सुरक्षित बची रही हैं ?

हिन्दुत्व किसी प्राचीन तथ्य पर आधारित नहीं है। यद्यपि हिन्दू सभ्यता का मूल वैदिक आर्यों के आध्यात्मिक जीवन में है और उसके मूल के चिह्न अभी तक लुप्त नहीं हुए हैं फिर भी इसने द्रविड़ों तथा यहाँ के अन्य निवासियों के सामाजिक जीवन से इतना कुछ ग्रहण किया है कि आधुनिक हिन्दुत्व में से वैदिक और वैदिक-भिन्न तत्त्वों को सुलझाकर अलग अलग कर पाना कठिन है। इसके भाग्य बहुत जटिल, सूक्ष्म और अविच्छिन्न होते रहे हैं। जिन विभिन्न समुदायों ने हिन्दू धर्म को ग्रहण कर लिया था वे अपने आसपास के समाज के स्तर तक उठ आए, उन्होंने हिन्दू धर्म की भावना को सिखा भी इसके रंग में रंग गए और इसकी सम्पत्ति में योग दिया। रामायण और महाभारत महाकाव्यों में हिन्दू आदर्शों के प्रसार का वर्णन है हालांकि उनमें इतिहास के तथ्य किम्वदन्तियों की धुंध में छिप से गए हैं। जब तक यह प्रसार भारत के अधिकांश भागों में प्रभावी हो पाया तब तक वैदिक मान्यताओं की दुनिया ही बदल चुकी थी। यज्ञ जैसी पुरानी मान्यताओं की निन्दा होने लगी थी और भक्ति भावना का एक नया ज्वार वातावरण पर छाया जा रहा था। हिन्दुत्व का क्षेत्र उस भौगोलिक प्रदेश तक ही सीमित नहीं है जिसे भारत कहा जाता है। प्राचीन काल में इसका प्रभाव चम्पा, कम्बोडिया, जावा और बाली तक फैला। ऐसा कोई कारण नहीं कि यह इसके पृथ्वी के दूरतम भागों तक फैलने में बाधक हो। भारत एक परम्परा, एक भावना, एक प्रवाह है। इसकी भौतिक और आत्मिक सीमाएं एक नहीं पृथक्-पृथक् हैं।

हिन्दुत्व विचार और महत्त्वाकांक्षाओं का एक सजीव और सक्षम जीवन की शक्तियों के साथ वृद्धि करता हुआ उत्तराधिकार है, एक ऐसा उत्तराधिकार जिसमें भारत की प्रत्येक जाति ने अपना सुस्पष्ट और विशिष्ट योग दिया है। इसकी प्रकृति में एक खास तरह की एकता है यद्यपि यह एकता प्राप्त करने पर विभिन्न धर्मों और प्रभावों में विलीन हो जाती है। यद्यपि मानव के धरतीपर आने से ही एकता का स्वप्न इस भूमि पर मंडराता रहा है और नेताओं की कल्पना में छाया रहा है फिर भी मतभेद पूरी तरह समाप्त नहीं हो पाए हैं। भारतीय समाज की धर्मभाव दशा को सुधारने के लिए समय के महत्त्व के अनुरूप इसके जीवन को नया रूप देने के लिए हमें हमारी आत्मा को जगाना है जो उत्तराधिकार में प्राप्त रूप में मिली है उन अलौकिक आदर्शों का इन कल्पनाओं का जो हमारे अस्तित्व की गहराइयों में विद्यमान आकांक्षाओं के रूप में बसी हैं नए सिरे से गठन किया जाना होगा। हमारी मान्यताएं नहीं बदलतीं परन्तु उन्हें व्यक्त करने के ढंग और साधन

बदल पाते हैं। भारत आध्यात्मिक मान्यताओं को अन्य मान्यताओं की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व देता है।

आध्यात्मिक मान्यताएं

धार्मिक अनुभव का प्रारम्भ ही यह मान लेने से होता है कि संसार, जिस रूप में इस समय है, असन्तोषजनक है और मानव-स्वभाव जैसा इस समय है आदर्श से दूर है। परन्तु मनुष्य के भाग्य में इस अपूर्णता से घबराकर भाग खड़े होना नहीं लिखा अपितु उसे तो इसका प्रयोग सुधार के लिए प्रेरणा के रूप में करना है। अज्ञान और अपूर्णता ऐसे पाप नहीं हैं, जिन्हें हमें हटाकर परे कर देना हो अपितु ठीक ऐसी दशाएं हैं जिनमें आत्मा प्रकट हो सकती है। हमारी सीमित चेतना का उपयोग उच्चतर असीम आत्म अस्तित्व और परम आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रारम्भ के रूप में किया जाता है। सीमित और असीम अपूर्ण और पूर्ण परस्पर चिर-विरोधी नहीं हैं। यहां तक कि अद्वैत वेदान्त भी केवल इतना नहीं कहता कि सत्य और माया में विरोध है अपितु यह भी कहता है कि ब्रह्म यहां है और हर वस्तु में है और यह कि यह सब वह (ब्रह्म) ही है। ब्रह्मज्ञानी इस संसार में चलता फिरता और काम करता है फिर भी वह शान्ति और स्वतन्त्रता में निवास करता है। इस संसार में जिस सौन्दर्य और पूर्णता की व्यवस्था होती है उसके लिए हम परलोक की ओर ताकने की आवश्यकता नहीं है। आध्यात्मिक मुक्ति का स्थान यह संसार ही है। ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया किसी एक ही तत्त्व की पुनरावृत्ति-मात्र नहीं है अपितु एक आगे की ओर गति है मूल अचेतना की दशा से अधिक और अधिक विकसित चेतना की ओर निरन्तर उन्नति। अभी हमारे सामने ऐसी बहुत-सी आध्यात्मिक सम्भावनाएं हैं जिन तक हम पहुंच नहीं पाए हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् जिसमें इस क्रमिक उन्नति की बात कही गई है उस अपूर्ण मानसिक अस्तित्व पर ही जिसे मनुष्य कहा जाता है बस नहीं कर देती। विज्ञान या मानवीय बुद्धि आध्यात्मिक विकास का अन्तिम सोपान नहीं है। इससे भी अधिक बड़ी एक और चेतना है जिसकी विशेषता है असीम आत्म-अस्तित्व आनन्द की विशुद्ध चेतनता और स्वतन्त्रता जो सर्वव्यापी 'दिव्य (ब्रह्म) को अंशतः और अपूर्णतया नहीं अपितु समूचे तौर पर और प्रतिबन्ध हीन रूप से मुक्त कर देती है। अचेतन भौतिक तत्त्व (अन्न) के जगत् से जीवन (प्राण) मन (मन) और बुद्धि (विज्ञान) के जगतों में से होते हुए सत् चित् और आनन्द की ओर विकासात्मक उन्नति अपने-आप या किसी मन की मौज के अनुसार नहीं हो रही अपितु दिव्य (ब्रह्म) की प्रेरणा से ही हो रही है। मानव-मन की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ी चेतना की ओर क्रमिक आत्मिक उन्नति अपने-आप में दिव्य गतिविधि की अभिव्यक्ति है। सांसारिक जीवन अन्तिम लक्ष्य से

---

१ मोक्षाय वै संसार

ध्यान विचलित करनेवाला नहीं है अपितु अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन है। मानवीय जीवन को प्रलोभन नहीं समझा जाना चाहिए। मानवीय इच्छाएं ही वे साधन हैं जिनके द्वारा आदर्श वास्तविक बनता है। यह संसार कोई भूल या भ्रम नहीं है जिसे आत्मा द्वारा दूर किया जाना हो अपितु यह तो धार्मिक विकास का एक तत्त्व है जिसके द्वारा भौतिक तत्त्व में से दिव्य चेतना आविर्भूत हो सकती है। शंकराचार्य की दृष्टि में सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया का लक्ष्य आध्यात्मिक अनुभव (अवगति) ही है। अनिश्चित अस्तित्व को ऊंचा उठाकर असीम महत्त्व तक पहुंचाया जा सकता है। "शाश्वतता का प्रेम काल द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओं के साथ है।" "परमात्मा स्वर्ग का स्वामी है, परन्तु उसे भी लोभ पृथ्वी का ही है।

परन्तु 'परम' से इस प्रकार का वियोग यह आवश्यक और कष्ट तथा दुःख में से होकर प्रायश्चित्त की ओर यह गति किसलिए होनी चाहिए? यह आत्मा को 'दिव्य' (ब्रह्म) के साथ एकता स्थापित करने की अपेक्षा अपना स्वयं आत्म-प्रकथन (जोर देकर कहना) को बनाना क्यों अधिक पसन्द करना चाहिए? यह सब कष्ट और अज्ञान यह सब टटोल और संघर्ष किसलिए है? अपूर्णता की ओर से पूर्णता की ओर यह गति किसलिए है? क्या यह किसी मनमौजी ब्रह्म की निरंकुश इच्छा है? हम यह नहीं कहते कि ब्रह्म संसार से परे है वह संसार के पीछे भी है। वह संसार को अपनी एकता के संभाले हुए है और हमें इस द्वैत का सामना करने के लिए सहारा दे रहा है। यह ब्रह्माण्ड मानवीय स्वतन्त्रता के प्रयोग द्वारा जिसके साथ उसके सब परिणाम संकट और कठिनाई, कष्ट और अपूर्णता जुड़े हुए हैं, आध्यात्मिक एकता की महान संभावना को निरन्तर प्रयत्न करके सत्य बना रहा है। एक दम अपरिष्कृत प्रारम्भ से यह सारी कठिन चढ़ाई किसलिए है? शाश्वत से यह पृथकता चिरस्थायी से यह द्वैत किसने उत्पन्न किया है? ब्रह्म ने यह विशिष्ट योजना किसलिए चलने दी है इस बात को हम तभी समझ सकेंगे जब हम सीमित बोध की रोक को पार कर जाएंगे और वस्तुओं को उस 'सर्वोच्च तादात्म्य' द्वारा देख सकेंगे जो पार्थिव प्रक्रिया के पीछे निहित है। जहां हम हैं, वहां से तो हम केवल यही कह सकते हैं कि यह रहस्य (माया) है या ब्रह्म की इच्छा है या उसकी सृजनशील शक्ति की अभिव्यक्ति है। 'माया' का यह अभिप्राय नहीं है कि यह संसार एक निरर्थक भ्रम है सिर्फ धुआं ही धुआं जिसमें आग है ही नहीं। मानव जीवन का मध्य रेखा को पार करना है अपर्याप्तता और अज्ञान से ऊपर उठकर पूर्णता और बुद्धिमत्ता

[illegible] सत्येश्वर
[illegible] तत्र [illegible]

१ [illegible] के अध्याय १ श्लोक [illegible] का मध्य [illegible] है
'[illegible]' [illegible]

तक पहुँचना है। यह है मोक्ष या अधिचेतना (सुपरकॉन्शसनेस) के प्रकाश में मुक्ति। यह परम पुरुषार्थ है, जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य और इस तक पहुँचने का साधन धर्म है। मोक्ष या मुक्ति को यहीं और अभी इस पृथ्वी पर ही मानवीय सम्बन्धों द्वारा प्राप्त करना है। यदि आध्यात्मिक विचारों को विजयी होना हो तो वे केवल संस्थाओं में मूर्त होकर ही विजयी हो सकते हैं। वे गम्भीर विधियाँ जो विवाह्य वस्था की प्राप्ति को, विवाहों के आशीर्वादों को और मृतकों की अन्त्येष्टि को पवित्र बनाती हैं, सारत: पूजा की क्रियाएँ हैं। इस दृश्य जगत् की प्रत्येक वस्तु अदृश्य वास्तविकता की प्रकाशक बन सकती है। हम जितने भी कर्म करते हैं, वे सब ईश्वरोन्मुख जीवन के प्रति निर्देश के कारण पवित्र हो जाते हैं।

धर्म की धारणा

जिन सिद्धान्तों का हम अपने दैनिक जीवन में और सामाजिक सम्बन्धों में पालन करते हैं, वे उस वस्तु द्वारा नियत किए गए हैं जिसे धर्म कहा जाता है। यह सत्य का जीवन में मूर्त रूप है और हमारी प्रकृति को नये रूप में ढालने की शक्ति है।

जीवन के इतिहास में मानवीय मस्तिष्क एक नवीन सृष्टि है। इसमें अपने आपको परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लेने की एक विशिष्ट क्षमता है। इसके द्वारा मनुष्य अनुभव से और अपनी स्मृति में भरे पाठों के भण्डार से सीख पाने में समर्थ होता है। मानवीय इतिहास और प्राकृतिक इतिहास में अन्तर यह है कि इनमें से पहला फिर से शुरू नहीं हो सकता। निम्नतर प्राणियों की जातियाँ अपने वंश-परम्परा से प्राप्त उपस्कर (उपकरण साधन) द्वारा ही या तो बची रही हैं या समाप्त हो जाती हैं। वे सीख बहुत ही कम पाती हैं। कोहलर तथा अन्य विज्ञानवेत्ताओं ने यह बताया है कि चिम्पाञ्जी और औरंग-उटान का मनुष्य से भेद बुद्धि के कारण नहीं अपितु स्मृति-शक्ति के कारण है। पशु जो भी जीवन बिताते हैं, उसे भूलते जाते हैं और अनुभव से बहुत ही कम काम लेते हैं। बाघ का बाघ ठीक वैसा ही है जैसा अब से दस हजार वर्ष पूर्व का बाघ था। उनमें से प्रत्येक बाघ अपना जीवन ठीक इस प्रकार प्रारम्भ से ही शुरू करता है, जैसे उससे पहले कभी कोई बाघ हुआ ही नहीं। परन्तु मनुष्य अपने अतीत को याद रखता है और उसका उपयोग वर्तमान में करता है। नीत्शे का कथन है कि मनुष्य सबसे अधिक स्मृति-शक्तिवाला प्राणी है। यह स्मृति ही उसका एक अनोखा खजाना है, उसका वैशिष्ट्य-द्योतक चिह्न है, विशेषाधिकार है। उसके जीवन में सहज प्राकृतिक प्रतिभावनों की पूर्ति अधिगत (प्राप्त की हुई) भावों से होती रहती है। प्राकृतिक शीलों के ऊपर एक मानसिक ऊपरी ढाँचा थोप दिया जाता है। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जिसे सिखाया-पढ़ाया जा सकता है और जो समाज द्वारा नियमित रहता है। हमारी वेश भूषा, हमारा खान

पान और हमारा रहन-सहन सब सामाजिक उपज हैं जिन्हें हमने प्रशिक्षण द्वारा प्राप्त किया है। हमारी सहजवृत्तियाँ सुनम्य (जिसे किसी भी रूप म ढाला जा सके) कच्चा माल हैं और हमारी संस्कृति ढांचा और पद्धति प्रस्तुत कर देती है। हम विवेक या सहजवृत्ति से चलनेवाले कम और आदत से चलनेवाले प्राणी अधिक हैं। हमारा आचरण मानवीय स्वभाव के मूल मनोवेगों का परिणाम नहीं अपितु कृत्रिम मानसिक कारणों का परिणाम होता है। प्रथा की हमारे कार्यों को नियन्त्रित और मर्यादित रखने की शक्ति सार्वभौम है। हमें अन्धा बना देने की उसकी शक्ति इतनी अधिक है कि सहसा विश्वास नहीं होता। हम उन अन्यायों या क्रूरताओं को देखकर चकित रह जाते हैं जिन्हें हम प्रमाणित करते हैं या जिनके साथ हम सहमत हो चुके होते हैं। यदि हमें जोरदार सुझाव दिए जाएँ और उन्हें नैतिक जामा पहना दिया जाए, जिससे हममें सहमति की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाए, तो हमसे कुछ भी करवाया जा सकता है। दास-प्रथा, शिशु-हत्या, धर्म-परीक्षण समितियाँ (धार्मिक क्रूर न्यायालय), जादूगरनियों को जीते-जी जलाना, सबके सब किसी समय मानवीय गौरव के लिए सम्माननीय माने जाते थे, जैसे कि युद्ध आज भी माने जाते हैं।

धर्म की धारणा के अन्तर्गत हिन्दू उन सब अनुष्ठानों और गतिविधियों को ले आता है, जो मानवीय जीवन को घड़ती और बनाए रखती हैं। हमारी पृथक्-पृथक् रुचि होती हैं, विभिन्न इच्छाएँ होती हैं और विरोधी आवश्यकताएँ होती हैं, जो बढ़ती हैं और बढ़ने की दशा में ही परिवर्तित भी हो जाती हैं। उन सबको घेर घारकर एक समूचे रूप में प्रस्तुत कर देना धर्म का प्रयोजन है। धर्म का सिद्धान्त हमें आध्यात्मिक वास्तविकताओं को मान्यता देने के प्रति सजग करता है, संसार से विरक्त होने के द्वारा नहीं, अपितु उसके जीवन में, उसके व्यवसाय (अर्थ) और उसके आनन्दों (काम) में आध्यात्मिक विश्वास की नियन्त्रक शक्ति का प्रवेश कराने के द्वारा। जीवन एक है और इसमें पारलौकिक (पवित्र) और ऐहिक (सांसारिक) का कोई भेद नहीं है। भक्ति और मुक्ति एक-दूसरे की विरोधी नहीं हैं। धर्म, अर्थ और काम साथ ही रहते हैं। दैनिक जीवन के सामान्य व्यवसाय

---

१ तुलना कीजिए : महाभारत [illegible]
[illegible]
[illegible]

२ इस प्रश्न का कि
धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः
एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र संगमः
का उत्तर दिया गया है
यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगमः ।

अच्छे अर्थों में भगवान की सेवा है। सामान्य कृत्य भी उतने ही प्रभावी हैं जितनी कि मुनियों की साधना। हिन्दू तपस्या को बहुत ऊंचा नहीं बताता और न जीवन के सुखों के निष्प्रयोजन परित्याग की ही बहुत प्रशंसा करता है। शारीरिक कल्याण मानवीय कल्याण का अत्यावश्यक अंग है। आनन्द अच्छे जीवन का एक अंग है। आनन्द इन्द्रियग्राह्य भी है और आत्मिक भी। धूप का आनन्द लेना संगीत सुनना या कोई नाटक पढ़ना इन्द्रियग्राह्य और आत्मिक दोनों ही हैं। आनन्द अपने-आपमें कोई निन्दनीय वस्तु नहीं है।

इसी प्रकार आर्थिक उपादान (साधन) भी मानव-जीवन का एक आवश्यक तत्त्व है। सम्पत्ति में स्वत कोई पाप नहीं है ठीक वैसे ही जैसे गरीबी में स्वत कोई पुण्य नहीं है। किसी व्यक्ति के अपनी सम्पत्ति को बढ़ाने के प्रयत्नों को बुरा नहीं कहा जा सकता पर यदि किसी एक के सम्पत्ति जमा करने के प्रयत्नों से दूसरे लोगों को आर्थिक या नैतिक हानि पहुंचती है तो अवश्य यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या ऐसे उपायों से ऐसी सम्पत्ति एकत्रित करना जिसके परिणाम ऐसे हों भला है या नहीं? हिन्दू आचारशास्त्र (संहिता) का आग्रह है कि उद्देश्य वैयक्तिक लाभ न होकर समाज-सेवा होना चाहिए। जीवन के विभिन्न मूल्यों की साधना समान रूप से होनी चाहिए एक को गंवाकर दूसरे की नहीं। धर्मसूत्र हमें बताता है कि 'दर्शन का ज्ञान इसीलिए अच्छा माना जाता है, क्योंकि उससे सत्य का ठीक-ठीक निश्चय हो जाता है सम्पत्ति की इच्छा केवल इसलिए की जाती है कि इससे सामाजिक आर्थिक और धार्मिक कर्तव्यों और जिम्मेदारियों को पूरा करने में सहायता मिलती है और विवाह को इसलिए अच्छा माना जाता है कि वह उत्तम संतान उत्पन्न करने का साधन है।'[3] रघुवंश में कालिदास भी उन्हीं पुरुषों को आदर्श मानता है, "जो सम्पत्ति का संचय दान करने के लिए करते थे जो सत्यभाषी रहने के लिए थोड़ा बोलते थे जो यश के लिए विजय करना चाहते थे और जो सन्तान के लिए विवाह करते थे।"[4] हमसे अपेक्षा की जाती है कि हम धूल के प्रत्येक कण को मधुर मधु बना डालें।[5] कला और संस्कृति वाणिज्य और उद्योग में

१ शरीरं धर्मसर्वस्वं रक्षणीयं प्रयत्नत ।
२ धर्मार्थकामा सममेव सेव्या ।
यो ह्येकसक्त स जनो जघन्य ।
३ ते ओजिस्मस्नान बिभिरत्मान भूरिभूल रात्मत्मार्गिस्नै
रम्याय स्तान च कर्मयोर्णन् हरामकमान व्योर्षम्यतु ।
—आपस्तम्ब १.५
त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ।—१.७
५ मधुमत् पार्थिवं रज ।

वेद की उन्नति बहुत हो चुकी थी। दिल्ली अशोक-स्तम्भ में जिस इस्पात का उपयोग किया गया है, उसकी विशेषताएं आज भी संसार के इस्पात-उद्योगों के लिए आश्चर्य की वस्तु हैं। सम्पत्ति और आनन्द धर्मपरायणता और पूर्णता के विरोधी नहीं हैं। यदि उनकी साधना केवल उनके अपने लिए की जाए तो वे ठीक नहीं हैं पर यदि उन्हें आत्म-कल्याण और सामाजिक हित के लिए स्वीकार किया जाए, तो वे अवश्य ही ग्रहण करने योग्य हैं।

धर्म शब्द अनेक अर्थों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह 'धृ' धातु से (बनाए रखना, धारण करना, पुष्ट करना) बना है। यही वह मानदण्ड है जो विश्व को धारण करता है, किसी भी वस्तु का वह मूल तत्त्व जिसके कारण वह वस्तु वह है। वेदों में इस शब्द का प्रयोग धार्मिक विधियों के अर्थ में किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म की तीन शाखाओं (स्कन्धों) का उल्लेख किया गया है जिनका सम्बन्ध गृहस्थ, तपस्वी, ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों से है। जब तैत्तिरीय उपनिषद् हमसे धर्म का आचरण करने को कहता है तब उसका अभिप्राय जीवन के उस सोपान के कर्त्तव्यों के पालन से होता है जिसमें कि हम विद्यमान हैं। इस अर्थ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग भगवद्गीता और मनुस्मृति दोनों में हुआ है। एक बौद्ध के लिए धर्म बुद्ध और संघ या समाज के साथ-साथ 'त्रिरत्न' (तीन रत्न) में से एक है। पूर्वमीमांसा के अनुसार धर्म एक वाञ्छनीय वस्तु है जिसकी विशेषता है प्रेरणा देना। वैशेषिक सूत्रों में धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जिससे आनन्द (अभ्युदय) और परमानन्द (निःश्रेयस) की प्राप्ति हो वह धर्म है। अपने प्रयोजन के लिए हम धर्म की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि यह चारों वर्णों के और चारों आश्रमों के सदस्यों द्वारा जीवन के चार प्रयोजनों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के सम्बन्ध में पालन करने योग्य मनुष्य का समूचा कर्त्तव्य है। यद्यपि सामाजिक व्यवस्था का सर्वोच्च लक्ष्य यह है कि मनुष्यों को आध्यात्मिक पूर्णता और पवित्रता की स्थिति तक पहुंचने के लिए प्रशिक्षण दिया जाए, वहां इसका एक तत्कालवर्ती लक्ष्य इसके सांसारिक लक्ष्यों के कारण इस प्रकार की सामाजिक दशाओं का विकास करना भी है जिनमें जन-समुदाय नैतिक, भौतिक और बौद्धिक जीवन के ऐसे स्तर तक पहुंच सके जो सबकी भलाई और शान्ति के अनुकूल हो क्योंकि ये दशाएं प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन और अपनी स्वतन्त्रता को अधिकाधिक वास्तविक बनाने में सहायता देती हैं।

---

१ तुलना कीजिए "धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः।"
२ त्रयो धर्मस्कन्धाः।—२ २३
३ धर्मं चर।—१ ११
४ चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।
५ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

धर्म का मूल सिद्धान्त है मानवीय आत्मा के गौरव को प्राप्त करना जो भगवान का निवासस्थान है। सब धर्मों का सवम्वीकृत मूल सिद्धान्त यह ज्ञान ही है कि परमात्मा प्रत्येक जीवित प्राणी के हृदय में निवास करता है।[1] "समझ लो कि धर्म का सार यही है और फिर इसके अनुसार आचरण करो दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार मत करो जैसा तुम नहीं चाहते कि कोई तुम्हारे साथ करे।"[2] "हमें दूसरों के प्रति ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए, जो यदि हमारे प्रति किया जाए तो हमें अप्रिय लगे। यही धर्म का सार है शेष सारा बर्ताव तो स्वार्थपूर्ण इच्छाओं से प्रेरित होता है। हमें दूसरों को अपने जैसा ही समझना चाहिए।"[3] "जो अपने मन वचन और कर्म से निरन्तर दूसरों के कल्याण में लगा रहता है और जो सदा दूसरों का मित्र रहता है, वो जाजलि वह धर्म को ठीक-ठीक समझता है।[4] सब प्राणियों के प्रति मन वचन और कर्म द्वारा अद्वेष सद्भावना और दान इन्हें सबके लिए आवश्यक गुण[5] बताया गया है। स्वतन्त्रता या मुक्ति अनुशासन द्वारा ही होती है।[6] दूसरे शब्दों में हमारे सामाजिक जीवन को इस ढंग से चलाया जाना चाहिए जिससे उसके प्रत्येक सदस्य का एक व्यक्ति के रूप में जीने का काम करने का और जीवन में उन्नति करने का अधिकार प्रभावी रूप से स्वीकार कर लिया जाए। यह पवित्र की गई गतिविधि है। व्यक्ति के जीवन का सार उसे सामाजिक अनुष्ठानों से परे ले जाता है, हालांकि उसे उन

---

1 भगवान् वासुदेवो हि सर्वभूतेष्ववस्थितः
एतज्ज्ञानं हि सर्वस्य मूलं धर्मस्य शाश्वतम् ।

2 श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।
तुलना कीजिए आपस्तम्ब : आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति ।

3 न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः
एष सांक्षेपिको धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ।

4 सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ।—शान्तिपर्व २६१ ९
साथ ही तुलना कीजिए,
सर्वरत्नमया गच्छ सर्वदेवमयो हरिः
सर्वर्षिमयी गंगा सर्वधर्ममयी दया ।

5 अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ।

6 [illegible]
[illegible]
साथ ही तुलना कीजिए
ना ह राज्यं प्रतिशासामि किञ्चित् [illegible]
गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ।

अनुष्ठानों की आवश्यकता है। सामाजिक जीवन हमारी भवितव्यता में एक गति है, अन्तिम छोर नहीं। इसकी दशा सदा तनाव और गति की ही रहती है। एक इस प्रकार का अविराम प्रयत्न चलता रहता है कि किन्हीं भी दी हुई दशाओं के सम्बन्ध में अस्तित्व के सामान्य स्तर को जितना सम्भव हो अधिक से अधिक ऊंचा उठाया जाए। हिन्दू धर्म हमारे सम्मुख नियमों और विनियमों का एक कार्यक्रम प्रस्तुत करता है और यह अनुमति देता है कि उनमें निरन्तर परिवर्तन किया जा सकता है। धर्म के नियम अमर विचारों के मरणशील शरीर की भांति हैं और इसलिए उनमें परिवर्तन किए जा सकते हैं।

धर्म के स्रोत

धर्म के स्रोत ये हैं (१) श्रुति या वेद (२) स्मृति और स्मृति को जानने वालों का व्यवहार (३) धर्मात्मा लोगों का आचरण और (४) व्यक्ति का अपना अन्तःकरण।

वेद हिन्दू धर्म का मूल आधार है। वेद के शब्द परम महत्त्वपूर्ण और प्राचीन हैं। वे श्रद्धा और भक्ति से, विश्वास और निश्चय से भरे हुए हैं। उनमें मनुष्य की शाश्वत आशाएं और आकांक्षाएं घनीभूत हैं। उन ऋषियों की गम्भीरता को हृदयंगम कर पाना भी कठिन है जिनके होठों से पहले-पहल यह प्रार्थना निकली थी: असत्यता से हटाकर मुझे वास्तविकता की ओर ले चलो, अन्धकार से हटाकर मुझे प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से हटाकर मुझे शाश्वत जीवन की ओर ले चलो। वैदिक सूक्तियां अपनी व्यंजना की दृष्टि से अनन्त हैं। हारीत का कथन है कि श्रुति के अन्तर्गत वेद और तन्त्र दोनों ही हैं। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत कुछ सम्प्रदाय ऐसे भी हैं जो वेद को प्रमाण नहीं मानते। मेधातिथि कहता है, "इस प्रकार सब विरोधी सम्प्रदाय, जैसे भोजक, पंचरात्रिक, निर्ग्रन्थ, अनर्थवादी, पाशुपत तथा अन्य सम्प्रदाय यह मानते हैं कि महापुरुषों ने और उन विशिष्ट देवताओं ने, जिन्होंने उन मतों का प्रवर्तन किया, उन मतों में निहित सत्य का सीधे प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान प्राप्त किया है और उनका विचार है कि धर्म का उद्गम वेद नहीं है।"

वेदों में धर्म का कोई सुव्यवस्थित विवरण नहीं है। उनमें शास्त्रों की ओर

१ [illegible]
२ [illegible]
३ [illegible]
४ [illegible]
५ [illegible]

संकेत है और कुछ व्यवहारों का उल्लेख है। आचरण के उदाहरणों से भिन्न नियम और आदेश स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में प्राप्त होते हैं। स्मृति और धर्मशास्त्र व्यवहारतः पर्यायवाची ही हैं। स्मृति का शब्दार्थ उस वस्तु की ओर संकेत करता है जो वेदों के अध्ययन में निष्णात ऋषियों को याद रह गई थी। स्मृति का कोई भी नियम जिसके लिए कोई वैदिक सूत्र ढूंढा जा सके वेद की ही भांति प्रामाणिक बन जाता है। यदि कहीं श्रुति और स्मृति में विरोध हो तो वहां श्रुति को प्रामाणिक स्वीकार किया जाएगा।

जिस ढंग से अनुशासित (शिष्ट) लोग आचरण करते हैं वह भी धर्म का एक स्रोत है। यह आशा की जाती है कि भले मनुष्यों का व्यवहार शास्त्रों के आदेशों के अनुकूल ही होगा और इसलिए उसे आचरण के लिए पथप्रदर्शक माना गया है। यह आवश्यक नहीं है कि भले मनुष्य अनिवार्य रूप से ब्राह्मण ही हों। भिन्न भिन्न भले शूद्रों (सच्छूद्र) के व्यवहार को प्रामाणिक मानता है। वसिष्ठ के कथनानुसार उन्हें निःस्वार्थ होना चाहिए। स्थानीय प्रथाओं (रिवाजों) को प्रामाणिक माना गया और उनका समावेश सदाचार में कर लिया गया। याज्ञवल्क्य का कथन है "यदि कोई बात स्मृति-सम्मत भी हो पर लोग उसे बुरा समझते हैं, तो उसके अनुसार आचरण नहीं करना चाहिए।"[4] बृहस्पति ने घोषणा की कि "प्रत्येक देश जाति और कुटुम्ब को चिरकाल से चली आ रही प्रथाओं या परम्पराओं को ज्यों का त्यों बनाए रखना चाहिए।"[5] यदि किन्हीं जातियों में बहुपतित्व की प्रथा

---

१ '[illegible]' १ ३-४। कुमारिल लिखता है, "क्योंकि ये स्मृतियां मानवीय रचयिताओं से निकली हैं, और वेदों की भांति शाश्वत नहीं हैं, इसलिए इन्हें स्वतः प्रमाण नहीं माना जा सकता। मनु या स्मृति या अन्य लोगों की स्मृतियां उनके रचयिताओं के स्मरण पर आधारित हैं और स्मरण की प्रामाणिकता उसके मूल स्रोत की सत्यता पर निर्भर है। परिणामतः किसी भी एक स्मृति को वेदों की भांति स्वतः प्रमाण नहीं माना जा सकता। फिर भी, क्योंकि हम देखते हैं कि वेदों में निष्णात प्रतिष्ठित पुरुषों की एक अविच्छिन्न परम्परा इन्हें प्रमाण मानती आई है इसलिए हम इन्हें एकदम अविश्वसनीय कहकर अमान्य नहीं कर सकते। इसीलिए इनकी विश्वसनीयता के विषय में अनिश्चितता का भाव उत्पन्न हो जाता है।" —'तन्त्रवार्तिक'

२ महाभारत में एक श्लोक है, जो प्रायः उद्धृत किया जाता है:
तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।

३ [illegible]

४ याज्ञवल्क्य १— बौधायन १ ५ १

५ २ ५१

६ २ ११ १। तुलना कीजिए
देशधर्मान् जातिधर्मान् कुलधर्मांश्च शाश्वतान्
पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान् मनुः

—'मनुस्मृति' १ ११

प्रचलित थी तो हिन्दू शास्त्रों ने उसमें हस्तक्षेप नहीं किया। नये जीते हुए देश के विषय में चर्चा करते हुए याज्ञवल्क्य कहता है "उस देश में चाहे जो भी प्रथाएं कानून और रीति-रिवाज प्रचलित हों राजा को चाहिए कि उनका पालन पहले की ही भांति होता रहने दे।"[1] परन्तु वह प्रथा अनैतिक या लोकहित-विरोधी न होनी चाहिए। वह सदाचार के अनुकूल होनी चाहिए। गौतम का कथन है कि देशों, जातियों और कुटुम्बों के आचरण के नियम यदि श्रुति-विरोधी न हों तो प्रामाणिक हैं।[2] समाज जिस वस्तु को भी अपना लेता है उसे अपने विचार और धर्म के प्रमुख आदर्श के अनुरूप ढाल लेता है।

श्रेष्ठ व्यक्तियों के व्यवहार के साथ-साथ 'अच्छे अन्तःकरण' को भी धर्म का एक स्रोत स्वीकार किया गया है। याज्ञवल्क्य ने उस वस्तु का उल्लेख किया है जो अपने-आपको प्रिय लगे और सावधान विचार से उत्पन्न इच्छा हो।[3] यह अनुशासित व्यक्ति का अन्तःकरण है किसी उच्छृंखल व्यक्ति के मन की मौज नहीं। जिस भी वस्तु को हृदय स्वीकृति देता हो या जिसकी कार्य-बोध प्रशंसा करते हों 'वह धर्म है। मनु हमें वह कार्य करने को कहता है जिससे आन्तरिक आत्मा को (अन्तरात्मा को) तृप्ति होती हो। जो बात युक्तियुक्त हो उसे स्वीकार करना चाहिए, फिर चाहे वह किसी बालक ने कही हो या किसी तोते ने। पर जो बात युक्तियुक्त न हो वह चाहे किसी वृद्ध ने कही हो या स्वयं मुनि शुकदेव ने उसे अस्वीकार ही किया जाना चाहिए।[4]

संकट के समय धर्मग्रन्थ के नियमों में अपवाद की भी अनुमति थी। आवश्यकता किसी नियम को नहीं देखती और प्राण-रक्षा के लिए आपद्धर्म के नियमों के अन्तर्गत किसी भी प्रकार का आचरण करने की छूट दी गई है। विश्वामित्र के सामने ऐसा अवसर आया था जब उसे प्राण बचाने के लिए कुत्ते का मांस चुराना आवश्यक हो गया था और उसने इस चोरी को यह कहकर उचित ठहराया कि जीवित रहना मरने की अपेक्षा अच्छा है। धर्मानुकूल जीवन के लिए पहले जीवित रहना आवश्यक है। श्रुति सर्वोच्च प्रमाण है उसके बाद महत्त्व की दृष्टि से स्मृति या मनुष्य

---

१ ३ ४३
[illegible]
२ आत्मनस्तुष्टि ।—मनु २ ६
[illegible] सम्यक् [illegible] कामो । १ ७। याज्ञवल्क्य १ ७
३ हृदयेनाभ्यनुज्ञातः । मनु २ १
४ [illegible]
५ २ ६
युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यं बालादपि शुकादपि
युक्तिहीनं वचस्त्याज्यं वृद्धादपि शुकादपि ।
६ [illegible]

द्वारा बना ली गई परम्परा का स्थान है यह उस सीमा तक प्रामाणिक है जहां तक यह वेद के प्रतिकूल नहीं है इसे प्रामाणिकता वेद से ही प्राप्त होती है। व्यवहार या प्रथाएं (आचार) भी विश्वसनीय हैं यदि वे सुसंस्कृत लोगों द्वारा स्वीकृत हों। व्यक्ति का अपना अन्तःकरण भी प्रामाणिक है।

वेदों को हमारी सब आवश्यकताओं का पहले से ज्ञान नहीं हो सकता था और इसलिए हमें उन लोगों की बुद्धिमत्ता पर भरोसा करना होगा जो वेदों की भावना से भली-भांति परिचित हैं। वेदों में प्रत्येक कल्पना किए जा सकने योग्य मामले के लिए व्यवस्था नहीं की गई है अपितु कुछ साधारण सिद्धान्त नियत कर दिए गए हैं जिन्हें हम अपने विवेक और विचार के अनुसार नये मामलों पर भी लागू कर सकते हैं। परिषदों के या विद्वानों की सभाओं के निश्चयों को भी स्वीकार किया जा सकता है यदि हमें यह पक्का विश्वास हो कि वे निष्पक्ष हैं। संदिग्ध और विवाद ग्रस्त मामलों के निर्णय भी उन्हींके द्वारा किए जाते हैं। मनु और पाराशर ने यह नियम बनाया है कि जब लोगों की आदतों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए जाते हैं तब परिषद् बुलाई जानी ही चाहिए। साधारणतया परिषद् में दस बुद्धिमान ब्राह्मण होने चाहिए, परन्तु संकट के समय अन्तर्दृष्टि सम्पन्न और जितेन्द्रिय एक ब्राह्मण भी परिषद् के रूप में कार्य कर सकता है।[1] 'स्मृतिचन्द्रिका' का मत है कि धार्मिक मनुष्यों द्वारा चलाई गई परम्परा भी वेदों की भांति ही प्रामाणिक है।[1] मनु का कथन है कि यदि समितियां न बुलाई जा सकें तो एक श्रेष्ठ ब्राह्मण की सम्मति भी काफी है। समाज के लिए विधान बनाने का अधिकार केवल उन्हीं लोगों को है जो अनुशासित हों सब जीवों के प्रति सहृदय हों वेदों और तर्क की पद्धतियों में निष्णात हों व्यावहारिक बुद्धिवाले (देशकाल विशेषज्ञ) हों और निष्कलंक चरित्र के हों। ऐसे लोग ही राष्ट्र के सचेतन मन और अन्तःकरण होते हैं। सामाजिक प्रमाप (स्टंडर्ड) सामाजिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया द्वारा एकाएक स्वतः नहीं बन जाते। वे उन दैवप्रेरित आत्माओं के जो सृजनशील प्रतिभा से

---

१ मुनीनामात्मविद्यानां द्विजानां यज्ञयाजिनाम्
वेदव्रतेषु स्नातानामेकोऽपि परिषद् भवेत्। —पराशर २

जब मुआज़ को यमन का शासक नियुक्त किया गया तो कहा जाता है कि पैगम्बर ने उससे पूछा कि उसके सामने जो मामले पेश होंगे उनका फैसला वह किस तरह करेगा। मुआज़ ने उत्तर दिया "मैं उन मामलों का फैसला खुदा की किताब (कुरान) के अनुसार करूंगा।" "परन्तु यदि खुदा की किताब में उस विषय में तुम्हारे पथ-प्रदर्शन के लिए कुछ न लिखा हो तो?" "तब मैं खुदा पैगम्बर के निदर्शनों के अनुसार कार्य करूंगा।" "पर यदि निदर्शन भी न हों तो?" "तब मैं अपने विवेक के अनुसार कार्य करने का यत्न करूंगा।" —इकबाल सिक्स लेक्चर्स आन रिकन्स्ट्रक्शन आफ रिलिजस थाट इन इस्लाम (१९३०) पृष्ठ १४८

समयश्चापि साधूनां प्रमाणं वेदवद् भवेत्।

१ धर्मज्ञ समय प्रमाणम्।

सम्पन्न हैं आध्यात्मिक प्रयत्नों के परिणाम हैं। यद्यपि ऐसे लोग सदा अल्पसंख्यक रहते हैं, फिर भी वे सामान्य कोटि के मनुष्यों पर प्रत्यक्ष सीधे प्रभाव डालने की पद्धति द्वारा प्रभाव नहीं डालते अपितु एक सामाजिक दबाव की पद्धति से काम करते हैं। सामान्य लोग मन्त्र की भांति एक ऐसा विश्वास कर बैठते हैं, जिसे वे अपने-आप पहल करके नहीं कर सकते थे।

हमें प्रत्येक प्रसंग में अपने सही कर्तव्य का निर्णय करना होता है। आपस्तम्ब का कथन है 'धर्म और अधर्म यह कहते नहीं फिरते कि हम ये रहे' न देवता, न गन्धर्व और न पितर ही यह बताते हैं कि यह धर्म है और यह अधर्म है'।[1] हमें अपनी तर्कबुद्धि का प्रयोग करना होता है और परम्परा की यथोचित व्याख्या करनी होती है। हम शास्त्रों का उनकी संगति (प्रसंग) को हृदयंगम किए बिना अंधा भी अनुकरण नहीं करना चाहिए। श्रेष्ठ लोग जिस बात की प्रशंसा करते हैं वह ठीक है जिसकी वे निन्दा करते हैं वह गलत है। यह बात मुनि के इस मन्तव्य के अनुरूप है कि जहां यह सन्देह उत्पन्न हो जाए कि क्या उचित है और क्या अनुचित वहां धर्मपरायण लोगों के विचारों को प्रमाण मानना चाहिए। मिताक्षरा का कथन है 'यदि कोई बात धर्म द्वारा अनुमत होने पर भी लोक-निन्दित हो तो उसपर आचरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे स्वर्ग का सुख नहीं मिलता। जहां यह निश्चय करना कठिन हो कि उचित कर्तव्य क्या है वहां जो व्यक्ति नाविष्ट (निर्धारित) कर्तव्य का पालन करता है, उसे पाप नहीं लगता। जब एक बार यह निश्चय हो जाए कि ठीक कार्य यह है तब हम उसका पालन करना चाहिए। व्यास हमें प्रोत्साहित करता है कि हमें धर्म का पालन करना ही चाहिए भले ही उसके लिए हमें अपनी समस्त सांसारिक इच्छाओं का बलिदान क्यों न करना पड़े चाहे उसके कारण हमें कितने ही भीषण कष्टों और दरिद्रता का सामना क्यों न करना पड़े और चाहे उसमें प्राण जाने तक का भय क्यों न हो।

---

१ न धर्माधर्मौ चरत आवं स्व इति न देवगन्धर्वा न पितर इत्याचक्षतेऽयं धर्मोऽयम् अधर्म इति ।—१ २०-६

२ तुलना कीजिए

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः
युक्तिहीने विचारे तु धर्महानिः प्रजायते —बृहस्पति
उद्धृत श्री के० वी० रंगस्वामी आयंगर लिखित 'राजधर्म' (१९४१) पृष्ठ ११४
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।—मनु १२ १०६

३ यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मः यं गर्हन्ते सोऽधर्मः ।

४ १ ४

५ न जातु कामान्न भयान्न लोभात्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।

भर्तृहरि कहता है "धर्मपरायण व्यक्ति न्याय के पथ से कभी विचलित नहीं होते चाहे दुनियादारी की दृष्टि से कुशल लोग उनकी प्रशंसा करें या निन्दा करें चाहे उन्हें सम्पत्ति मिलती हो या छिनती हो चाहे तुरन्त मृत्यु होती हो या दीर्घ जीवन प्राप्त होता हो।

धर्म के वे नियम जिनका उल्लंघन करने से कानूनी कार्रवाई करना आवश्यक होता है व्यवहार या वास्तविक विधान कहलाते हैं। हिन्दू विधानशास्त्री नैतिक शिक्षाओं और वैधानिक नियमों में मतभेद करते हैं एक हैं धार्मिक और नैतिक पालन के नियम (आचार) और प्रायश्चित्त करने के नियम (प्रायश्चित्त) और दूसरे हैं सकारात्मक विधान के नियम (व्यवहार)। याज्ञवल्क्य-स्मृति में तीन अध्याय हैं आचार व्यवहार और प्रायश्चित्त। व्यवहार या दीवानी कानून—धर्मविधान—का सम्बन्ध विवाह, पुत्र गोद लेने बटवारे, और उत्तराधिकार से है। यह पहले से चली आ रही प्रथाओं पर आधारित है। बृहस्पति का कथन है कि चार प्रकार के विधान हैं जिनका प्रबन्ध शासकों को करना होता है और संदिग्ध मामलों का निर्णय इन विधानों के अनुसार ही होना चाहिए ये विधान हैं धर्म या नैतिक विधान व्यवहार या दीवानी कानून (धर्मविधान) चरित्र या प्रथाएं और राजशासन या राजा के अध्यादेश।[1] औचित्य और सामान्य बुद्धि पर आधारित नये बनाए गए वैधानिक नियम भी प्रामाणिक होते हैं और वे पहले से विद्यमान कानूनों और प्रथाओं का अतिक्रमण (लांघ जाना) करते हैं। हम विधानांग द्वारा नये विधान बनवाकर हिन्दू विधान के नियमों को समाप्त कर सकते हैं या उनमें संशोधन कर सकते हैं। जाति अयोग्यता अपनयन अधिनियम (१८५० का २१वां) हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम (१८५६ का १५वां) विशेष विवाह अधिनियम (१८७२ का ३रा) जिसमें १९२३ में एक संशोधन भी हुआ जिसके द्वारा भारतीय तलाक अधिनियम की शर्तों के अनुसार सिविल विवाह की व्यवस्था की गई है आर्य विवाह वैधीकरण अधिनियम (१९३७ का १९वां) हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति का अधिकार अधिनियम (१९३७ का १८वां) जिसके द्वारा विधवाओं को मृत पति की सम्पत्ति में उसके पुत्र के बराबर ही उत्तराधिकार का हक दिया गया है इस प्रकार धर्म या विधान की ही भांति विकास कर सकने का क्रम है। गत शताब्दी की आठवीं दशाब्दी के उत्तरार्ध में श्री मेन ने लिखी हिन्दू ला एण्ड यूसेज पुस्तक अपने विषय की प्रामाणिक पुस्तक बन

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

१ १

गई है सिला या कि हिन्दू विधान स्‍वयं प्रगति की एक ऐसी स्थिति मे है जिसम केवल मृतको की समाधियो मे से आनेवाली ध्वनियां ही सुनी जाती हैं अन्य कोई नही। यद्यपि विधान-निर्माण द्वारा तथा न्यायालयो के निर्णयो के आधार पर बने विधान (केस ला) द्वारा कुछ थोडे-से परिवर्तन अवश्य हुए हैं फिर भी श्री मेन का कथन आज भी बहुत कुछ सत्य है। जब हम हिन्दू विधि-विधान के न्यायोचित सिद्धान्तो की ओर ध्यान देते हैं तो आधुनिक दशाओ मे उनके प्रयोग मे कुछ वैधानिक सुधारो की आवश्यकता प्रतीत होती है। इन सुधारो को अव्यवस्थित नही अपितु एक सुव्यवस्थित रूप से किया जाना चाहिए।

परिवर्तन के सिद्धान्त

किसी भी जीवित समाज म निरन्तर बने रहने की शक्ति और परिवर्तन की शक्ति दोनो ही होनी चाहिए। किसी असभ्य समाज म एक पीढी से लेकर दूसरी पीढी तक शायद ही कोई प्रगति होती हो। परिवर्तन को बहुत सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है और सारी मानवीय ऊर्जाए स्थिति को यथापूर्व बनाए रखने पर केन्द्रित रहती हैं। पर किसी सभ्य समाज म प्रगति और परिवर्तन ही उसकी गति विधि की जान होते हैं। समाज के लिए अन्य कोई वस्तु इतनी हानिकारक नही है जितना कि घिसीपिटी विधियों से और पुरानी पड गई आदतो से चिपटे रहना क्योकि केवल जडता के कारण बची बनी आती है। हिन्दू विचारधारा मे भरपूर परिवर्तनो के लिए स्थान रखा गया है। सामाजिक आनुवंशिकता मे कोई उग्र व्याघात न पडना चाहिए, फिर भी नये दबावो अन्तर्विरोधो और गडबडो का तो सामना करना ही होगा और उनपर विजय पानी होगी। यह ठीक है कि आत्मा के सत्य सनातन हैं पर नियम युग-युग मे बदलते रहते हैं। हमारी सामाजिक संस्थाए नष्ट हो जाती हैं। वे अपने समय मे धूमधाम से रहती हैं और उसके बाद समाप्त हो जाती हैं। वे काल की उपज होती है और काल की ही ग्रास बन जाती हैं। परन्तु हम धर्म को इन संस्थाओ के किसी भी समूह के साथ एक या अभिन्न नही समझ सकते। वह इसलिए बना रहता है, क्योकि इसकी जडें मानवीय प्रकृति म हैं और वह अपने किसी भी ऐतिहासिक मूर्त रूप के समाप्त हो जाने के बाद भी बचा रहेगा। धर्म की पद्धति परीक्षणात्मक परिवर्तन की है। सब संस्थाए परीक्षण हैं यहा तक कि सम्पूर्ण जीवन भी परीक्षण ही है। विधान निर्माता अपने परिवेश (आसपास की परिस्थितियो) मे यहा तक कि जब वे उसम ऊपर उठने की कोशिश भी कर रहे होते हैं तब भी बधे-से रहते हैं। विधानो और संस्थाओ मे पवित्रता या निश्चलता की कोई बात नही है। 'पराशर स्मृति' म कहा गया है कि सतयुग त्रेता द्वापर और कलियुग इन चार

१ पराशर, ३३ तुलनातुलनात्मक १ ३१ देखिए मनु १-८५

पूर्व सिद्धान्तों को ग्रहण कर लिया जाए, और उनका आधुनिक जीवन में प्रयोग किया जाए। सब सच्ची उन्नतियों में परिवर्तन में भी एकता सुरक्षित बनी रहती है। जब बीज पौधा बनता है और जीवाणु पूरा पुष्ट शिशु बनता है तब उनमें अविच्छिन्न निरन्तरता बनी रहती है। जब परिवर्तन हो भी रहे होते हैं तो वे परिवर्तन प्रतीत नहीं होते क्योंकि वहां एक बनाए रखनेवाली एक शक्ति रहती है जो नई सामग्री को मिलाती और नियन्त्रित रखती है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में पिता न्यग्रोध (वट वृक्ष) वृक्ष के उदाहरण से यथार्थ (वास्तविक) के सक्रिय स्वरूप को स्पष्ट करता है। "वहां से न्यग्रोध वृक्ष का फल ले आओ।" "यह ले आया हूं, तात।"
"इसे फाड़ दो।" "फाड़ दिया, तात।" "इसमें क्या देख पाते हो?" "कुछ भी नहीं, तात।" पिता ने कहा, "वत्स, जिस सूक्ष्म तत्त्व को तुम इसमें नहीं देख पाते, उसी तत्त्व में यह विशाल न्यग्रोध वृक्ष खड़ा है।"[1] वृक्ष का तत्त्व उस अदृश्य किन्तु सक्रिय शक्ति में है जिसके अभाव में वृक्ष मुरझा जाएगा और मर जाएगा। यदि धर्म के वृक्ष को सुरक्षित रखना हो तो हमें चाहिए कि हम इस अदृश्य शक्ति को जीवन की अधिकाधिक बढ़ती हुई अभिव्यक्तियों को व्यवस्थित करने और बनाए रखने दें। यदि हम अपनी सामाजिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न नहीं होने देना है, यदि हमें अपने सामाजिक विचार को असंगत या ऊट-पटांग नहीं बनने देना है तो हम उन बाह्य अनुभवों को जो हमपर अधिकाधिक धा-धाकर पड़ रहे हैं नियंत्रित करना होगा और उन्हें सार्थक बनाना होगा। धर्म के सिद्धान्तों को आस्थाओं के मानदण्ड का नये अनुभवों के दबाव में और उनके बाद भी बनाए रखना होगा। केवल तभी हमारे लिए सतुलित और समग्र सामाजिक प्रगति कर पाना सम्भव होगा। यदि हम बदलती हुई दशाओं में भी उत्तराधिकार में प्राप्त नीति मार्गों में ही चिपटे रहेंगे तो उसका परिणाम यदि विनाश नहीं तो अस्थिरता अवश्य होगा। आज हमें परिवर्तन करने चाहिए और हिन्दू धर्म की अन्तर्वस्तु को आधुनिक दशाओं में सुसंगत बना देना चाहिए। हिन्दू समाज में नई शक्तियों का प्रवेश, एक कृषि प्रधान देश का औद्योगिकीकरण, विधवाविवाह और प्रथा का [illegible], हिन्दू समाज में अहिन्दुओं का प्रवेश और विवाह तथा धर्म-परिवर्तन द्वारा जातियों का मिश्रण, स्त्रियों का उद्धार (पर्दे से मुक्ति)—ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनके सम्बन्ध में उदार भावना के साथ विचार किया जाना चाहिए। वैदिक युग में आर्य-हिन्दुओं में कहा गया था कि वे [illegible] द्रविड़ों, आन्ध्रों और पुलिन्दों का सामाजिक [illegible]। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में कहा गया है कि आन्ध्र विश्वामित्र की सन्तान थे। उनमें [illegible] से पतन्ता थी कि आन्ध्र आर्यों के समान थे? पुराणों में लिखा है कि विश्वामित्र ने एक नई सृष्टि रची थी। इन्हीं

६, १
१ --१

से हम पता चलता है कि व्रात्यस्तोम यज्ञ[1] करने के बाद व्रात्यों को आर्यों में सम्मिलित किया जा सकता था। बारह पीढ़ियों के बाद भी उनकी शुद्धि के लिए व्यवस्था की गई है। हमें पता नहीं कि ये व्रात्य लोग कौन थे। वे कोई एक अलग समाज थे या केवल उच्च वर्णों के वे ही सदस्य थे जो अपने निर्दिष्ट कर्तव्यों का पालन करने में चूक जाते थे इस विषय में केवल अनुमान ही किया जा सकता है। अधिक लोकप्रिय मत यह है कि वे यूनानी (यवन) और म्लेच्छ (म्लेच्छ) थे। यूनानी और सीथियन लोगों ने हिन्दू धर्म को स्वीकार कर लिया था और नव धर्म-दीक्षितों का सा उत्साह प्रदर्शित किया था। एक यूनानी उपराजदूत हीलियोडोरस विष्णु का भक्त (भागवत) हो गया था और उसने एक वैष्णव मन्दिर में एक स्तम्भ (गरुड़ध्वज) खड़ा करवाया था। हूण भी विष्णु के उपासक बन गए थे। अनेक विदेशी आक्रमणकारी यहां क्षत्रिय बनकर रहने लगे। जब मुसलमानों की विजयों का कारण हिन्दू नर-नारियों का सामूहिक रूप से धर्म-परिवर्तन होने लगा तब देवल स्मृति[2] ने जो ईस्वी सन् की आठवीं शताब्दी के पश्चात् किसी समय सिन्ध में लिखी गई उन्हें फिर हिन्दू धर्म में दीक्षित कर लेने को उचित ठहराया। जो लोग युद्ध में कैदी बना लिए गए थे या जिनका धर्म-परिवर्तन कर लिया गया था या जिनका नये धर्मवाली स्त्रियों से सम्बन्ध हो गया था उन सबको वसिष्ठ, अत्रि और पराशर के मतानुसार शुद्धि-संस्कार करके फिर वापस हिंदू धर्म में लिया जा सकता था। जिन स्त्रियों का अपहरण किया गया हो और अपहरण की अवधि में जिन्हें गर्भ रह गया हो उनके सम्बन्ध में देवल का मत है कि शिशु के जन्म के बाद उन्हें शुद्ध करके फिर ग्रहण कर लिया जाना चाहिए परन्तु शिशु को माता से अलग कर दिया जाना चाहिए, जिससे जातियों का घपला (वर्ण संकर) न होने पाए। रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी मुसलमान थे जो चैतन्य के शिष्य बन गए थे उन्होंने वैष्णव धर्म की चैतन्य-पूजा-पद्धति पर महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। कहा जाता है कि शिवाजी ने अपने एक सेनापति को जिसे बलपूर्वक मुसलमान बना लिया गया था और जो दस साल तक अपनी मुसलमान पत्नी के साथ

---

१ कात्यायन २२- १—२

२ शंकर का कथन है [illegible] ।

३ इस शिलालेख पर लिखा है, 'देवाधिदेव वासुदेव के इस गरुड़ध्वज का निर्माण तक्षशिलावासी, डियोन के पुत्र परम वैष्णव हीलियोडोरस ने कराया जो महाराज एंटियालकिडस का यूनानी राजदूत बनकर तत्कालीन (विदिशा के) राजा काशीपुत्र भागभद्र के यहां आया था। राजा काशीपुत्र उस समय अपने राज्यकाल के चौदहवें वर्ष में सुख और समृद्धि के साथ राज्य कर रहा था।

४ सिन्धुतीरे सुखासीनं देवलं मुनिसत्तमम्
समेत्य मुनयः सर्वे इदं वचनमब्रुवन्
भगवन् म्लेच्छनीता हि कथं शुद्धिमवाप्नुयुः ।

अफगानिस्तान में रहा था शुद्ध करके फिर हिन्दू बना लिया था। हाल ही में मद्रास उच्च न्यायालय में एक मामले में यह निर्णय दिया गया था कि ईसाई धर्म को छोड़ कर हिन्दू बना हुआ व्यक्ति यदि उसकी जातिवाले उसे हिन्दू मानते हैं तो हिन्दू ही माना जाएगा भले ही औपचारिक रीति से पुनः धर्म-परिवर्तन की विधि संपन्न न भी हुई हो।[1]

नई दशाओं का सामना करने के लिए नई स्मृतियां बनीं और न तो वेदों में और न अतीत की प्रथाओं में ही कोई ऐसी बात है जिसके कारण हमसे यह अपेक्षा की जाती हो कि हम उन्हीं पुरानी बातों से चिपटे रहें जो कभी की जीर्ण-शीर्ण हो चुकी हैं। मेधातिथि कहता है "यदि आज भी कोई ऐसा व्यक्ति होता जिसमें उपयुक्त योग्यताएं होतीं तो आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए उसके वचन भी मनु तथा अन्य स्मृतिकारों के वचनों की ही भांति प्रामाणिक होते।"[2] जिन लोगों को सत्य का आन्तरिक ज्ञान है वे ही नए अनुभवों को संभाल पाने में और धर्म की धारणा करने की शक्ति को फिर नया कर पाने में समर्थ होंगे। यदि वे परिवर्तन की स्वीकृति देते हैं तो सुरक्षा की भावना को धक्का नहीं पहुंचेगा। उस दशा में सुधार बिना किसी प्रतिक्रिया के आगे बढ़ सकेगा। भविष्य में तैयार की गई स्मृतियां जहां तक वे वेदों में प्रकट की गई भावना के मूल सत्यों पर आधारित होंगी पूरी तरह प्रामाणिक मानी जाएंगी। कालिदास के शब्दों में कोई वस्तु केवल इसीलिए अच्छी नहीं हो जाती कि वह प्राचीन है और न कोई नई रचना केवल इसलिए बुरी समझी जा सकती है कि वह नई है।[3]

इस भाग्य-निर्णायक महत्त्वपूर्ण घड़ी में जबकि हमारा समाज एक गतिहीन महल बन चुका है हमें अपने पूर्वजों के स्वरों के साथ-साथ नई ध्वनियों को भी सुनना चाहिए। कोई भी प्रथा तब तक सब मनुष्यों के लिए मान्य नहीं हो सकती। यदि हम अतीत के नियमों से बहुत अधिक चिपटे रहेंगे और मृतों को जीवित एवं जीवितों को मृत धर्म बन जाएगा तो सभ्यता मर कर रहेगी। हम बुद्धिमत्तापूर्ण परिवर्तन करने ही होंगे। यदि कोई शरीर या समाज अपने आप को

[illegible]

२ मनु पर मेधातिथि ८ । ९९

३ [illegible]

[illegible]

बाहर निकालने की शक्ति खो बैठता है तो नष्ट हो जाता है। स्वतन्त्रता केवल जीवितों की ही वस्तु है। स्वतन्त्रता की भावना अतीत का निराकरण नहीं करती अपितु उसके वायदों को पूरा करती है। जो कुछ सर्वोत्तम है उसको यह सुरक्षित रखती है और उसे एक नई जीवनी शक्ति द्वारा रूपान्तरित कर देती है। यदि पुरानी प्रथाओं को ही अन्तिम मान लिया जाए, तो वे सजीव भावना के लिए बेड़ियां बन जाती हैं। सामाजिक स्वतन्त्रता की कीमत केवल शाश्वत जागरूकता ही नहीं अपितु सर्जनशील भावना का सतत पुनर्नवीकरण शाश्वत यत्न (मशक्कत) और अविराम सक्रियता भी है। जीवन यदि निरन्तर अपने-आपको नये नये रूपों में ढालने के लिए प्रयत्नशील न हो तो वह जीवन ही नहीं है। यदि हम जो कुछ हमारे पूर्वज कर गए हैं उतने से ही सन्तुष्ट होकर बैठ रहेंगे तो अपक्षय (ह्रास) प्रारम्भ हो जाएगा। यदि हम जड़ता और आलस्य के कारण,जिन्हें मध्य युगीन ईसाइयों ने घातक पापों में गिना था अपनी संस्कृति की परम्परा को उन्नत करने के कठिन कार्य से बचने की कोशिश करेंगे तो उससे हमारी सभ्यता की हानि उठानी पड़ेगी। पिछले कुछ समय से विभिन्न भागों में कहीं कुछ कम और कहीं कुछ अधिक भावना की सामान्य थकान के अशुभ चिह्न दिखाई पड़े हैं। वे लोग भी जो तर्क को अधिक गौरवपूर्ण बताते हैं आचरण प्रथा के आदेशों के अनुसार ही करते हैं। हम फिर वैदिक युग की परम्पराओं को प्रारम्भ नहीं कर सकते क्योंकि वैसा करने का अर्थ इतिहास के तर्क से इनकार करना होगा। फिर, हम बिलकुल नये सिरे से इस प्रकार तो शुरू नहीं कर सकते कि जैसे भारत का कोई इतिहास ही नहीं रहा और मानो इसके निवासी केवल विचार करने भर से अपने स्वभाव को बदल सकते हैं। सम्भावनाएं वास्तविकता की प्रकृति के आधार पर टिकी होनी चाहिए। सभ्यताओं को उनके अपने अनुभवों की पद्धति से ही जीना चाहिए। व्यक्तियों की ही भांति राष्ट्र भी दूसरों से अनुभव उधार नहीं ले सकते। दूसरे लोग हमें प्रकाश दिखा सकते हैं परन्तु कार्य करने की प्रेरणाएं हम अपने इतिहास से ही प्राप्त करेंगे। स्थायी क्रान्तियां केवल वे ही होती हैं जिनकी जड़ अतीत में होती है। हम अपने इतिहास का निर्माण कर सकते हैं किन्तु हम उसका निर्माण जब चाहें और जैसे चाहें नहीं कर सकते और परिस्थितियां हमारे मनोनुकूल हों यह आवश्यक नहीं है। परिस्थितियां तो हमें दे दी जाती हैं। जो संस्कृति मृत सी दीख पड़ती है वह भी जीवन से भर उठ सकती है यदि उसमें दो-तीन ऐसे महान सदस्य हों जो एक नई सजीव परम्परा का श्रीगणेश कर सकें। संस्कृति परम्परा है और परम्परा स्मृति है। इस स्मृति का स्थायित्व सृजनशील व्यक्तियों के निरन्तर आविर्भाव पर निर्भर है। जब कोई संस्कृति सुनिर्दिष्ट और ठोस हो जाती है तो वह स्वाभाविक मौत मरती है पर जब उसकी परम्परा विच्छिन्न

हो जाती है तो वह असामयिक मृत्यु की शिकार हो जाती है।

प्रत्येक समाज के इतिहास में एक ऐसा समय आता है जब यदि उस समाज को एक सजीव शक्ति के रूप में अपना अस्तित्व बनाए रखना हो और अपनी प्रगति को जारी रखना हो तो सामाजिक व्यवस्था में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। यदि वह प्रयत्न करने में असमर्थ रहे यदि उसकी शक्ति समाप्त हो चुकी हो और उसका पुरुषार्थ नि शेष हो चुका हो तो वह इतिहास के रगमच से बाहर निकल जाएगा। हमारे सम्मुख सामाजिक परिवर्तन के लिए एक बहुत बड़ा अवसर उपस्थित है। हमें मनुष्य-निर्मित विषमताओं और अन्यायों को हटाकर समाज को दृढ़ करना होगा और सब लोगों को वैयक्तिक कल्याण और विकास के लिए समान अवसर प्रदान करना होगा। यदि आज वे लोग जो हमारी सस्कृति म निष्णात हैं (बहुश्रुता) और इसे बनाए रखने के लिए उत्सुक हैं हमारे सामाजिक सगठन में आमूल परिवर्तन कर दें तो वे हिन्दू परम्परा की भावना के अनुरूप ही कार्य कर रहे होंगे। भारत में हम स्लेट को पोछकर एकदम साफ नहीं कर दे सकते और न बिलकुल अनलिखे कागज पर ही कोई नया सुसमाचार लिख सकते हैं। सच्ची प्रगति वृक्ष की वृद्धि की भाति एक सावयव (सजीव) वस्तु है। हमें निष्प्राण *लकड़ी को काट देना होगा और निस्तेज अतीत को भी परे फेंक देना होगा।* हम अतीत में इतनी अधिक बार बदलते रहे हैं कि केवल परिवर्तन भर से धर्म की आत्मा अव्यवस्थित नहीं हो जाएगी। हमारी कुछ सस्थाए सामाजिक न्याय और धार्मिक कल्याण के मार्ग में दुर्लंघ्य बाधाए बन गई हैं और हमें इन बाधाओं को हटाने के लिए यत्न करना होगा अन्धविश्वास को बनाए रखनेवाली शक्तियों के विरुद्ध युद्ध करना होगा और लोगों के मनों को नया रूप देना होगा। इन दिनों म जबकि जीवन की गति तीव्रतर हो गई है जब ज्ञान बढ़ रहा है और महत्त्वाकाक्षाए विस्तार पा रही हैं, हमें परिवर्तन करने ही होंगे अन्यथा इसका अर्थ यह होगा कि हम एक निष्प्राण अन्त तक आ पहुचे हैं और सृजन की भावना को खो चुके हैं।

मठ अपना हृदय समाप्त कर चुकने के बाद भी जी रहे हैं। अब उन्होंने अध्ययन और अध्यापन प्रेरणा और प्रकाश देना बन्द कर दिया है। पहल करने की शक्ति और सुधार की भावना उनको छोड़ गई प्रतीत होती है। अधिक से अधिक वे यह बहाना कर सकते हैं कि वे प्रशान्तिकर और मनन प्रार्थना के विश्राम-स्थान हैं। यदि उनकी सम्पत्ति का उपयोग आध्यात्मिक और लौकिक शिक्षा के लिए किया जाता तो देश की साधारण बौद्धिक और नैतिक दृढ़ता बढ़ी होती। वे इस बात को नहीं समझते कि परम्परा उन सस्थाओं के बाद भी जीवित रहती है जिनका कि वे मूर्त रूप होती हैं।

हिन्दू धर्म को नवजीवन देनेवाले महापुरुष प्राय अपने समय के सामान्य

जीवन का विकास करते र[illegible] हैं। व [illegible] शास्त्र भी [illegible] करते हैं कि सर्वप्रथम [illegible]। [illegible] शोधन और कार्य करने की पद्धतियों के [illegible] और [illegible] स्वेच्छाचारिता और स्वार्थपरता उत्पन्न हो जाए। शास्त्रों में नीति और आदर्श का आदर [illegible] करते हैं समाज-व्यवस्था में सुधार [illegible] नहीं होती है। जीवन का [illegible] नहीं जाता। [illegible] उनके ऊपर [illegible] निर्माण करते हैं। हिन्दू [illegible] [illegible] करनेवाला और [illegible] शक्ति के [illegible] दिया है [illegible] सम्पूर्ण [illegible] परिवर्तन का [illegible] विकास और [illegible] के [illegible] पर विजय प्राप्त करने के लिए दिया है। पुरानी [illegible] प्रथाओं को [illegible] की उन [illegible] के लिए [illegible] आवश्यकता है [illegible] विचार और [illegible] पुराने (परम्परागत) [illegible] जाते थे।[1] मनुष्य के भीतर और [illegible] किया जा रहा है उसकी मांग है कि समाज व्यवस्था का नव [illegible] जाए।

पर क्योंकि हिन्दू कानून (विधान) गतिरुद्ध हो चुका है इसलिए कोई ऐसा मण्डल नहीं है जो कानून की स्थिति पर पुनर्विचार करे और उसमें परिवर्तन करे। भाष्यकारों द्वारा व्याख्याएं अब की नहीं जा रहीं। न्यायाधीशों द्वारा बनाए गए कानूनों की बस इतनी ही स्पष्ट मर्यादाएं हैं जिनके कारण समाज-व्यवस्था का आमूल पुनर्गठन होने की सम्भावना नहीं है। कांट-छांट करके चलाए गए कानूनों से इस गहरे रोग का काम चलनेवाला नहीं है। धर्म तो एक लचीली वस्तु है जो बढ़ते हुए शरीर के वस्त्र की तरह रहता है। यदि यह बहुत कसा हुआ हो तो यह फट जाएगा और परिणामस्वरूप अराजकता और भ्रान्ति होगा। यदि यह बहुत ढीला हो तो यह उलझाकर गिरा देगा (फिसला देगा) और हमारे चलने-फिरने में रुकावट डालेगा। यह धर्म समझदार लोकमत से न तो बहुत पीछे ही रहना चाहिए और न बहुत आगे ही। हमारे धर्म-विश्वास अपनी शक्ति खो चुके हैं और हमारी संस्थाएं अपनी प्रतिष्ठा, फिर भी भारत के अतीत की आत्मा सजीव है और वह हर आगे आनेवाली पीढ़ी में अपने रहस्य को नये रूप में प्रकट करती है। जो सुझाव मैं यहां दे रहा हूं सम्भव है उनमें से कुछ पुरातन-प्रेमियों (सनातनियों) को अच्छे न लगें, आमूल परिवर्तनवादी शायद सोचें कि मैं अत्यधिक रूढ़िवादी हूं। मैं तो केवल यह बताने लगा हूं जो मुझे हमारे समाज की अविच्छिन्न

---

१ तुलना कीजिए बेकन: "किसी राज्य को समय से आगे ले चलने में उतना ही विक्षोभ होता है जितना कि प्रयोगों से। और जो लोग प्राचीन काल के प्रति अत्यधिक आदर रखते हैं, वे नयों के लिए केवल उपहास के पात्र होते हैं।"

वह वास्तविकता का स्थान अनुचित रूप से ले लेती है तो उसका परिणाम मूर्ति पूजा होता है।

सब मूर्ति रचनाओं में अनिवार्य रूप से त्रुटि रहती ही है।[1] परन्तु त्रुटि की, कम या अधिक, कोटियां हैं। मूर्ति तो सर्वोच्च ईश्वरत्व का प्रतीक-मात्र है जिसका उद्देश्य यह कि वह विस्तृत और परम वास्तविकता की भावना को जाग्रत् करे। यह 'वास्तविक' (सत्) के उस सारभूत सत्य की व्यंजना कर देती है, जो सब रूपों से परे है। चिदम्बरम में नटराज शिव को समर्पित एक मन्दिर के पवित्रतम स्थान (गर्भगृह) में न तो कोई प्रतिमा ही है और न कोई प्रतीक ही। पूजा देवता के किसी सीमित मूर्त रूप को लक्ष्य करके नहीं होती अपितु उस सर्वव्यापी चिदात्मा को लक्ष्य करके होती है जो अरूप होते हुए भी सर्वरूपमय है जो सब ज्योतियों की ज्योति है। एक अंधेरे कमरे की खाली दीवार पर एक माला जो दृश्य और मूर्त है, अदृश्य और अमूर्त के गले में लटका दी जाती है। 'अद्वैत सिद्धि' के लेखक मधुसूदन सरस्वती का कथन है कि "मैं साक्षात् भगवान् कृष्ण से उच्चतर अन्य किसी वास्तविकता (तत्त्व) को नहीं जानता।"[2]

हेराक्लिटस कहता है, "जो व्यक्ति मूर्ति से प्रार्थना करता है वह पत्थर की दीवार से बकझक करता है। हम पत्थर से प्रार्थना नहीं करते अपितु उस पत्थर में जिसकी मूर्ति अंकित है उस व्यक्ति से मनोवैज्ञानिक सान्निध्य (विद्यमानता) से विश्वासपित हो प्रार्थना करते हैं।

अमूर्त पक्ष का ध्यान और मूर्त पक्ष की पूजा करने का उपदेश दिया गया है। मनुष्य परमात्मा के सम्मुख एक पीढ़े एक पंक्ति में गुजरते हैं हरएक का अपना नाम होता है और अपनी एक विशिष्ट अभिव्यक्ति होती है। परमात्मा की मनुष्य के प्रति भाषा 'तू' करके होती है 'तुम' करके नहीं। एकान्त में मनुष्य अपने आत्म के रहस्य को पहचानता है। आत्मा के वरदान किसी दूसरे के हाथों प्राप्त नहीं किए जा सकते। परमात्मा का निवास प्रत्येक मानव-हृदय के अन्तरतम गर्भगृह (मन्दिर-गर्भ) में है। ध्यान अपने अन्दर विद्यमान परमात्मा की पूजा है।

ध्यान की पहली शर्त है पूर्ण ईमानदारी (सरलता)। हमें कम से कम उतना ईमानदार तो होना ही चाहिए, जितना कि अपनी दुर्बलताओं के रहते हम हो सकते हैं।

१ तुलना कीजिए, उन्नीसवीं शताब्दी के सबसे प्रमुख पादरियों में से एक [illegible] ने बहुत समय पहले कहा था [illegible] 'ब्रह्म और तत्वों [illegible] के सिद्धान्त [illegible] है, फिर भी प्रत्येक तत्त्व अपने रूप में सच्चा है। अपने स्थान पर यह वास्तविक सत्य है [illegible] ही किसी अन्य स्थान पर यह केवल आभासमात्र हो क्योंकि यह किसी अन्य [illegible] जाता है। और ठीक इसी प्रकार सच्ची [illegible] है, जैसे यथार्थ सच्चा यथार्थ है।

२ पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।

हमें उन महात्मों के सच्चे स्वरूप को समझना-सीखना चाहिए, जो हम साधारणतया अपने सामने ही प्रस्तुत किया करते हैं। ध्यान द्वारा हम जीवन की तुच्छताओं से ऊपर उठकर शाश्वत के सान्निध्य तक पहुंच जाते हैं। मनुष्य जो कुछ सोचता है वही होता है और हमारी प्रार्थना यह है कि हमारा मन श्रेष्ठ विचारों से भरा रहे।[1] जिन लोगों को अव्यक्त का ध्यान कर पाना कठिन प्रतीत होता हो वे अपने स्वभाव के उपयुक्त रूप चुन सकते हैं। ये रूप काल्पनिक नहीं हैं, अपितु साधकों के कल्याण के लिए धारण किए गए भगवान के ही रूप हैं[2] और ये रूप प्रलय-काल तक बने रहते हैं।[3] यदि ये छायाएं भी हों तो भी ये ज्योतियों की ज्योति से पड़नेवाली छायाएं हैं। धार्मिक प्रतीक सत्य का वह प्रतीक है जिसे श्रद्धालुओं ने अपने मन में स्थान दिया है। यदि यह अवास्तविक होता तो इस रूप में कार्य कर ही नहीं सकता था। यदि हमारी गम्भीरतम आत्मा और धार्मिक कल्पना में समस्वरता (अनुरूपता) नहीं होगी तो धार्मिक कल्पना हमें प्रभावित नहीं कर सकेगी। यह प्रश्न वैज्ञानिक सत्य का नहीं है अपितु इसका वास्ता उस आंतरिक सम्बन्ध से है जो लोकोत्तर वास्तविकता और हमारे महत्तम आत्म के बीच विद्यमान है। इस आत्म को वस्तु या पदार्थ नहीं माना जा सकता। यदि आत्माएं इस सम्बन्ध को हृदयंगम करने के लिए उद्यत हों तो सत्य प्रकट हो जाता है। हिन्दू धर्म प्रत्येक प्रकृति (स्वभाव) को उसकी अपनी दिशा के अनुकूल ही राह दिखाने का यत्न करता है जिससे वह अपने पूर्णतम विकास तक पहुंच सके। मनुष्य के विश्वास में जो कुछ भी ऋजु (ईमानदारी से युक्त) सत्य और प्रेममय है, उसीमें ईश्वर की भावना कार्य कर रही है। ईश्वर सारे विश्व की वास्तविकता है किसी इस या उस सम्प्रदाय का एकाधिकार नहीं। हिन्दू धर्म इस बात को पहचानता है कि मानवीय प्रकृति की वे शक्तियां जो ईश्वर का साक्षात्कार करेंगी अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग कोटि तक विकसित हुई होती हैं इसलिए इस ऊंची चोटी पर चढ़ने के लिए अवश्य ही अनेक मार्ग होंगे भले ही वे ऊपर पहुंचकर एक जगह मिल जाते हों। उपासना का माध्यम मुख्यतया परम्परागत होता है और ऐतिहासिक संसर्गों से भरा होता है। इसे हमें बहुदेववाद के लिए छूट के रूप में देखने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी अनेक सत्ताओं की जो एक-दूसरे से स्वतन्त्र और कभी-कभी एक-दूसरे की विरोधी भी

---

१ तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

२ गुणत्रय कीर्तित

चिन्मयस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य शरीरिणः

साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूप कल्पना।

३ आभूत सम्प्लवं स्थानं अमृतत्वं हि भाष्यते।—विष्णुपुराण

'निरुक्त' में (७-४) यास्क कहता है कि विभिन्न देवता एक ही आत्मा के (एकस्यात्मन) गौण स्वरूप (प्रत्यंगानि) हैं। 'बृहद्देवता' (१-७०-) हमें बताता है कि दैवीय शक्तियों के अलग-अलग नाम उनकी गतिविधि के क्षेत्रों को ध्यान में रखकर (स्थान विभागेन) रखे गए हैं।

मानी जाती है उपासना और ऐसी सत्ताओं की जो एक ही सर्वोच्च आत्मा के विभिन्न पक्ष समझी जाती हैं उपासना में मूलभूत अन्तर है। महान् ईसाई चर्चों की सन्तों की सूचियों (कैलेण्डरों) में अनेक सन्तों और देवदूतों का उल्लेख है फिर भी वे सम्प्रदाय एकेश्वरवादी हैं। पर मूर्ति-पूजा सामान्य लोगों के लिए चाहे कितनी भी आवश्यक क्यों न हो किन्तु हिन्दू धर्म में उसे घटिया ढंग की उपासना ही माना गया है। 'भगवान के साथ तादात्म्य सर्वोच्च है उससे घटकर ध्यान की स्थिति है उससे भी नीचे स्तोत्रों और मन्त्रों का बारम्बार पाठ करने की स्थिति है और सबसे निचली स्थिति बाह्य पूजा की है।'[1] एक अन्य श्लोक में कहा गया है कि "पूजा के असंख्य कृत्य मिलाकर एक स्तोत्र के बराबर होते हैं असंख्य स्तोत्र मिलकर एक मन्त्र पाठ के बराबर होते हैं असंख्य मन्त्रपाठ मिलकर एक ध्यान (समाधि) के बराबर होते हैं और असंख्य ध्यान मिलकर भगवान में मग्न हो जाने के बराबर होते हैं।'[2] हम चाहे किसी भी देवता की उपासना क्यों न करें, वह भगवान का ही अभिन्न रूप होता है। 'और हे गणपति मैं तुझे नमस्कार करता हूँ तू ही सृष्टि का कर्ता है, तू ही धर्ता है और तू ही संहर्ता है तू ही निश्चय से ब्रह्म है।'[3] यह अथर्ववेद का कथन है। विश्व की माता के रूप में भगवान का सर्वोच्च ईश्वरत्व के साथ तादात्म्य स्थापित कर दिया गया है। (दोनों को एक ही मान लिया गया है।) 'पुण्यात्माओं के घर में तुम स्वयं ही समृद्धि हो पापियों के घर में तुम दरिद्रता हो परिष्कृत मनवाले लोगों के हृदय में तुम बुद्धि हो सज्जनों में तुम श्रद्धा हो कुलीनों में तुम लज्जा हो देवी तुम्हें हम प्रणाम करते हैं। तुम इस विश्व की रक्षा करो।'[4] हम अपने चुने हुए आदर्श के रूप में भगवान की उपासना करते हैं। शंकर (आचार्य) महान् अद्वैतवादी था परन्तु वह 'शक्ति' का परम उपासक भी था। अपने 'सूत्र भाष्य' में वह लिखता है 'विधुरों के लिए और अविवाहितों के लिए भी देवताओं की प्रार्थना और प्रसादन (प्रसन्न करना) जैसे विशिष्ट धार्मिक कृत्यों द्वारा ज्ञान प्राप्त कर पाना सम्भव है।'[5] वह कहता है "व्यक्ति को अपने लिए उपासना और ध्यान

---

१ उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यम
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बहि पूजाऽधमाधम ।

२ पूजाकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमो जप
जपकोटिसमं ध्यानं ध्यानकोटिसमो लय ।

३ नमस्ते गणपतये त्वमेव केवलं कर्ताऽसि त्वमेव केवलं धर्ताऽसि
त्वमेव केवलं हर्ताऽसि त्वमेव केवलं खल्विदं ब्रह्मासि ।

४ या श्री स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मी
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धि
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नता स्म परिपालय देवि विश्वम् ।—मार्कण्डेय पुराण

५ ३ ४ ३८

का कोई-सा एक रूप चुन लेना चाहिए और उसपर तब तक दृढ़ रहना चाहिए, जब तक उपासना के विषय के साक्षात्कार द्वारा उपासना का फल प्राप्त न हो जाए।[1] शंकर ने स्वयं अपने लिए 'शक्ति' का रूप चुना था और कुछ बड़े मर्मस्पर्शी स्तोत्र रचे थे। उसने अनेक मठों की स्थापना की, जिनमें से शृंगेरी, द्वारका, जगन्नाथपुरी और हिमालय में ज्योतिर्मठ मुख्य हैं।

हिंदू धर्म का मुख्य उद्देश्य यह है कि मूर्ति-पूजा का धार्मिक भावना के विकास में एक साधन के रूप में, उस भगवान को पहचानने के साधन के रूप में उपयोग किया जाए, जिसके मन्दिर सब जीवों के अन्दर बने हुए हैं। 'भागवत' में भगवान के मुंह से कहलवाया गया है, "मैं सब प्राणियों में उनकी आत्मा के रूप में विद्यमान हूं, परन्तु मेरी विद्यमानता की उपेक्षा करके मर्त्य मनुष्य मूर्ति-पूजा का ढोंग करता है।"[2] जब तक हमें सर्वत्र और कहीं भी भगवान की उपस्थिति अनुभव करने की आध्यात्मिक परिपक्वता प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक हम मूर्ति-पूजा का अवलंबन कर सकते हैं। "अपना कर्तव्य करते हुए मनुष्य को मूर्ति इत्यादि द्वारा मेरी पूजा केवल तब तक ही करनी चाहिए, जब तक वह मुझे अपने हृदय में सब प्राणियों में

---

१ सूत्र भाष्य, १, [illegible] २६। तुलना कीजिए, "परमात्मा सब [illegible] में स्वयं [illegible] ने कहा, "वह सत्ता, जो सब कुछ विद्यमान है, [illegible] है, वह [illegible] से भी अधिक प्राचीन है, काल और [illegible] और अस्तित्व के [illegible] प्रवाह में भी वह विद्यमान है; कोई भी शब्द उसको नाम नहीं दे सकता, कोई भी वाणी उसका उच्चारण नहीं कर सकती; और किसी भी आंख से वह देखा नहीं जा सकता। परन्तु हम उसके तत्त्व को जान पाने में असमर्थ होने के कारण, उसका ज्ञान पाने के लिए [illegible] होकर 'शक्तियों' और नामों और [illegible] की [illegible] और [illegible] की मूर्तियों और मंदिरों, [illegible] और [illegible] की सहायता लेते हैं और अपनी दुर्बलता के कारण, संसार में जो कुछ भी सुन्दर है, उसका नाम उस परमात्मा के स्वभाव के अनुसार रखते जाते हैं, ठीक वैसे [illegible] सांसारिक प्रेमी करते हैं। उनके लिए सबसे सुन्दर दृश्य प्रियतम या प्रियतमा का मुख ही बन जाता है, परन्तु स्मृति के लिए वे एक वीणा को या भाले-से बर्छे को देखकर या उसकी किसी कुर्सी [illegible] को देखकर प्रसन्न होते हैं, जो प्रियतम या प्रियतमा का [illegible] है। [illegible] मूर्तियों के सम्बन्ध में कुछ और विशेष करके निर्णय हुए? मनुष्यों को केवल इतना जानना चाहिए कि दिव्य (ईश्वरीय) क्या है, और शेष [illegible]। यदि किसी यूनानी को फीडियस की कला को देखकर परमात्मा का स्मरण हो आता है, और किसी मिस्रवासी को पशुओं की पूजा करके, किसी [illegible] को [illegible] या अग्नि को, तो इनके इस मतभेद के लिए मुझे क्रोध नहीं है; वरन् इतना चाहिए कि वे जानें, वे प्रेम करें, वे स्मरण करें।" —मैक्सिमस टायरियस, [illegible] ११। अंग्रेज़ी अनुवाद गिल्बर्ट मरे द्वारा, 'फाइव स्टेजेज ऑफ ग्रीक रिलिजन'।

२ भूतान्तर्हृत्स्थम्

३ अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्॥ ३, २९, २१

स्थित नहीं ध्यान देता।"[1] मूर्तियां तो केवल दुर्बल चित्त के लोगों के लिए हैं क्योंकि मनीषी तो भगवान को सभी जगह देखता है।[2] अशिक्षित लोगों का स्वाभाविक रुझान मूर्ति-पूजा की ओर होता है परन्तु मूर्ति-पूजा की गौणता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। एक सुविदित श्लोक मे कहा गया है कि परमात्मा के सान्निध्य का अभ्यास सर्वोत्तम प्रकार का धर्म है परन्तु जो लोग इसमे असमर्थ हों उन्हें चिन्तन और ध्यान का अभ्यास करना चाहिए यदि हम इस स्तर तक भी उठ पाने में असमर्थ हैं तो फिर मूर्ति-पूजा अपनाई जा सकती है और बिलकुल कच्चे तथा प्रारम्भिक लोगों के लिए होम तीर्थयात्रा आदि करना उचित होगा।"[3]

जब हम मूर्ति-पूजा की तह मे विद्यमान सिद्धान्त को जान लेते हैं तब इस बात पर झगड़ा नहीं उठता कि किन मूर्तियों की पूजा की जाए। हिन्दू इस बात को स्वीकार करता है कि जाननेवाले की जैसी रीति होगी उसीके अनुसार ज्ञान होगा उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं जाना जा सकता। 'चाणक्यनीति' मे कहा गया है "देवता न लकड़ी मे है, न पत्थर मे न मिट्टी में। देवता तो रहस्यमय भाव मे है इसलिए यह रहस्यमय भाव ही कारण है।"[3] उपासक की श्रद्धा के अनुसार ही उपासना का फल मिलता है।[4] सच्चे प्रतीक मे अर्थ की एक के ऊपर एक अनेक तह होती हैं और वह विभिन्न स्तरों पर अपने अर्थ को इस प्रकार प्रकट करता है जिससे सबको समझ मे आ सके। ज्यों-ज्यों हमारी श्रद्धा गहरी होती जाती है त्यों-त्यों उस प्रतीक का अर्थ यथेष्ट होता जाता है। हम चाहे किसी भी प्रतीक से प्रारम्भ कर सकते हैं और ज्यों-ज्यों भाव बढ़ता जाएगा त्यों त्यों प्रतीक वास्तविकता (ईश्वर) के निकट पहुंचता जाएगा। हिन्दू लोग इस बात को मानते हैं कि न केवल सब मार्ग उस एक ही भगवान तक पहुंचते हैं अपितु प्रत्येक व्यक्ति को वही मार्ग चुनना चाहिए जो उस बिन्दु से शुरू होता है जहां प्रस्थान के समय वह व्यक्ति खड़ा है।

उपासना की भावना मनुष्यों और सरस्थाओं म साकार होनी ही चाहिए। समाज

पचारतन्वेन्नत्वन् ईश्वर या सवर्मेतत्
बालस्य नेर त्वदृरि सर्वभूत परिस्कन्दम्।

२ अग्निदेवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम्
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र समदर्शिनाम्।

दादू के शब्दों में न मन्दिर में जाने की जरूरत, न मस्जिद में। क्योंकि उसकी मस्जिद और मन्दिर दिल में है, जहां 'मालिक' को सेवा और सलाम दिया जा सकता है।"

३ उत्तमा सहजावस्था द्वितीया ध्यानधारणा
तृतीया प्रतिमा पूजा होमयात्रा चतुर्थिका।
न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम्। —८-११

४ भावानुरूप फलहेतुत्वात्।—भागवत, ८-१७

के धार्मिक जीवन को इन्द्रिय-ग्राह्य और संस्कारात्मक अभिव्यक्ति दी जानी चाहिए। इसके अभाव में उपासना अपने पूर्ण वैभव और शक्ति का विकास शायद ही कभी कर पाती है। यदि हमारी आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षा को सूक्ष्म और अव्यक्त नहीं रहना है तो इसे अपनी विशुद्धता को गवाने का जोखिम उठाकर भी उन रूपों में साकार होना चाहिए, जिनके द्वारा मनुष्य की विविध शक्तियां और क्षमताओं का उपयोग किया जा सके। इसमें यह खतरा अवश्य है कि बाह्य रूप भावना का गला घोट दें अनुष्ठान-कृत्य स्वाभाविक प्रार्थना का स्थान ले लें बाह्य और दृश्य चिह्न आन्तरिक भावना को धूमिल कर दें। फिर भी पवित्र वस्तुओं और आनुष्ठानिक कृत्यों द्वारा ही मनुष्य की उपासना जीवन के सुनिर्दिष्ट तथ्यों म बद्धमूल होती है और उसम स्वयं जीवन को भी बदल डालने की शक्ति आती है। अनुष्ठान मन्दिर पूजा की विभिन्न सामग्रियां तीर्थयात्राएं अमूर्त विचारों के वाहन हैं।

वैदिक आर्यों के पास कोई मन्दिर नहीं थे और न वे प्रतिमाओं का उपयोग करते थे। द्रविड़ सभ्यता ने मूर्ति-पूजा को प्रोत्साहन दिया और यज्ञ के स्थान पर पूजा पर जोर दिया। मन्दिरों और मूर्ति-पूजा पर विभिन्न ग्रन्थ हिन्दू धर्म के वैदिक काल से आगे बढ़ जाने के बाद ही रचे गए। परन्तु फिर भी वैदिक मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था और ऋषियों की प्रेरणामयी प्रतिभा ने वैदिक और वैदिक-भिन्न तत्त्वों को मिलाकर एक कर दिया और आगमों को भी वेदों के समान ही प्रामाणिक माना जाने लगा। मन्दिर हिन्दू धर्म के दृश्य प्रतीक हैं। वे स्वर्ग के प्रति पृथ्वी की प्रार्थनाएं हैं। वे एकान्त और प्रभावोत्पादक स्थानों पर बने हुए हैं। हिमालय के महिमामय और पावन तुंग शिखर महान मन्दिरों के लिए स्वाभाविक पृष्ठभूमि हैं। ब्राह्म मुहूर्त में उपासना के लिए नदी-तीर पर जाने की प्रथा का पालन सदा किया से होता चला आ रहा है। विश्राम और रहस्य से युक्त मन्दिरों के भवनों का सौन्दर्य प्रसन्नता तथा विस्मय का भाव जगानेवाली धुंधली ज्योतियां गान और संगीत मूर्ति और पूजा इन सबमें व्यंजना की (संकेत करने की) शक्ति है। सब कलाओं वास्तु-कौशल संगीत नृत्य कविता चित्रकला और मूर्ति शिल्प का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि हम धर्म की उस शक्ति को अनुभव कर लें जिसकी परिभाषा ही नहीं की जा सकती और जिसके लिए कोई भी कला यथेष्ट वाहन नहीं है। जो लोग पूजा में भाग लेते हैं वे उस ऐतिहासिक हिन्दू अनुभव और उन प्रयास आध्यात्मिक शक्तियों से मिलकर एक हो जाते हैं जिन्होंने हमारे आनुवंशिक उत्तराधिकार के सर्वोत्तम अंश को गढ़ा है।

परन्तु इस समय मन्दिरों म एक निष्प्रभ-सी मौन सहमति और ऊबानेवाली दिनचर्या का वातावरण रहता है। उन मन्दिरों का उन्मूलन करने का प्रयत्न जिनसे लोगों को इतना तीव्र प्रेम और जिनके प्रति इतना अनुरागपूर्ण आदर है व्यर्थ है। परन्तु हमें उनकी इस विद्यमान भावना और वातावरण को सुधारना चाहिए।

बढ़ाने के लिए है। मन्दिरों में कन्याओं को समर्पित करने की प्रथा से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह मन को उचित दिशा में ले जाने में सहायक होगी।

घर में, जहां कि स्त्रियां प्रमुख भाग लेती हैं, धर्म की भावना पारिवारिक पूजा द्वारा ठीक बनी रहती है। मन्दिरों तथा सामयिक उत्सवों में होनेवाली पूजा में लोगों की विशाल भीड़ एकत्रित होती है। भागवतधर लोग जो प्रशिक्षित कथावाचक और गायक होते हैं, पुराण ग्रन्थों की व्याख्या करते हुए गांव-गांव घूमते हैं। आचार्य लोग जो तपस्वी-संघों के अध्यक्ष होते हैं, परम्परा को बनाए रखते हैं और नवयुवकों को प्रशिक्षण देते हैं। हिन्दू धर्म का मुख्य सहारा भाग्यवर्ती (पैगम्बर) लोग रहे हैं। वे न जाने कहां से आ पहुंचे हैं और उनके पीछे किसी प्राधिकार (अथॉरिटी) का समर्थन भी नहीं होता। भारत में देश के प्रत्येक भाग में और उसके जीवन के प्रत्येक काल में उपनिषदों के ऋषियों और बुद्ध से लेकर रामकृष्ण परमहंस और गांधी तक इन भाग्यवर्तियों की एक अटूट शृंखला (परम्परा) बनी रही है।

अनेक उपवासों और रात्रि-जागरणों, खान-पान के सम्बन्ध में विस्तृत विनियमों का प्रयोजन आत्म-संयम में सहायता देना है। मनु कहता है, "मांस खाने, मदिरा पीने और मैथुन करने में कोई अस्वाभाविक बात नहीं है, क्योंकि सभी प्राणियों की प्रवृत्ति इन चीज़ों की ओर होती है, परन्तु इनसे बचे रहने का फल बहुत अच्छा होता है।"[1] महाभारत का कथन है कि "इच्छाएं उपभोग से शान्त नहीं होतीं, अपितु जैसे घी डालने से आग भड़क उठती है, वैसे ही वे भी और उद्दीप्त हो उठती हैं।"[2] हिन्दू मनीषी धर्म-विधियों (कर्मकाण्डों) का उपयोग केवल आन्तरिक शुद्धि के साधन के रूप में ही करते थे। गौतम ने अपने धर्म-सूत्र में चालीस पवित्र धार्मिक विधियों के अनुष्ठानों का उल्लेख किया है, जिन्हें किसी भी अच्छे मनुष्य को करना चाहिए, और कहा है, "ये हैं चालीस पवित्र अनुष्ठान। और अब आते हैं आत्मा के आठ सद्गुण। ये हैं सब जीवों के प्रति दया, धैर्य, सन्तोष, शुचिता, सदुद्यम, शुभ विचार, निर्लोभता और ईर्ष्याशून्यता (निस्पृहता)। जिस व्यक्ति ने इन सब पवित्र अनुष्ठानों को तो किया है, किन्तु जिसमें ये सद्गुण नहीं हैं, वह ब्रह्म के साथ एकाकार नहीं हो सकता, वह ब्रह्म के लोक में नहीं पहुंचता। परन्तु जिसने इन पवित्र अनुष्ठानों में से केवल एक को किया है और जिसमें ये सद्गुण हैं, वह ब्रह्म में मिलकर एकाकार हो जाता है और उसके साथ

---

1. न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
   प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥
2. न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति ।
   हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ आदिपर्व १—१-७५ ४६

वेदों की पैतृक बलि श्राद्ध से भिन्न है यद्यपि पितृयज्ञ का मूल वही है। गौतम[1] और 'आपस्तम्ब'[2] में श्राद्ध-विधि का विस्तृत विवरण दिया गया है। सीधी-सादी पितृ-पूजा का स्थान श्राद्ध को दिया गया। कौन-कौन लोग श्राद्ध करने के अधिकारी हैं वे निश्चित कर दिए गए हैं। पहले-पहल पूर्वजों की तीन पीढ़ियों तक का श्राद्ध किया जाता था परन्तु मनु के समय से इस सूची में तीन पीढ़ियां और जोड़ दी गईं। निकट के तीन पूर्वजों और उनसे पहले के तीन पूर्वजों में अन्तर रखा गया है। निकट के पूर्वजों को पिण्ड अर्थात् खाद्य के कौर पाने का अधिकार है और उनसे पहले के तीन को पिण्ड का कुछ अंश पाने का ही हक है। मनु ने तो केवल पितृपक्ष के पूर्वजों के लिए श्राद्ध का विधान किया था किंतु याज्ञवल्क्य और उसके अनुयायियों ने यह नियम बनाया था कि मातृपक्ष के भी तीन निकटस्थ पूर्वजों को अपनी पुत्रियों के पुत्रों (दौहित्रों) से पिण्ड पाने का अधिकार है।[3] श्राद्ध पूर्वजों के प्रति श्रद्धा या सम्मान का कृत्य है। हम यह प्रदर्शित करते हैं, कि हम उन्हें याद रखे हुए हैं उनका आदर करते हैं और उनकी भूख-प्यास मिटाने के लिए उन्हें प्रतीक के रूप में भोजन और जल प्रस्तुत करते हैं। यह विनम्रता के साथ कल्पना-प्रवण सम्मिलन का कृत्य है।

यदि गोरक्षा का धार्मिक कर्तव्य के रूप में विधान किया गया है तो इससे केवल यही प्रकट होता है कि शताब्दियों से चली आ रही परम्परा टूटी नहीं है। जब शिकारी के भ्रमणशील जीवन का स्थान कृषक जीवन ने लिया जब पशु चराने वाले का स्थान अन्न उगानेवाले ने लिया तब गाय जो दैनिक भोजन के लिए दूध देती थी और खेती की विविध प्रक्रियाओं में सहायता देती थी कुटुम्ब के लिए बहुत बड़ी सहायक बन गई। आज भी उन हिन्दुओं में जो निरामिष भोजी हैं दूध और उससे बने पदार्थों का मूल्य बहुत आंका जाता है। गाय को मानव-जाति की धाय माना जाने लगा। बहुत प्रारम्भिक काल से ही गोरक्षा का धार्मिक अनुमोदन प्रदान किया गया। जब तक भारत की बहुसंख्या कृषि पर निर्भर बनी रहती है और खेती मशीनों से नहीं होने लगती तब तक गो रक्षा उपयोगी है। परन्तु इसमें धार्मिकता की कोई बात नहीं है। गाय पशु-जगत् की प्रतीक है और उसके प्रति आदर का अर्थ पशु-जगत् के प्रति आदर है। और फिर भी आज भारत में

---

१ १.५

२ १

३ [illegible]

४ [illegible]

[illegible]

[illegible]

पशुओं के कष्टों प्रति के पापापशुन्यता और शिकार या बलि के लिए पशुओं की हत्या अनियन्त्रित रूप में विद्यमान है चाहे वह हिन्दू धर्म की भावना के कितनी ही प्रतिकूल क्यों न हो। बहुत-से हिन्दू राजा और हिन्दू जनता इस सम्बन्ध में जरा भी चिन्तित प्रतीत नहीं होती।

जाति (वर्ण) और अस्पृश्यता

जातियों या वर्णों का विभाजन व्यक्तिगत स्वभाव पर आधारित है[1] जो अपरिवर्तनीय नहीं है। प्रारम्भ में केवल एक ही वर्ण था। हम सबके सब ब्राह्मण थे या सबके सब शूद्र थे। एक स्मृति के मूल पाठ में कहा गया है कि जब व्यक्ति जन्म लेता है तब वह शूद्र होता है और फिर शुद्ध होकर वह ब्राह्मण बनता है।[2] सामाजिक आवश्यकताओं और वैयक्तिक कर्मों के अनुसार लोगों को विभिन्न वर्णों में बांट दिया गया है। ब्राह्मण लोग पुरोहित हैं। उनके पास न सम्पत्ति (जायदाद) होनी चाहिए और न कार्यकारी (शासन की) शक्ति। वे लोग द्रष्टा (ऋषि) हैं जो समाज के अन्तःकरणस्वरूप हैं। क्षत्रिय लोग प्रशासक हैं, जिनका सिद्धान्त है जीवन के प्रति सम्मान और श्रद्धा। वैश्य लोग व्यापारी और कारीगर हैं शिल्प-कौशलवाले लोग जिनका उद्देश्य है कार्यपटुता। अकुशल कामगर, श्रमिक वर्ग शूद्र हैं। उनकी अपने कार्य में कार्य के लिए कोई विशेष रुचि नहीं होती केवल अनुदेशों का पालन करते जाते हैं और कुल कार्य में उनका भाग (देन) केवल श्रममात्र ही होता है। वे निर्दोष मनोवेगों का जीवन बिताते हैं और परम्परागत रीतियों को अपनाते हैं। उनका सारा आनन्द विवाह और पितृत्व की पारिवारिक तथा अन्य सामाजिक सम्बन्धों की जिम्मेदारियों को पूरा करने में ही होता है। वर्णों के आधार पर बने हुए समूह (जातियां) समाज के सांस्कृतिक राजनीतिक आर्थिक और औद्योगिक अनुभागों का कार्यभार सम्भालने वाली व्यावसायिक श्रेणियां अधिक हैं। हिन्दू धर्म ने आर्यों को द्रविड़ों को और पूर्व की ओर गंगा की घाटी में या मटकी मंगोल जातियों को और हिमालय-पार से आक्रमण करनेवाले पार्थियन सीथियन और हूण लोगों को अपने बाड़े में खींच लिया। इससे अपने बाड़े में अनेक प्रकार के विविध लोगों को लिया और धर्म-परिवर्तन करके हिन्दू बननेवाले लोगों को यह छूट दी कि वे नये धर्म में रहते हुए भी

१ सत्त्वाधिको ब्राह्मण स्यात् क्षत्रियस्तु रजोधिक।
तमोधिको भवेत् वैश्य गुणसाम्यात्तु शूद्रता।

२ शुक्रनीतिसार ... १- ३८ ४। मनु, १ ३१ महाभारत से भी तुलना कीजिए
१२ १

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्।

३ जन्मना जायते शूद्र संस्काराद्द्विज उच्यते।

अपने पुराने धर्मों की विधियों और परम्पराओं को बनाए रखें, यद्यपि उनके रूपों में सदा कुछ न कुछ परिवर्तन किया गया। 'महाभारत' में इन्द्र सम्राट् मान्धाता से कहता है कि वह यवनों जैसी सब विदेशी जातियों को आर्यों के प्रभाव में लाए।[1] हिन्दू धर्म में उसके विकास के सभी स्तरों पर जातिभेदों की आश्चर्यजनक विविधता रही है। 'ऋग्वेद' के काल में विभाजन आर्यों और दासों के रूप में था, और स्वयं आर्यों में कोई पक्के विभाग नहीं थे। 'ब्राह्मण ग्रन्थों' के काल में चारों वर्ण जन्म पर आधारित अनन्य (सुकठोर) समूहों में विभक्त हो चुके थे। ज्यों-ज्यों कला-कौशलों की संख्या और जटिलता बढ़ी, त्यों-त्यों धन्धों (पेशों) के आधार पर जातियों का विकास हुआ। स्मृतियों ने अगणित जातियों का कारण अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों द्वारा चारों वर्णों के परस्पर मिश्रण को बताया है। जब वैदिक आर्यों ने देखा कि उनके यहाँ अनेक जातियों और रंगों के अनेक कबीलों और योग्यताओं वाली जनसंख्या विद्यमान है, ये कबीले और श्रेणियाँ विभिन्न देवताओं और भूत प्रेतों की पूजा करती हैं, अपनी असंबद्ध प्रथाओं और रहन-सहन की आदतों पर चलती हैं और अपने कबीलों की आकांक्षाओं से भरी हुई हैं, तो उन्होंने चौहरे वर्गीकरण को अपनाकर उन सबको एक ही समष्टि में ठीक क्रम से बिठा देने का प्रयत्न किया। ये चार वर्ण मूल जातीय भेदों का अतिक्रमण कर जाते हैं (उनसे ऊपर हैं)। यह ऐसा वर्गीकरण है, जो सामाजिक तथ्यों और मनोविज्ञान पर आधारित है। हिन्दू धर्म की एक सारभूत विशेषता है—मनुष्य में आत्मा को स्वीकार करना, और इस दृष्टि से सब मनुष्य समान हैं। वर्ण या जातिकार्य की असम्बद्धता है और जीवन का लक्ष्य निष्काम सेवा द्वारा जाति-वैशिष्ट्य से ऊपर उठ जाना है। वर्ण-व्यवस्था सम्पूर्ण मानव-जाति पर लागू करने के लिए है। 'महाभारत' में कहा गया है कि यवन (यूनानी), किरात, दरद, चीनी, शक (सीथियन), पह्लव (पार्थियन), शबर (द्रविड़ पूर्व जातियाँ) तथा अन्य कई अहिन्दू लोग इन्हीं चार वर्णों में से किसी न किसी में आते हैं।[2] ये विदेशी जन-जातियाँ (कबीले) हिन्दू समाज में घुल-मिल गईं। वह समन्वय जिसके द्वारा विदेशियों को हिन्दू धर्म में दीक्षित कर लिया जाता है, बहुत प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। जब तक विदेशी लोग समाज की साधारण परम्पराओं और छोटे कानूनों का पालन करते थे, तब तक उन्हें हिन्दू ही समझा जाता था। बड़े-बड़े साम्राज्य-निर्माता नन्द, मौर्य और गुप्त पौराणिक दृष्टिकोण के अनुसार निम्न वर्णों में उत्पन्न हुए थे। गुप्त सम्राटों ने लिच्छवियों में विवाह किए, जो कि म्लेच्छ समझे जाते थे। बाद में कुछ हिन्दुओं ने यूरोपियन और अमरीकनों से भी विवाह किए हैं। यद्यपि प्रबल जातिभेद अब भी प्रचलित है, परन्तु अन्तर्जातीय विवाह असन्तोषजनक नहीं रहे।

१ शान्तिपर्व ६५
२ शान्तिपर्व, ६५। और भी देखिए, मनु, १०-४३-४४

यदि सामाजिक दबाए अनुकूल हो तो वे और भी अधिक सफल होंगे।[1] इस प्रणाली को इस उद्देश्य से रचा गया था कि इसके द्वारा पहले भारत की विभिन्न *जातीय जनता और उसके बाद समस्त संसार की जनता एक ही सामी धार्मिक* सामाजिक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक शृंखला में बंध सके। प्रत्येक वर्ग के लिए सुनिश्चित कृत्य और कर्तव्य नियत करने और तरह अधिकार और विशेषाधिकार देने से यह आशा की जाती थी कि विभिन्न वर्ग सहयोगपूर्वक काम करेंगे और उनमें जातीय समन्वय हो सकेगा। यह एक ऐसा ढांचा है, जिसमें सब मनुष्यों को उनकी व्यावसायिक योग्यता और स्वभाव के अनुसार, डाला जा सकता है। वर्ण धर्म का आधार यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास के विधान को पूर्ण करने का यत्न करना चाहिए। हमें अपने अस्तित्व के नमूने के अनुकूल ही अपने जीवन को अनुशासित करना चाहिए जिस नमूने के हम नहीं हैं उसके पीछे दौड़कर अपनी ऊर्जाओं का अपव्यय करने से कोई लाभ नहीं है।

इस योजना का यह ध्येय अवश्य था कि आनुवंशिकता और शिक्षा की शक्तियों का प्रयोग करके विभिन्न वर्गों के सदस्यों में यथायोग्य भावना और परम्परा का विकास किया जाए परन्तु इस विभाजन को सुकठोर (अलंघ्य) नहीं समझा जाता था। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिनमें व्यक्तियों और समूहों ने अपना सामाजिक वर्ग (वर्ण) बदल लिया था। विश्वामित्र अजमीढ और पुरुमीढ को ब्राह्मणवर्ग में स्थान दिया गया था और यहां तक कि उन्होंने वैदिक ऋचाओं की रचना भी की थी। यास्क ने अपने 'निरुक्त' में बताया है कि ऋष्टिषेण और देवापि दो भाई थे उनमें एक क्षत्रिय राजा बना और दूसरा ब्राह्मण पुरोहित। दास-कन्या इलूषा के पुत्र कवष ने एक यज्ञ में ब्राह्मण पुरोहित का कार्य किया

१ एक अनुभवी ब्रिटिश लार्ड ब्राइस ने ब्राजील के विषय में कहा है, 'पूर्व तथा अफ्रीका के पश्चिमी तट पर स्थित पुर्तगाली उपनिवेशों के अतिरिक्त ब्राजील ही एक ऐसा देश है जहां यूरोपियन अफ्रीकन जातियों का सम्मिश्रण कानून या प्रथा की किसी भी रोक-टोक के बिना हो रहा है। जातीय समानता और जातीय एकता के सिद्धान्त यहां पूरी तरह अपना काम कर रहे हैं। यह सब इतना अधिक सन्तोषजनक है कि यहां वर्ण-संघर्ष बहुत कम या बिल्कुल नहीं है। *गोरे लोग नीग्रो लोगों को बिना कानून के दंड नहीं देते या उनके* साथ दुर्व्यवहार नहीं करते यद्यपि मैंने अमरीका-जैसे राजनीतिक रूप आन्दोलन के बाद के रूप में हुए अत्याचारों को छोड़कर दक्षिण अमेरिका में कहीं भी नीग्रो लोगों को बिना कानून के दंड देने की बात नहीं सुनी। *नीग्रो लोगों पर घृणा का दोषारोपण नहीं किया जाता और न उनसे* सम्पर्क करने की प्रवृत्ति ही उसकी अपेक्षा अधिक प्रतीत होती है जितनी कि वैयक्तिक और सम्पत्ति के सम्बन्ध में शिष्टाचारपूर्ण किन्हीं भी सब लोगों में पाई जाती है। रक्त के इस परस्पर सम्मिश्रण का जातीय के यूरोपियन तत्व पर अन्त में जाकर क्या प्रभाव पड़ेगा यह भविष्यवाणी करने का दुस्साहस मैं नहीं कर रहा। यदि कुछ थोड़े-से उल्लेखनीय उदाहरणों के आधार पर कुछ निर्णय किया जा सके तो इतना कहा जा सकता है कि इससे बौद्धिक प्रभाव (स्तर) गिरे ही यह आवश्यक नहीं है। — साउथ अमेरिका ऑब्ज़र्वेशन्स ऐंड इम्प्रैशन्स पृ० ४८०, ४८

था।[1] जनक ने जो जन्म से क्षत्रिय था अपनी परिपक्व बुद्धि और सन्तजनोचित चरित्र के कारण ब्राह्मण-पद प्राप्त कर लिया था।[2] भागवत में बताया गया है कि धार्ष्ट नामक क्षत्रिय जाति उन्नत होकर ब्राह्मण बन गई थी। जात्युत्कर्ष के लिए व्यवस्था रखी गई है। भले ही आप शूद्र हों पर यदि आप अच्छे काम करते हैं तो आप ब्राह्मण बन जाते हैं।[3] हम ब्राह्मण जन्म के कारण संस्कारों के कारण अध्ययन या कुटुम्ब के कारण नहीं होते अपितु अपने आचरण के कारण होते हैं। भले ही हमने शूद्र के घर में जन्म क्यों न लिया हो अच्छे आचरण द्वारा हम उच्चतम स्थिति (पद) तक पहुंच सकते हैं।

मानव-प्राणी सदा बनता रहता है। उसका सार गति में है बंधे हुए उद्देश्यों में नहीं। पहले स्वस्थ सामाजिक गतिशीलता थी और बहुत समय तक वर्ण आनुवंशिक सुनिश्चित जातियां नहीं बने। परन्तु जन्म के आधार पर विभाजन बहुत प्राचीन काल में ही काम नहीं करता रहा। मैगस्थनीज हमें वर्ण-व्यवस्था से भिन्न विभाजन के विषय में बताता है। उसने राजनीतिज्ञों और सरकारी कर्मचारियों को सबसे ऊंचा स्थान दिया है और शिकारियों तथा जंगली लोगों को छठे विभाग में रखा है। पतञ्जलि ने ब्राह्मण राजाओं और मनु ने शूद्र शासकों का उल्लेख किया है। सिकन्दर के समय ब्राह्मण सैनिक होते थे सैनिक भाग भी होते हैं। वर्ण-व्यवस्था का मूल्य चाहे जो कुछ रहा हो परन्तु हुआ यह कि लोगों में एक मिथ्या अभिमान की भावना आ गई और उसके फलस्वरूप निचले वर्णों का तिरस्कार होने लगा। 'रामायण' में राम शम्बूक को तप करने के कारण मार डालता है।[6] शूद्रों के सम्बन्ध में मनु की दुर्भाग्यपूर्ण उक्तियां सम्भवत उसके बौद्धधर्म विरोधी रुख से प्रेरित थीं जो बौद्धधर्म शूद्रों को अध्ययन और संन्यास का उच्चतम धार्मिक जीवन बिताने का अधिकार देता था। मनु की दृष्टि में ये वे

१ ऐतरेय ब्राह्मण २ १९
  भागवत नवमस्कन्ध २१-२१
३ कर्मभिस्तु कर्मभिर्देवि शुभैराचरितैस्तथा
  शूद्रो ब्राह्मणतां याति वैश्यः क्षत्रियतां व्रजेत् ।
४ न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च संततिः
  कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम् ।
  और साथ ही
  सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन च विधीयते
  वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति ।
५ शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः
  वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन् क्षत्रियत्वं तथैव च
  आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते ।—महाभारत ।
६ कालिदास ने अपने 'रघुवंश' (१५ ४२ ५७) में और भवभूति ने अपने 'उत्तररामचरित' में इसे वर्णित किया है।

शूद्र थे जो द्विजों (ब्राह्मणों या उच्च वर्णों) को भी ज्ञान दिया करते थे।[1] मनु ने धर्मशास्त्रों के अध्ययन का अधिकार केवल ब्राह्मणों तक सीमित रखा है परन्तु शंकराचार्य का मत है कि उन्हें सब वर्णों के लोग पढ़ सकते हैं। जब वर्ण व्यवस्था की मूल योजना में अत्यधिक रूढ़िवाद (नियम-निष्ठा) आ गया तब उसके विरोध में बौद्ध और जैन मतों के अनुयायियों ने प्रतिवाद की आवाज उठाई और उन्होंने मैत्री या मानवीय भ्रातृभाव के आदर्श पर जोर दिया। विशेष रूप से वे लोग इन नये मतों में दीक्षित हो गए, जिन्हें अपनी शक्तियों को उच्चतम सीमा तक विकसित करने का अवसर प्राप्त नहीं था। हिन्दू आचार्यों ने जाति के आधार पर भेदभाव की निन्दा की। वज्रसूचीकोपनिषद् का मत है कि ऐसे बहुत-से लोग ब्राह्मण मुनियों के पद तक पहुंच गए थे जो अ-ब्राह्मणियों की सन्तान थे। परन्तु शीघ्र ही जाति के सम्बन्ध में कट्टरता और पक्षपात प्रबल हो उठे और उनसे कष्ट पाकर बहुत-से लोग मुसलमान बन गए। हिन्दू समाज में जीवन और प्रकाश के बुझते हुए अंगारों को फिर प्रदीप्त करने के लिए रामानन्द कबीर, नानक दादू और नामदेव जैसे मानवीय भ्रातृभाव के प्रचारक उठ खड़े हुए। पश्चिमी सभ्यता के उदारता बढ़ानेवाले प्रभाव के परिणामस्वरूप जात पात की प्रथाएं धीरे-धीरे सुधर रही हैं और वैवाहिक प्रतिबन्ध ढीले पड़ रहे हैं। राममोहनराय दयानन्द सरस्वती और गांधी ने अन्य अनेक लोगों के साथ इस नीरव क्रान्ति में योग दिया। प्राचीन शास्त्रों की भावना से उन्हें बहुत समर्थन मिला। विप्र को विप्र इसलिए कहा जाता है कि वह वेदपाठ करता है और ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानी होने के कारण ब्राह्मण कहलाता है। महाभारत[5] के एक प्रसिद्ध श्लोक में कहा गया है कि हम सब ब्राह्मण ही उत्पन्न होते हैं और बाद में अपने आचरण और धन्धों (पेशों) के कारण अलग-अलग वर्णों में पहुंच जाते हैं। पहले

---

१ रायारन विमसितिव ।

२ आत्मन्तरेषु अनेकगाविसम्भवात् सर्वतो महत् सन्ति आत्म
वैवर्णेऽन्यमा वरिष्ठ ज्येष्ठ अपरस्य अन्तराय इति श्रुत्वात् ।

३ हिन्दू महासभा दल ने प्रस्ताव पास किया 'क्योंकि आनुवंशिक जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था मानवमात्र सत्यों और नैतिक सिद्धान्तों के स्पष्ट रूप से प्रतिकूल है, क्योंकि वह हिन्दू धर्म की मूल भावना का ठोस प्रतिवाद (विरोध) है, क्योंकि वह मानवीय सम्बन्धों के बिलकुल प्रारम्भिक अधिकारों का अपहरण करती है, इसलिए यह अखिल भारतीय हिन्दू महासभा इस प्रथा के प्रति अपना विरोध प्रकट करती है और हिन्दू समाज से अनुरोध करती है कि वह शीघ्र से शीघ्र इसे समाप्त कर दे।

४ वेदपाठेन विप्रेषु ब्रह्मज्ञानात् ब्राह्मणः ।
इस लोकप्रिय श्लोक से तुलना कीजिए

५ मन्वादिभिः सुनारे कुमारे मकरत्वाके
कुले न च विनामूले ब्राह्मणिरिमत्वना ।

सारा संसार एक ही वर्ण था और बाद में चार वर्ण लोगों के अपने-अपने आचरण के कारण स्थापित हुए ।[1] आदिम जातियों का हिन्दूकरण उन्नततर आदर्शों के प्रति स्वाभाविक आकर्षण धीरे-धीरे बिना किसी दबाव के होता रहा है। इसे और भी शीघ्र तथा सफल बनाने के लिए सवर्ण हिन्दुओं को अपनी पृथकता और अभिमान को त्याग देना चाहिए। वर्णभेद ने हिन्दुओं में एक जातीयता का विकास नहीं होने दिया। एक सीमा तक भवयवात्मक समष्टि (सम्पूर्णता) और साझे उत्तरदायित्व की भावना का विकास करने के लिए हमें जात-पात की भावना को समाप्त करना होगा। हम अनगिनत जातियों और उपजातियों से भी पिण्ड छुड़ाना होगा जिनके साथ एकान्तिकता ईर्ष्या क्षोभ और भय की भावना जुड़ी है।

शारीरिक शुद्धि (शौच) आन्तरिक शुद्धि का ही साधन है। स्वच्छता दिव्यता के लिए प्राथमिक सहायता है। स्वच्छता के सम्बन्ध में हमारे विचार कुछ और अधिक वैज्ञानिक होने चाहिए। पुराने समय में ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य एक-दूसरे के हाथ का पकाया हुआ अन्न खा सकते थे। मनु का कथन है कि द्विज को शूद्र के हाथ का पका भोजन नहीं करना चाहिए।[2] परन्तु जो दास दास है या परिवार का मित्र है या खेती के लाभ में साझीदार ने पकाया हो वह खाया जा सकता है।[3] हमारे इस समय में इस प्रकार के भेदभाव असमर्थनीय हैं और चिढ़ानेवाले हैं और ये स्वच्छन्द सामाजिक गति में रुकावट डालते हैं। प्राचीन काल में मांस ब्राह्मण लोग भी खाते थे। प्राचीन वैदिक धर्म में पाँच प्रकार के पशुओं की बलि दी जाती थी बकरी भेड़ गाय या साँड और घोड़े की। बौद्ध, जैन और वैष्णव मतों के प्रभाव के कारण यह प्रथा बुरी समझी जाने लगी। मनु और याज्ञवल्क्य ने मांसभक्षण पर इतने अधिक प्रतिबन्ध लगा दिए हैं कि वे मांसाहार को निरुत्साहित करते हैं। भारत के कुछ भागों (बंगाल और कश्मीर) में आजकल भी ब्राह्मण मांस खाते हैं जबकि कुछ अन्य भागों में (गुजरात में) निचले वर्गों के लोग भी मांस से परहेज करते हैं। हमारी धारणाएँ स्वच्छता के सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए, निषेधों पर नहीं। स्पर्श से अपवित्र हो जाने की धारणा त्याग दी जानी चाहिए। अस्पृश्यता कई कारणों से उत्पन्न होती है जाति के नियमों का उल्लंघन करने से कुछ विशेष पेशों को करने से कुछ अनार्य धर्मों को स्वीकार कर लेने से। अस्पृश्यता का पाप जघन्यकारी है। और इस कुसंस्कार को दूर किया

---

१ एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर
कर्मक्रियाविशेषेण चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ।—महाभारत
२ ४-२११ । गौतम १७-
३ ४ २५३ । आपस्तम्ब १ १ ११ १४
४ १ १७-१ १७

संस्कार

संस्कारों में प्रमुख ये हैं (१) जातकर्म या जन्म (२) उपनयन या आत्मिक जीवन में दीक्षा (३) विवाह (४) अंत्येष्टि या मृतक की अंतिम क्रिया। अन्य संस्कार जैसे नामकरण—बच्चे का नाम रखना अन्नप्राशन—बच्चे को पहली बार पका हुआ भोजन खिलाना विद्यारम्भ—बच्चे की शिक्षा का आरम्भ लोकप्रिय ढंग के संस्कार हैं जिनसे बच्चे के प्रति प्रेम और वात्सल्य प्रकट होता है। उपनयन को छोड़कर बाकी सब संस्कार भले ही अलग अलग रूपों में सभी हिन्दुओं द्वारा किए जाते हैं। उपनयन आध्यात्मिक पुनर्जन्म है। पहले जन्म में निर्भर वियोग और आवश्यकता के सामने झुकना होता है। यह दूसरा जन्म सम्मिलन और स्वाधीनता में होता है। पहले जन्म में अस्तित्व का विद्युतगमा बाहरी रूप ही होता है दूसरे जन्म का अर्थ है कि जीवन को गहरे आंतरिक स्तर पर जीना है। उपनयन संस्कार का मूल भारत-ईरानी है। इसका सार पवित्र गायत्री मंत्र सिखाने में है। यह एक प्रार्थना है जो सवितृ (सूर्य)[1] से की गई है जो सृष्टि का मूल उद्गम और प्रेरक माना जाता है। सारा सत्य प्रतीकात्मक है। सूर्य जो प्रकाश और जीवन का प्रत्यक्ष स्रोत है दिव्यता (ईश्वरत्व) की प्रकृति (स्वभाव) को अन्य किसी भी कल्पनात्मक संकेत की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह व्यक्त करता है। दिव्य शक्ति का यह सबसे प्रमुख दृश्य आविर्भाव (प्रकटन) है। मंत्र का अर्थ है "हम दैवीय प्रकाश की देदीप्यमान महिमा का ध्यान करते हैं वह हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे।"[2] उपनिषदों के काल में उपनयन एक सीधा-सादा अनुष्ठान था। शिष्य समिधाएं हाथ में लेकर गुरु के पास जाता था और छात्रत्व (ब्रह्मचर्य) के आश्रम में प्रविष्ट होने की इच्छा प्रकट करता था। मृगचर्म धारण करना उपवास करना तथा अन्य अनुष्ठान उस काल से अब तक चले आ रहे हैं जबकि वैदिक आर्य वनों में रहा करते थे। जब सत्यकाम जाबाल गौतम हरिद्रुमत के पास जाकर सब बात बता देता है, तो गौतम कहता है समिधाएं ले आओ वत्स मैं तुम्हें दीक्षा दूंगा।"[3] सूत्रों और स्मृतियों में पहुंचकर यह अनुष्ठान

नियम और शर्तें रखते जाए और लागू की जाए, उनका पालन करते हुए अब से सरकार द्वारा नियंत्रित मन्दिरों में प्रवेश या पूजा के लिए जन्म या वर्ण के कारण किसी भी हिन्दू पर कोई भी प्रतिबन्ध नहीं रहेगा।

1 ऋग्वेद ३ ६२ १०

2 तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

वे इस तथा अन्य सन्दर्भों में सूर्य को परमात्मा की मूर्ति के रूप में प्रयुक्त किया जाता रहा है। इस प्रथा के विरुद्ध में कहते हैं, "हमारे धर्म में कोई और ईश्वर-प्राय वस्तु ऐसी नहीं है जो परमात्मा का प्रतिरूप बनने के लिए सूर्य से अधिक उपयुक्त हो।"

3 छान्दोग्य उपनिषद् ४ ४

बहुत विशद हो गया है। सुप्रसिद्ध मंत्र[1] को बोलते हुए यज्ञोपवीत धारण करना दीक्षा का प्रतीक है। यद्यपि क्षत्रियों और वैश्यों को भी उपनयन का अधिकार था पर लगता है कि वे अब इस अधिकार का उपयोग करते नहीं थे। सन्ध्या में अवैदिक तत्त्व मिल गए हैं। सन्ध्या के कई अवयव (अंग) हैं आचमन (जल के घूंट भरना) प्राणायाम (श्वास का नियमन) मार्जन (मंत्र बोलते हुए अपने शरीर पर जल छिड़कना) अघमर्षण (सूर्य को जल-अर्घ्य चढ़ाना) जप (गायत्री मंत्र का बार बार पाठ) उपस्थान (प्रातःकाल सूर्य की उपासना के लिए और सायंकाल वरुण की उपासना के लिए मंत्रों का पाठ) उपसंग्रहण (अपने गोत्र और नाम का उच्चारण करते हुए, अपने कान छूकर, पैर पकड़कर और सिर झुकाकर यह कहना कि 'मैं प्रणाम करता हूँ')।

यह बहुत आवश्यक है कि महत्त्वपूर्ण संस्कार उपनयन करने की अनुमति सब हिन्दुओं को, पुरुषों और स्त्रियों को दी जाए, क्योंकि सभी लोग आध्यात्मिक प्रगति के उच्चतम लक्ष्य तक पहुंच पाने की क्षमता रखते हैं। उस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए मार्गों के सम्बन्ध में विभिन्न रूपों का विधान किया गया है। ऊपर के तीन वर्णों के लिए वैदिक मार्ग खुला है। 'भागवत' का कथन है कि स्त्रियों शूद्रों और जातिच्युत ब्राह्मणों की वेद तक पहुंच नहीं है और इसलिए दयालु मुनि ने उनके लिए 'महाभारत' की रचना की है।[3] प्राचीन काल में वेदाध्ययन का निषेध इतना कठोर नहीं था। 'धर्मसूत्रों' के काल में इस विषय में असहिष्णुता इतनी अधिक थी कि गौतम ने इस नियम का उल्लंघन करनेवालों के लिए भयंकर दण्डों का विधान किया है। शंकराचार्य का कथन है कि भले ही शूद्र को वेदाध्ययन पर आधारित ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं है, फिर भी वह अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है जैसे विदुर और धर्मव्याध ने किया था और इस प्रकार आध्यात्मिक स्वाधीनता (मोक्ष) प्राप्त कर सकता है, क्योंकि ज्ञान का फल है।[6] जैमिनि का कथन है कि बादरि के मतानुसार शूद्र भी वैदिक अनुष्ठान कर सकते हैं।

---

१ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ।

२ [illegible] रथकारों (बढ़इयों) और निषाद स्थपतियों (वास्तुकारों) को अपवाद मानकर छूट दी गई थी।

३ स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा
इति भारतमाख्यानं मुनिना कृपया कृतम् ।—१ ४ २५

४ छान्दोग्य उपनिषद् ४ १ २

५ १२-४

६ सूत्रभाष्य १ ३-१

७ निमित्तार्थेन बादरिस्तस्मात् सर्वाधिकारं स्यात् ।—१ ३-२७
साथ ही देखिए 'भारद्वाज श्रौत सूत्र, ५-२-८ । कात्यायन १ ४-५

मनु,[1] शंख[2] और यम शूद्रों के संस्कार करने की अनुमति देते हैं, किन्तु ये संस्कार वैदिक मन्त्रों के पाठ के बिना होने चाहिएं। कारण चाहे कुछ भी क्यों न रहा हो परन्तु इससे कुछ आध्यात्मिक आडम्बर की वृद्धि थी और बहुत विचार विमर्श और बहुत-सी कटुताएं उत्पन्न हुईं।

अतीत में चाहे कुछ भी क्यों न होता रहा हो, परन्तु इस समय यह अत्यन्त आवश्यक है कि हमारे आध्यात्मिक उत्तराधिकार का द्वार उन सबके लिए खोल दिया जाए, जो अपने-आपको हिन्दू कहते हैं। कई शैव और वैष्णव सन्त अछूत जातियों के थे और अन्य अनेक भी ब्राह्मण नहीं थे। ऐसे अनेक लोग जो ब्राह्मण वर्ण के नहीं थे पवित्रता और ईश्वर प्राप्ति के उच्चतम आदर्श तक पहुंचे हैं। प्रत्येक धर्म-सुधारक सारे समाज को सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह और आत्मसंयम (ब्रह्मचर्य) के आदर्शों द्वारा ब्राह्मणत्व के स्तर तक ऊंचा उठाने का यत्न करता है। उन्होंने ऐसी पद्धतियां रची हैं जिनके द्वारा अनुशासित जीवनवाले मनुष्य जाति की रोकों को लांघ सकते हैं। श्रमण लोग जो बौद्ध दृष्टिकोण को अपनाते हैं और ब्रह्मचर्य तथा स्वेच्छाकृत गरीबी (अपरिग्रह) के व्रत का पालन करते हैं, ब्राह्मणों के समकक्ष ही हैं। महान भक्त लोग भी जात-पांत से ऊपर उठ गए थे। आत्म-अनुभूति के द्वार सम्पूर्ण सुअवसरों के साथ अनगिनत महिमाओं के लिए खुले थे। आध्यात्मिक दृष्टि से सब मनुष्यों की समानता के सिद्धान्त के कारण, इस तथ्य के कारण कि जो लोग ऊपर के तीन वर्णों के नहीं थे उन्होंने भी आत्मज्ञान प्राप्त किया, और हिन्दू शास्त्रकारों द्वारा इस स्वीकृति के कारण कि शूद्रों को भी आत्मज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है,[3] यह आवश्यक हो जाता है कि आज हम अपनी आध्यात्मिक पैतृक सम्पत्ति के द्वार सब हिन्दुओं के लिए जाति या प्रतिष्ठा (हैसियत) का कुछ भी भेदभाव किए बिना खोल दें। ब्राह्मण कोई वर्ग या श्रेणी नहीं है, अपितु यह तो एक प्रकार के स्वभाव का नाम है। यह स्वभाव किसी भी व्यक्ति में हो सकता है, और यह भी सम्भव है कि ब्राह्मण जाति में उत्पन्न बहुत-से लोगों में यह न भी हो। यह लिंग या व्यवसाय, जन्म या वंश पर निर्भर नहीं है, उनसे स्वतन्त्र है। प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मणत्व प्राप्त करने का अधिकार है, जो ब्राह्मणत्व वह स्थिति है जहां पहुंचकर आंतरिक चारुता और बाह्य सौंदर्य एक हो जाते हैं।

गायत्री की प्रार्थना भारत के सांस्कृतिक इतिहास की समपूर्णता है और यह

---

१ १०-११०

२ [illegible] पर मिताक्षरा [illegible]

३ [illegible] का कथन है कि [illegible] [illegible] पुराणों का [illegible] सकते हैं क्योंकि [illegible] का अधिकार है। [illegible]

हर स्त्री पुरुष ऊँच-नीच सबको सिखाई जानी चाहिए। इसमे यह मान लिया गया है कि वस्तुएं जिस रूप मे हैं उनमे एक प्रकार की अविराम अस्थिरता है एक उत्कृष्टतर मार्ग की शाश्वत खोज है और है एक उत्कृष्टतर संसार की ओर निरन्तर प्रगति। जीवन का सबसे बड़ा वरदान एक उच्चतर जीवन का स्वप्न है। प्रत्येक व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा यह होती है कि उसे गम्भीरतर तीव्रतर और विस्तृततर आत्मचेतना प्राप्त हो और स्पष्टतर आत्मज्ञान प्राप्त हो। हमे अपने से उत्कृष्टतर किसी वस्तु को तैयार करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रार्थना को तो सन्देहवादी और ईश्वरवादी भी अपने बौद्धिक प्रत्यु त्तरों पर ध्यान गये बिए बिना अपना सकते हैं। यह मानव-आत्मा मे और मानवीय प्रयत्न की समाप्ति मे थड़ा की पहुंच से ही कल्पना करके चलती है। यह उस सच्चे धर्म की प्रतीक है जो आध्यात्मिक अभिमान (साहस-कार्य) है एक अविराम नवीकरण है। परमात्मा सतत पुनर्जन्म है। हमे अपने आपको नग्न (अनावृत) और निष्प्राण के मुखावरण के बिना पाना होगा। तभी हमारा दूसरा जन्म होता है।

हमारे प्रयोजन के लिए, हिन्दू वह है जो अपने जीवन और आचरण मे वेदो के आधार पर भारत मे विकसित हुई किन्ही भी धार्मिक परम्पराओ को अपनाता है। केवल वे ही लोग हिन्दू नही हैं जो हिन्दू माता-पिता की सन्तान हैं, अपितु वे सब लोग भी हिन्दू हैं, जिनके मातृपक्ष या पितृपक्ष के पूर्वजो मे कोई हिन्दू था और जो स्वय इस समय मुसलमान या ईसाई नही हैं।

हाल के दिनो मे हिन्दू धर्म ने अपने-आपको समय की आवश्यकताओ के अनुसार ढाल पाने मे अपनी अनिच्छा या असमर्थता प्रदर्शित की है। बदलती हुई परिस्थितियो के अनुसार अपने आधारभूत सिद्धान्तो मे छूट देने के लिए बहुत अधिक जल्दबाजी करना अपनी परम्परा के सिद्धान्तो मे विश्वास की कमी का द्योतक है परन्तु कभी भी परिवर्तन ही न करना मूर्खता है। प्राचीन प्रणाली के जैसीकि वह हम तक चलती आई है समर्थन मे लड़ना गलत मोर्चे पर लड़ना है। हम अपनी संस्कृति के महान आदर्शों को नही त्याग सकते परन्तु अनुष्ठानो और संस्थाओ के रूप मे उनके मूर्तस्वरूप से हमे ऊपर उठाना होगा। इतिहास को वापस नही मोड़ा जा सकता। हम आमूल क्रांति और अतीत की ओर वापसी दोनो से ही साफ बचकर आगे बढ़ना है। कई बार अपनी थकान के कारण हमे प्रलोभन होता है कि हम अपने अतीत को त्याग दें और बिलकुल नये सिरे से प्रारम्भ करें। परम्परा एक भारी बोझ अनुभव होने लगती है जो हमारे ऊपर टूट पड़ती हुई अव्यवस्था (अन्धेरगर्दी) से हमारी यथेष्ट रक्षा नही कर पाती और फिर भी नये सिरे से जीवन प्रारम्भ करने मे रुकावट बनती है। ऐसा आचरण लाभकारी नही होगा। धन अनश्वर सिद्धांतो के जिनका विकास हमारे इतिहास मे हुआ है अध्ययन द्वारा हमे मानवीय गौरव स्वतन्त्रता और न्याय की रक्षा के लिए नये संरचनात्मक रूप

उपायो का विकास करना होगा। नूतन की सच्ची-खरी शक्तियों को अतीत के प्रामाणिक सिद्धांतो के साथ एक नई एकता में गूंथना होगा। अत्याचार और कष्ट के सुदीर्घ युगो मे देश ने अपने आदर्शों को बनाए रखने में गौरवपूर्ण स्थिरता प्रदर्शित की है। आशा की ज्योति कभी भी बुझी नहीं है। विदेशी शासन की अन्धकारमय पृष्ठभूमि में यह उज्ज्वलतम दीप्ति से जल रही है। परन्तु यदि भारत को आध्यात्मिक और भौतिक मृत्यु से बचना अभीष्ट हो तो हमारी सामाजिक आदतो और संस्थाओ म आमूल परिवर्तन करना अत्यावश्यक है। यदि हिन्दू धर्म को अपनी विजयिनी शक्ति और आगे बढ़ने अन्तःप्रवेश करने और ससार को उर्वर करने के बल को फिर प्राप्त करना हो तो हमे अपने धार्मिक विचारों और आचारो का अब पुनर्गठन करना होगा।

४ | हिन्दू समाज में नारी

भूमिका—प्राचीन भारत में नारी—मानव-जीवन में प्रेम का स्थान—भौतिक आधार—जातीय तत्त्व—मित्रता—प्रेम—विवाह—विवाह और प्रेम—हिन्दू संस्कार—विवाह के प्रकार—बाल-विवाह—साथियों का चुनाव—बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व—विधवाओं की स्थिति—तलाक—समाज सुधार—प्रगति-विरोध—विरूपताओं के प्रति रुख

भूमिका

नर और नारी के सम्बन्धों के प्रश्न के बारे में गम्भीर कम और ईमानदार अधिक होना उचित होगा। जीवन के इस गम्भीर मामले में हमारी प्रवृत्ति यह होती है कि हम संसार के सामने एक मिथ्या-सा अभिनय करें। जहाँ सचाई और आन्तरिक ईमानदारी होनी चाहिए वहाँ छल और कृत्रिमता व्याप्त है। अच्छा यह है कि इन तथ्यों का सामना ईमानदारी से किया जाए और ऐसी मान्यताएँ बनाई जाएँ जो अत्यधिक आदर्शवादी न हों। हम मनुष्यों के सामने भलाई का जो नमूना और नैतिक आचार का जो विधान प्रस्तुत करें, वह ऐसा होना चाहिए जिसका वे पालन कर सकें। वह उस संसार के साथ संगत होना चाहिए जिसमें हम रहते हैं, जिसमें सामाजिक मान्यता और व्यवहार का ढाँचा खोखला हो रहा है और समाज घुल-घुलाकर नये रूप में ढल रहा है।

पुरुषों ने जो स्त्रियों के सम्बन्ध में प्रकट किए गए अधिकांश दृष्टिकोणों के लिए उत्तरदायी हैं, स्त्रियों के स्वभाव के विषय में और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की महत्ता के विषय में मनगढ़न्त कहानियाँ बना डाली हैं। उन्होंने अपनी सारी सूझ-बूझ नारी की रहस्यमयता और पवित्रता के साथ-साथ उसके सौन्दर्य और अस्थिरता के चित्रण में लगा दी है।

प्राचीन भारत में नारी

जब यह कहा जाता है कि नर और नारी पुरुष और प्रकृति की भाँति हैं, तो

इसका अभिप्राय यह होता है कि वे एक-दूसरे के पूरक हैं। मानव-जाति में नर नारी का लिंगभेद होने के कारण श्रम का विभाजन करना आवश्यक हो गया है। कुछ कार्य ऐसे हैं जिन्हें पुरुष नहीं कर सकते। इस प्रकार का विशेष कार्य का कौशल स्त्रियों को उनके नारीत्व से वंचित नहीं करता और न इससे नर और नारी के स्वाभाविक सम्बन्ध ही बिगड़ने पाते हैं। पुरुष स्रष्टा है और नारी प्रेमिका। नारी के विशेष गुण हैं दया और कोमलता, शान्ति और प्रेम, समर्पण और बलिदान। पाशविकता, हिंसा, क्रोध और विद्वेष उसके स्वाभाविक गुण नहीं हैं। पुरुष का प्रभुत्व स्वाभाविक नहीं है। ऐसे अनेक युग और समाज के रूप रहे हैं जिनमें पुरुष का प्रभुत्व उतना सुनिश्चित नहीं था जितना हम अज्ञानवश मान लेते हैं। नारीत्व के परिणाम स्त्रियों को पुरुषोचित गुणों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह रक्षा कर सकते हैं। स्त्री और पुरुष में अन्तर आवश्यक है और उनका प्रयोजन पारस्परिक मिलन है।[1] भृगु शब्दकोश में पुरुष की परिभाषा करते हुए कहा गया है 'एक पशु, जिसका प्रशिक्षण नारी करती है'। नारी मूलतः पुरुष की शिक्षक है तब भी जबकि वह बच्चा होता है और तब भी जब वह वयस्क हो जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है 'क्योंकि पिता फिर अपनी पत्नी से उत्पन्न होता है (जायते पुनः) इसीलिए वह जाया कहलाती है। वह उसकी दूसरी माता है।'[2] 'गीतगोविन्द' उस श्लोक से प्रारम्भ होता है, जिसमें राधा से कृष्ण को घर ले जाने का अनुरोध किया गया है उसके स्वभाव की पूर्णता को आगे बढ़ाने के लिए क्योंकि वह भीरु बालक है।[3] जब आकाश बादलों से काला पड़ जाता है, भविष्य का मार्ग घने वन में से होता है, जब हम अन्धकार में बिलकुल अकेले होते हैं, प्रकाश की एक भी किरण नहीं दीख पड़ती और जब सब ओर कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ होती हैं, तब हम अपने-आपको किसी प्रेममयी नारी के हाथ में छोड़ देते हैं।

नारी शिशु को 'दुहितृ' नाम दिया गया है, जिसका अंग्रेजी रूपान्तर 'डॉटर' है। इस शब्द से ध्वनित होता है कि स्त्री का मुख्य कर्तव्य गाय दुहना है। बुनना, सिलाई-कढ़ाई, घर का काम और फसलों की देखभाल उसके मुख्य कर्तव्य हैं।[4]

---

१ जब एक फ्रांसीसी सदस्य ने स्त्रियों के लिए वोट के अधिकार का समर्थन करते हुए कहा कि स्त्री और पुरुष में कितना थोड़ा-सा अन्तर है तो सारी विधानसभा खड़ी हो गई और चिल्लाई — यह अन्तर चिरजीवी हो

२ [illegible]-११

३ मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय
मीत [illegible] ।

४ देखिए पृष्ठ ४२

चीनी कहावत में कहा गया है, "पुरुष सोचता है कि वह जानता है, पर स्त्री उससे कहीं अधिक जानती है।

वैदिक युग में धर्म की सबसे बड़ी अभिव्यक्ति यज्ञ था। पति-पत्नी दोनों इसमें भाग लेते थे। दोनों मिलकर प्रार्थनाएं करते थे और आहुतियां डालते थे। लड़कियों का उपनयन संस्कार होता था और वे सन्ध्या की विधि पूरी करती थीं। "युवती कन्या का जिसने ब्रह्मचर्य का पालन किया हो ऐसे वर के साथ विवाह कर देना चाहिए, जिसने उसीकी भांति ब्रह्मचर्य पालन करके शिक्षा पाई हो।"[1] सीता का वर्णन सन्ध्या करते हुए किया गया है।[2] हारीत का विचार है कि स्त्रियों के दो वर्ग होते हैं—ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू।[3] पहले प्रकार की स्त्रियां विवाह नहीं करतीं और वेदों का अध्ययन करती हैं और नियत विधियों का पालन करती हैं और बाद में विवाह का समय आने पर उनका उपनयन संस्कार किया जाता है। इस विषय में यम के उद्धरण प्राप्त होते हैं कि अतीत काल में कन्याएं मेखला धारण करती थीं वेदों का अध्ययन करती थीं और मन्त्रपाठ करती थीं।[4] मनु का विचार है कि कन्याओं के लिए विवाह को उपनयन का समस्थानीय समझा जाना चाहिए।[5] परन्तु अतीत के व्यवहार को दृष्टि में रखते हुए और इस बात को मन में रखते हुए कि पति-पत्नी एक ही समूची वस्तु के पूरक अंग हैं दोनों को आध्यात्मिक जीवन और अनुशासन में समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए। अविवाहित रहने की दशा में भी पुरुषों और स्त्रियों को आध्यात्मिक उन्नति का समान अधिकार है।

ऐसा कोई धार्मिक प्रतिबन्ध नहीं था कि प्रत्येक लड़की को विवाह करना ही चाहिए। यह ठीक है कि पत्नी और माता बनना स्त्री के कर्तव्यों में असंदिग्ध रूप से सबसे अधिक कौशलपूर्ण और कठिन कार्य है फिर भी किसीको इसके लिए विवश नहीं किया जाना चाहिए। प्रजातन्त्र शासन-पद्धति का एक विशिष्ट रूप उतना अधिक नहीं है जितना कि व्यक्ति के मूल्य की मान्यता है चाहे व्यक्ति पुरुष हो या स्त्री अपराधी या बहिष्कृत। यह बात स्पष्ट रूप से अनुभव कर ली गई है कि कुछ आत्माओं के लिए अपने लक्ष्य को एकाकी जीवन बिताते हुए प्राप्त करना सम्भव होता है और प्रेम और विवाह के आनन्द सामाजिक जीवन को

१ यजुर्वेद

२ रामायण ५-१५ ११ १४ । अन्यत्र में दाक्षायण की पुत्रियों का उल्लेख है जो दर्शन और धर्म के मामलों में बहुत निष्णात थीं। (१ १४)

३ द्विविधा स्त्रियः ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च तत्र ब्रह्मवादिनीनाम् उपनयनम् अग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भिक्षाचर्या, सद्योवधूनां तु उपस्थिते विवाहे कथञ्चिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः।

४ पुराकल्पेषु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा। ऋग्वेद ... । अथर्ववेद ५ ३ १ । ... धारण करने वाली के रूप में पत्नी का उल्लेख किया है ... । १ १ १६

५ २-६७

भागवन्तो की भांति भ्रात्मिक जीवन से ध्यान बटानेवाले अधिक होते हैं। यदि कोई ऐसे व्यक्ति हैं जो ब्रह्मचारी रहकर सन्तुष्ट हैं, यदि उनका स्वाभाविक भुकाव इस ओर है और वे अकेले प्रसन्न रहना चाहते हैं, तो कोई कारण नहीं कि समाज उनको अकेले रहने की स्वतन्त्रता क्यों दे। यह बिलकुल अनुचित है कि उन्हें बरेलूपन के झंझट मे फंसने को विवश किया जाए, जिसके लिए वे उपयुक्त नही हैं। विचार और समाज की सारी परम्परा मोक्षा वार्तालाप और माता-पिता की स्वार्थ भावना जो अपने वंश को आगे चलता देखना चाहते हैं आत्मा की मुक्ति के लिए प्रार्थना करनेवाले वंशज के अभाव का भय और तथाकथित धर्म अनिच्छुक व्यक्तियो को भी विवाह के लिए विवश कर देते हैं। परन्तु पिछले कुछ समय से आर्थिक और अन्य दशाओ के कारण अविवाहित लोगो की संख्या बढ़ती पर है।

परन्तु कुछ स्त्रिया पुरुषोचित प्रकार की ऊर्जस्वी और महत्त्वाकांक्षी होती हैं। वे जीवन के पुरस्कारो के लिए संघर्ष करती हैं और खेलो तथा राजनीति मे रुचि लेती हैं। वे प्रेम और विवाह के सब सम्बन्धो से बचने का यत्न करती हैं परन्तु यदि दुर्घटनावश वे ऐसे किसी सम्बन्ध मे आ पड़ती हैं, तो वे अपने-आपको अपने पतियों से उच्चतर सिद्ध करने का यत्न करती हैं और इस प्रकार विवाहित जीवन के माधुर्य को बिगाड़ती हैं। वे यह सिद्ध करने मे गर्व अनुभव करती हैं कि उनमें बरेलूपन की भावना कभी विकसित ही नही हुई। यद्यपि ऐसे मामले बहुत थोड़े होते हैं। फिर भी समाज को उनके लिए गुजाइश रखनी होगी। इस प्रकार की पौरुषी स्त्रियां उस उच्चतम सीमा तक नही पहुंच पाती जहां तक कि नारी पहुंच सकती है।

स्त्रियों को अलग-अलग रखने की प्रथा भी पहले नही थी। युवती कन्याएं स्वच्छन्द जीवन बिताती थी और अपने पति के चुनाव मे उनकी आवाज निर्णायक होती थी। उत्सवो के समय और क्रीडा-प्रतियोगिताओ (समन) मे लड़कियां खूब सज-धजकर सामने आती थी। स्त्रियों को अपने पति की सम्पत्ति में अधिकार होता था और कभी-कभी उनको अविवाहित रहकर अपने माता-पिता और भाइयों के साथ रहने दिया जाता था। अथर्ववेद मे ऐसी कन्याओ का उल्लेख है, जो आजीवन अपने माता-पिता के साथ रहती थी। पैतृक सम्पत्ति का कुछ अंश

१ १ ९ १ — ८-१५ । अग्नी मे समन का चित्र खींचते हुए लिखा है "स्त्रिया और कन्याए अच्छे अच्छे कपडे पहनकर आनन्दपूर्ण समारोह के लिए चल पड़ती हैं। युवक और युवतियां अपनी अपना ग्राम के मैदानो की ओर जाते हैं क्योंकि जब और खेत सारी हरियाली से ढके होते हैं तब वे नृत्य में भाग लेते हैं गाना गाते हैं और लड़के और लड़कियां एक दूसरे को पकड़कर देखा में घूमते हैं यहां तक कि उनके पैरों तले धरती कांपने लगती है और धूल के बादल आनन्द से नाचती हुई भीड़ को ढक लेते हैं। —ऋग्वेद मण्ड ११

२ देखिए ऋग्वेद १ १ ७ अमाजु अम लड़की जो अपने पिता के घर में ही बूढ़ी हो जाती थी। देखिए २ १७ ७ १०-३६ १ ८-२१-८

१ १ १ ३

किया जाए, तो वे न तो पुरुषों से अधिक स्थिर होती हैं और न कम स्थिर। उनकी काम-वृत्तियां पुरुषों की अपेक्षा कम परिवर्तनशील नहीं होतीं।[1] न तो स्त्री मासूम मेमना है और न पुरुष निगल जानेवाला राक्षस। आदिम युग में स्वेच्छाचार की प्रथा थी और वह बुरा नहीं समझा जाता था। स्त्रियां जैसा चाहें रह सकती थीं।[2] जब भी परिस्थितियां अनुकूल होती थीं वे एक विवाह-सम्बन्ध को त्याग देती थीं। विक्टोरिया के देशी निवासियों में स्त्रियों के इतने अधिक प्रेमी होते हैं कि उनमें यह बता पाना लगभग असम्भव होता है कि किस बच्चे का पिता कौन है।[3] अरब और मडागास्कर में कुलीन वर्गों की महिलाएं विवाह तो केवल एक ही पुरुष से करती हैं परन्तु उसके साथ ही उनके अनेक प्रेमी भी होते हैं। सन्तानोत्पादन के बोझ के कारण स्त्रियों का झुकाव एक पति के साथ जीवन बिताने की ओर होता है। यदि उसे आर्थिक पराधीनता से मुक्ति मिल जाए, तो उसकी एक विवाहशील होने की सम्भावना पुरुष की अपेक्षा अधिक नहीं है। ऐसे एकविवाह बहुत पाये हैं जिनमें बीच बीच में बार-बार तलाक हुए हों। महाभारत में ऐसे प्रदेशों का उल्लेख है, जहां स्वेच्छाचार प्रचलित था। ये प्रदेश उत्तर कुरुओं का देश और माहिष्मती नगर थे।[4] इस स्वेच्छाचार के लिए पूर्व उदाहरणों के कारण अनुमति प्राप्त थी और बड़े-बड़े ऋषियों ने इसकी प्रशंसा की थी।[5] महाभारत में बताया गया है कि श्वेतकेतु को उस समय बहुत दुःख हुआ जब एक ब्राह्मण उसके पिता की उपस्थिति में उसकी माता का हाथ पकड़कर ले जाने लगा। परन्तु उसके पिता ने शान्तिपूर्वक कहा यह तो प्राचीन प्रथा है। उसने कहा 'वत्स पृथ्वी पर सब वर्गों की स्त्रियां स्वतन्त्र हैं। इस मामले में पुरुष अपने-अपने वर्गों में गौओं की भांति आचरण करते हैं।'[6] स्वेच्छाचार के स्थान

1 बार्ड सेवक से तुलना कीजिए, "स्त्री का व्यभिचार पुरुष का सुन्दर आविष्कार है।"

2 कामचारविहारस्य स्वतन्त्रा   महाभारत १ १२२ ४

3 देखो, विल्यम् विनवुड रीड की पुस्तक 'सैवेज अफ्रीका'। दूसरा संस्करण १८६४ पृष्ठ ४२४

4 वन पर्व माहिष्मत्या नगर्याम्। १२१ १ २६

5 स्वैरिण्यस्तत्र नार्यो हि यथेष्टं विचरन्त्युत। ४-१२ ४

6 प्रमाणदृष्टो धर्मोऽयं पूज्यते च महर्षिभिः। तुलना कीजिए, "जो अनुदारशीलों की यह प्राचीन प्रथा जो स्त्रियों के लिए बहुत अनुकूल है प्राचीन लोगों द्वारा अनुमत है। वर्तमान व्यवहार तो बहुत हाल में ही स्थापित हुआ है।" (स्त्रीणामनुग्रहकर स हि धर्मः सनातन अस्मिंस्तु लोके नचिरात् मर्यादेयं शुचिस्मिते)—१ १२२-८

7 अनावृता हि सर्वेषां वर्णानामङ्गना भुवि। यथा गावः स्थिताः तात स्वे स्वे वर्णे तथा प्रजाः। १ १२२-१४

("पशु-संसार में मादा यह निर्णय करती है कि वह किस नर को समागम के लिए अपने पास आने देगी। मनुष्य-संसार में भी अन्तिम निर्णय नारी के ही हाथ में है। जब तक कोई स्त्री हां न कहे, तब तक उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।")

पर नियमित विवाह की प्रथा प्रारम्भ करने का श्रेय श्वेतकेतु को दिया जाता है।[1] उस समय पुरुष और स्त्री दोनों के लिए एक ही मानदंड नियत कर दिया गया। "आज से जो पत्नी अपने पति के साथ नहीं रहेगी वह पापिनी समझी जाएगी। उसका पाप भ्रूणहत्या के पाप के समान बड़ा और घृणित समझा जाएगा। जो पुरुष अपनी पतिव्रता और प्रेममयी पत्नी की जिसने अपने यौवनकाल से लेकर पवित्रता की शपथ का पालन किया है उपेक्षा करके दूसरी स्त्रियों के पीछे जाएगा वह भी उसी पाप का भागी होगा।"[2] एक विवाह कोई स्वाभाविक दशा नहीं है, अपितु सांस्कृतिक स्थिति है। स्वेच्छाचार के चिह्न वैदिकपूर्व युग में पाए जाते हैं क्योंकि ऋग्वेद के समय तक विवाह संस्था भली भांति स्थापित हो गई थी।

विवाह स्त्रियों के लिए सम्भवतः बौद्ध और जैन धर्मों की प्रतिक्रिया के रूप में एक दायित्व बन गया। दीर्घतमा ऋषि ने नियम बनाया कि भविष्य में कोई स्त्री अविवाहित न रहे। मनु ने यह युक्ति प्रस्तुत की कि स्त्रियों के सब संस्कार होने चाहिएं परन्तु वैदिक विधियों के अनुसार नहीं। उनके लिए वैदिक संस्कार केवल एक ही है—विवाह। स्मृतियों में दीर्घकाल तक ब्रह्मचारी रहने की निन्दा की गई है और गृहस्थ धर्म की प्रशंसा की गई है। पत्नीहीन पुरुष को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है।[6] स्त्रियों के सदा पुरुषों पर निर्भर रहने का सिद्धान्त मनु और धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित किया गया है। उनकी दृष्टि में स्त्री एक नाजुक पौधे की भांति है, जिसकी देख-रेख और पालन-पोषण पुरुष द्वारा किया जाना चाहिए। परवर्ती व्याख्याकारों ने स्त्रियों पर अधिकाधिक प्रतिबन्ध लगाने में एक-दूसरे से होड़-सी की है। परन्तु हमें मनु में भी स्त्रीत्व के सम्बन्ध में उच्चकोटि के विचार मिलते हैं कालिदास बाण और भवभूति का तो कहना ही क्या।

---

१ १ ११८

२ व्युच्चरन्त्याः पतिं नार्या अद्यप्रभृति पातकम्,
भ्रूणहत्यासमं घोरं भविष्यत्यसुखावहम्।
भार्यां तथा व्युच्चरतः कौमारब्रह्मचारिणीं
पतिव्रतामेतदेव भविता पातकं भुवि।—१ १२०-१८

३ भार्यायां तु मारभ्या भवत्यपूर्ति पातकम्। —महाभारत १ ११८-१९

४ ९-११

५ ९-१०

६ अयज्ञियो वा एष यो अपत्नीकः।—तैत्तिरीय ब्राह्मण २-२-२-६

७ पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने
पुत्रो रक्षति वार्धक्ये न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।—मनु ९ ३

ध्यान रहे कि न्याय की परम्परा पुरुष के साथी पत्नी और बच्चों के साथ सम्बन्ध पर लागू नहीं होती क्योंकि न्याय को व्यक्ति की सम्पत्ति पर लागू नहीं किया जा सकता। पत्नी सम्पत्ति के रूप में विवाह के समय भी स्त्रियों की स्थिति बहुत कठिन थी।

यद्यपि जहाँ-तहाँ ऐसे सन्दर्भ भी मिलते हैं जिनमे कहा गया है कि स्त्रियो को वैदिक अनुष्ठानो मे पुरुषो के समान अधिकार नही है फिर भी मुख्य दृष्टिकोण यही है कि उसे या तो पति के साथ पत्नी के रूप मे या कन्या के रूप मे स्वतन्त्र रूप से उन्हे करने का अधिकार है। बाद मे जब नारी की स्थिति गिर गई, तब भक्तिधर्म प्रारम्भ हुआ जिसमे स्त्रियो की सब धार्मिक आवश्यकताओ को पूर्ण करने की गुंजाइश थी।

इन सब असमताओ से पीड़ित होते हुए भी स्त्रियो को कुछ विशेष सुविधाए भी प्राप्त थी। वे चाहे जो भी अपराध करें, किन्तु उन्हें मारा नही जा सकता था। व्यभिचार का दोषी होने पर भी उन्हे त्यागा नही जा सकता था। गौतम ने आदेश दिया है कि जो पत्नी व्यभिचार की दोषी हो उसे प्रायश्चित्त करना चाहिए और फिर उसे भली भांति देखभाल मे रखा जाना चाहिए।[1] वशिष्ठ का कथन है कि 'ब्राह्मणो क्षत्रियो और वैश्यो की जो पत्नियां शूद्रो से व्यभिचार करें उन्हें प्राय श्चित्त द्वारा उसी दशा मे शुद्ध किया जा सकता है जबकि कोई सन्तान न हुई हो अन्यथा नही।'[2]

मानव-जीवन में प्रेम

ससार मे बड़ी-बड़ी सफलताओ के लिए स्फुरणा नारी के प्रेम से ही प्राप्त हुई है। कालिदास[4] जैसे प्रतिभाशाली कवि नेपोलियन जैसे विजेता और माइकेल एंजेलो जैसे विज्ञानवेत्ता तथा अन्य अनेक ससार के निर्माता और ससार को त्यागने वाले विरक्त इस बात के साक्षी हैं कि उनके जीवन मे प्रेम ने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। चीत्कार करियो को ऊची से ऊची उड़ान लेने की प्रेरणा इन्द्रियो के आनन्द सफल सन्तुष्टि और साथ ही साथ प्रेम के तीव्र आवेग से प्राप्त होती है। रामायण मे राम और रावण के बीच विरोध का केन्द्र एक नारी थी और ट्राय का युद्ध एक स्त्री पर अधिकार करने के लिए ही लड़ा गया था। प्रेम का मनोवेग जीवन मे केन्द्र मे अग्नि के रूप मे विद्यमान है। यह सारी सृजनात्मकता का स्वर है। बहुत

---

१ ४४ ३५

४१ १२

३ व्यास का विचार है कि जो स्त्री व्यभिचार की दोषी हो उसे घर के अन्दर रखा जाना चाहिए परन्तु उसे धार्मिक सम्पत्ति और सम्पत्ति के अधिकारों से वंचित कर दिया जाना चाहिए। उसके साथ घृणा के साथ व्यवहार किया जाना चाहिए। परन्तु व्यभिचार करने के बाद यदि वह धार्मिक ... (... दूसरा व्यभिचार न करे) तब पति का उसे पत्नी की भांति ... के सब ... अधिकार दे देने चाहिए १ ४६ ५

४ विन्टरनित्ज के अनुसार कालिदास ने अपने दोनो महाकाव्य कुमारसम्भव और रघुवंश अपनी जवानी के अन्तिम काल में ... हि. लि. ... वा. ३ नि. १ पृ. ५ ये दोनो ... इन दोनों महाकाव्यो के प्रथम ... है।

वे लोग अपनी प्रतिभाओं के अनुकूल सफलता इसलिए प्राप्त नहीं कर सके क्योंकि उन्हें जीवन में कोई प्रेमपात्र प्राप्त न हो सका। दांते को बिएट्रिस से जो प्रेम था उसीसे प्रेरित होकर उसने 'डिवाइना कोमेडिया' महाकाव्य लिखा हालांकि उस समय बिएट्रिस का विवाह एक अन्य व्यक्ति से हो चुका था। चंडीदास की अमर कविताएं एक रजक-युवतीकन्या के प्रेम से प्रेरित होकर लिखी गई थीं और विद्यापति के गीतों के लिए स्फुरणा एक रानी से प्राप्त हुई थी। बीथोवन के भावोद्गार उसकी "अमर प्रियतमा' को लक्ष्य करके लिखे गए थे।

नर और नारी के सम्बन्धों का विवेचन करते हुए हिन्दू-शास्त्रकारों ने अत्यधिक [illegible] लज्जा और अत्यधिक कामेच्छा दोनों की चरम सीमाओं से बचने का यत्न किया है। कामशास्त्र प्रेम और विवाह के प्रसिद्ध अध्ययनकर्ता हैवलॉक एलिस ने लिखा है कि भारत में यौन जीवन को इतनी अधिक सीमा तक पवित्र और दिव्य माना गया है कि जितना संसार के अन्य किसी भाग में नहीं माना गया। ऐसा लगता है कि हिन्दू-शास्त्रकारों के मस्तिष्क में यह बात कभी आई ही नहीं कि कोई स्वाभाविक वस्तु घृणित रूप से अश्लील भी हो सकती है। यह बात उनके सब लेखों में पाई जाती है। परन्तु यह उनके सदाचार की हीनता का प्रमाण नहीं है। भारत में प्रेम को सिद्धान्त और व्यवहार, दोनों की दृष्टियों से इतना अधिक महत्त्व प्राप्त है कि जिसकी कल्पना तक कर पाना हम लोगों के लिए असम्भव है।[1]

जहां एक ओर प्रकृति सामग्री प्रस्तुत करती है वहां मानव-मन उसपर कार्य करता है। इसके अभाव में हमारा यौन जीवन बन्दरों और कुत्तों की भांति बिलकुल अरोचक हो जाता। जब काम की स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति मस्तिष्क और हृदय द्वारा बुद्धि और कल्पना द्वारा नियमित रहती है, तब प्रेम होता है। प्रेम न तो कोई रहस्यपूर्ण उपासना है और न पशु-तुल्य उपभोग। यह उच्चतम भावों की प्रेरणा के अधीन एक मानव-प्राणी का दूसरे मानव-प्राणी के प्रति आकर्षण है। विवाह एक संस्था के रूप में प्रेम की अभिव्यक्ति और विकास का एक साधन है। विवाह केवल एक रूढ़ि नहीं है अपितु मानव-समाज की एक अन्तर्भूत दशा है। यद्यपि इसके आदर्श बदलते रहे हैं फिर भी यह मानव-साहचर्य का एक स्थायी रूप प्रतीत होता है। यह प्रकृति के प्राणिशास्त्रीय लक्ष्यों और मनुष्य के समाजशास्त्रीय लक्ष्यों के मध्य समन्वय (तालमेल बिठाना) है। यह समन्वय सफल होता है या नहीं यह इस बात पर निर्भर है कि इसे किस प्रकार क्रियान्वित किया जाता है। यह हमें इस पृथ्वी पर ही स्वर्ग तक पहुंचा सकता है और कुछ दशाओं में यह हमारे लिए बाकायदा नरक भी बन सकता है।

वर्तमान झुकाव अधिकाधिक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ओर है। प्रतिबन्ध शारीरिक और नैतिक दोनों ही लोकप्रिय नहीं हैं। ज्यों-ज्यों अवचेतना के सम्बन्ध

---

१ 'स्टडीज इन दि साइकोलोजी ऑफ सेक्स' ६, १२६

में और दमन की प्रकृति के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों परम्परागत नैतिकता बहुत संदिग्ध वस्तु बनती जा रही है।[1] काउंट हरमैन कैसरलिंग द्वारा संपादित 'दि बुक ऑफ मैरेज' (विवाह की पुस्तक) में लेख भेजने के लिए दिए गए निमंत्रण के उत्तर में बर्नार्ड शा ने लिखा था "पत्नी के जीवित रहते कोई भी व्यक्ति विवाह के सम्बन्ध में सत्य लिखने का साहस नहीं कर सकता। मेरा मतलब है कि यदि वह स्ट्रिंडबर्ग की भांति अपनी पत्नी से घृणा ही न करता हो तब और मैं घृणा नहीं करता। मैं इस पुस्तक को बड़ी रुचि के साथ पढ़ूंगा यह जानते हुए कि यह मुख्यतया टालमटोल से भरी है।"[2] सामाजिक दृष्टि से बढ़ते हुए उद्योगीकरण और संस्कृति के प्रजातन्त्रीकरण के कारण पारिवारिक जीवन का महत्त्व कम होता जा रहा है स्त्रियां आर्थिक दृष्टि से स्वाधीन होती जा रही हैं सामाजिक और राजनीतिक विशेषाधिकार समान होते जा रहे हैं और इस बात के प्रयत्न किए जा रहे हैं कि मातृत्व के लिए आर्थिक सहायता दी जाए। इस सबसे पारिवारिक जीवन के ढांचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने की संभावना है।

यदि हम विवाह जैसी प्राचीन संस्था के सम्बन्ध में उपयोगी विचार करना चाहते हैं और यदि हम तात्त्विक और औपाधिक में भेद करना चाहते हैं तो हमें उन मूल प्रवृत्तियों और उद्देश्यों का विश्लेषण करना चाहिए जो इस संस्था के जन्म और वृद्धि के कारण थे। तब हमें पता चलेगा कि वे अनेक बातें जिन्हें हमें विवाह से और सामान्यतया यौन सबधों में बहुत महत्त्व देते हैं हमारी बुद्धि और कल्पना द्वारा बनाए गए कानूनों और प्रथाओं के परिणाम हैं।

जहां तक विवाह की संस्था के मूल का सम्बन्ध है इसका आधार न तो भाव प्रधान प्रेम है और न पाशविक कामवासना। कोई कारण न था कि आदिम मनुष्य अपनी यौन प्रवृत्ति की स्वतन्त्रता को क्यों सीमित रखता। उसकी दृष्टि में स्त्रियों की पवित्रता या पुरुष के पितृत्व का कोई मूल्य न था। उसे यौन ईर्ष्या या भावना-प्रधान प्रेम का भी पता नहीं था। आदिकालीन विवाह स्त्रियों को अपने अधीन रखने पर आधारित था और इसकी स्थायिता आर्थिक आवश्यकताओं पर आधारित थी चंचल आवेश पर नहीं। मानव विज्ञानशास्त्री बताते हैं कि आदि-

---

१ तुलना कीजिए, आचार जिन्हें सम्मान मानते स्वाचार है नियम बदल है, उनके लिए उससे अपेक्षा कहीं अधिक बलिदान करने पड़ते हैं जितने के किये योग्य हैं और उनका का व्यवहार न तो ईमानदारी से प्रेरित है और न बुद्धिमत्ता द्वारा स्थापित।" —एस्कोडरवी लेवकर बॉन लाएको प्रॉब्लेमिस (१९२२), पृष्ठ १६२

२ महात्मा ता को एक और ऐसा ही रोचक कथन है। जब उनका विवाह हुआ तो किसी ने उनसे पूछा "कहो अब विवाह के बारे में तुम्हारा क्या विचार है?" "इसका उत्तर देना कठिन है," उन्होंने उत्तर दिया। "यदि ठीक कहूं तो यह कीमियागरी (गुप्त कला) की भांति है। जो लोग इस रहस्य में दीक्षित नहीं हो पाते वे इसके सम्बन्ध में कुछ कह नहीं सकते और जो इसके सदस्य बन जाते हैं उन्हें रहस्य गुप्त रखने की शपथ लेनी पड़ती है।"

कालीन पति स्वेच्छा से अपनी पत्नी को किसी भी अतिथि को केवल आतिथ्य सत्कार की दृष्टि से संभोग के लिए प्रस्तुत कर देता था। परन्तु कामपर के क्रम मे बहु उसके ऊपर अपना स्वामित्व जमाए रखने के सम्बन्ध म बहुत ईर्ष्यालु था। परन्तु अपेक्षाकृत जमकर जीवन बिताने के विकास के साथ और सम्पत्ति के बढने वाले और स्वामित्व को अपने वैध उत्तराधिकारियो के हाथो म बनाए रखने की इच्छा के कारण विवाह की संस्था को और अधिक बल मिल गया।[1] शीघ्र ही सभ्यता की उन्नति होने के कारण पत्नी को एक व्यक्ति के रूप मे केवल दास मज दूर के रूप मे या सन्तान जननेवाले प्राणी के रूप मे ही नही मान्यता प्राप्त हुई और विवाह की संस्था पर इसके बहुत दूरगामी प्रभाव हुए।

भौतिक आधार

काम-वासना को अपवित्र या अशिष्ट समझना नैतिक विकृति का चिह्न है। ग्रामड ने मानव-जीवन के यौन-आधार पर जो इतना बल दिया है वह अतिरंजित अवश्य है परन्तु गलत नही है। यौन प्रवृत्तिया अपने-आपमे कोई लज्जाजनक वस्तु नहीं है। इस विषय म ईसाइयत ने जो अत्यन्त कठोर रुख अपनाया था उसके साथ हिन्दू दृष्टिकोण की कोई सहानुभूति नही। ईसा ने विवाह नही किया और निष्कलक गर्भधारण की समूची धारणा ही इस बात की सूचक है कि सामान्य यौन

---

१ क्रिमोत्स्कीन ने बूवान्स्की की उपमात्मक भावना को इस रूप में अभिव्यक्त किया था "हमारे पास आनन्द के लिए वेश्याएं हैं शरीर की दैनिक परिचर्या के लिए रखेलें हैं और सन्तानो-त्पादन के लिए पत्निया हैं, जो हमारे घर की विश्वस्त देखभाल करनेवाली भी है।"— ल्यूनर ब्लोक मैरेज इन मैक्स सिविलाइजेशन में वेस्टरमार्क द्वारा उद्धृत पृष्ठ ९१

२ सेण्ट पाल कहता है, 'पुरुष के लिए यह अच्छा है कि वह स्त्री का स्पर्श न करे। फिर भी अनियन्त्रित व्यभिचार को रोकने के लिए यह उचित है कि हरएक पुरुष की अपनी पत्नी हो और प्रत्येक स्त्री का अपना पति हो। स्त्री को अपने शरीर पर अधिकार नही है अपितु पति को है और इसी प्रकार पति को अपने शरीर पर अधिकार नही है अपितु उसकी पत्नी को है। तुम दोनो एक-दूसरे को वंचित मत करो। यदि करो भी तो केवल एक-दूसरे की सहमति से और थोडे समय के लिए जिससे कि तुम उपवास और प्रार्थना इत्यादि कर सको और फिर एक दूसरे के पास आ जाओ जिससे शैतान तुम्हें व्यभिचार के लिए फुसला न सके। परन्तु यह मैं अनुमति के रूप में कहता हू आदेश के रूप में नही क्योंकि अच्छे की अपेक्षा विवाह कर लेना अधिक अच्छा है। परन्तु परमात्मा ने प्रत्येक व्यक्ति को या पुरुष दिया है और हरएक के लिए एक रास्ता निश्चित कर दिया है उसीके अनुसार उसे चलना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को उसी दशा में बने रहना चाहिए जो उसे सौंपा गया है। जो लोग इस संसार का उपयोग करते हैं वे इसका दुरुपयोग नही कर रहे क्योंकि इस संसार के [illegible] नष्ट होनेवाले और अस्थायी है। [illegible] बाद भाग्य वाला [illegible] जो अविवाहित रहता है उसे उन वस्तुओं का ध्यान रहता है, जिनका सम्बन्ध परमात्मा से है ताकि वह परमात्मा को प्रसन्न कर सके पर जो व्यक्ति विवाह कर लेता है, वह सांसारिक वस्तुओं का ध्यान रखता है जिससे वह अपनी पत्नी को प्रसन्न रख सके। —१ कोरिन्थियन्स ७

जीवन में पुण्य मर्यादित करता है। मैक्स पैरोम ने कहा है "विवाह पुरुषों की जननक्षमा को महान् है किन्तु कौमार्य स्वर्ग को।" वह लिखता है "वर्ड कुमारियाँ शारीरिक दृष्टि से कुमारी होते हुए भी मानसिक दृष्टि से कुमारी नहीं होतीं। उनके शरीर तो अक्षत होते हैं परन्तु उनकी आत्मा भ्रष्ट होती है। केवल ऐसा कौमार्य ईसा के सम्मुख प्रस्तुत करने योग्य है जो कभी मलिन न हुआ हो न तो शारीरिक इच्छा से और न मानसिक इच्छा से। यदि हम पूर्ण होना है तो हम अपने यौन जीवन और साधारण पारिवारिक अनुराग को त्याग देना चाहिए। हमारी कल्पना और आशा एक सापेक्ष पूर्णता तक सीमित कर दी गई है। विवाहित जीवन की अपूर्ण दशाओं में हमें पूर्ण जीवन बिताना है।

दूसरी ओर हिंदू लोग यौन जीवन को पवित्र मानते हैं। रामायण का प्रारंभ व्याध को दिए गए एक शाप से होता है। उस व्याध ने कामक्रीडा में लगे क्रौंच युगल में से एक को मार डाला था।[1] काम-वासना कोई रोग या विकार नहीं है। अपितु एक स्वाभाविक सहजवृत्ति है।[2] हिंदू दृष्टिकोण में गृहस्थ की स्थिति को ऊंचा बताया गया है। जैसे सब प्राणी माता के सहारे जीते हैं उसी प्रकार सब आश्रम गृहस्थ पर निर्भर रहते हैं। मकान घर नहीं है घर पत्नी के कारण बनता है बिना पत्नी का घर मुझे जंगल के समान प्रतीत होता है।[3] "लकड़ी और पत्थर से जो बनता है उसे घर नहीं कहते बल्कि जहां पत्नी है,वही घर होता है।"[4] हिन्दू दृष्टिकोण में यह जोर नहीं दिया गया कि सब नर-नारी सन्त बन जाएं और एक शून्य पूर्णता को पाने का प्रयत्न करते रहें। यहां यौन संयम को सबसे बड़ा गुण नहीं माना गया। यदि हम प्राकृतिक शक्तियों पर चोट करेंगे तो शीघ्र या विलम्ब से वे अवश्य बदला लेंगी। 'कामसूत्र' के लेखक ने यौन जीवन और आकर्षण के विभिन्न पक्षों का वर्णन प्रस्तुत किया है और हमारे सम्मुख मानव-हृदय की उन उत्तेजनाओं का वर्णन प्रस्तुत किया है जो जीवन को इतनी पूर्ण और आकर्षक बनाती है। उसका सारा विवरण जो जीवन के प्रति उत्साहपूर्ण प्रेम और आवेगपूर्ण आध्यात्मिक सौम्यता से भरा है उस संयम से बिलकुल ही मेल नहीं खाता जिसका प्रतिपादन कष्टसहन के समर्थकों ने किया है। आत्मा की मुक्ति इच्छाओं को बलपूर्वक दबा देने से नहीं होगी अपितु उनका समुचित संगठन करने से होगी।

---

[1] मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वती समा
क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ।

[2] मौंटेन के शब्दों से तुलना कीजिए 'क्या वे स्वयं पशु नहीं हैं जो उस कृत्य को पाशविक बताते हैं, जिसके फलस्वरूप स्वयं उनका जन्म हुआ ?'

[3] न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते ।
गृहं च गृहिणीहीनं अरण्यसदृशं मम ॥

[4] न गृहं ग्रावपाषाणैः स्त्रियो वै गृहमुच्यते ।—भीष्मस्मृति १

आत्मा को शरीर के दोषों से मुक्त करने का उपाय शरीर को नष्ट कर देना नहीं। अत्यधिक उपवास तथा शरीर की अन्य इच्छाओं के दमन के समान ही तपस्यात्मक अनुशासन है। यह इसलिए खतरनाक है क्योंकि इससे मन में उस विषय की स्मृति बराबर बनी रहती है जिससे कि यह मन को बचाना चाहता है। यह एक निषेधात्मक ढंग का बन्धन उत्पन्न कर देता है। यौन विषयों में भी सर्वोच्च आदर्श अनासक्ति का है। सम्भोग का उस समय उपयोग किया जाए, जबकि वे लाभदायक हों और उसके बाद उन्हें बिना किसी कष्ट के त्यागा भी जा सके।

हिन्दू-व्यवहार में विवाह को न केवल शुद्ध माना गया है, अपितु प्रशंसनीय बताया गया है। तपस्वियों की जीवन पर खतरनाक धर्मों को लादने की प्रवृत्ति की निन्दा की गई है। जिस परमात्मा ने नर और नारी का सृजन किया है, उसका उपहास नहीं किया जाना चाहिए। पवित्रता के वे कठोर आदर्श जिनमें हमसे यह आशा की जाती है कि हम जाति के नष्ट होने का खतरा उठाकर भी अपनी आत्मा की रक्षा करें हमारी स्वाभाविक सहज प्रवृत्तियों के प्रतिकूल हैं। यद्यपि शारीरिक इच्छा को कोई गहरी या स्थायी वस्तु समझने की भूल करना ठीक न होगा फिर भी यह एक आवश्यक आधार है जिसके ऊपर स्थायी और तृप्तिदायक सम्बन्ध का भवन खड़ा होता है। यदि विवाह के शारीरिक पहलू असंतोषजनक हों तो विवाह असफल सिद्ध होते हैं। परन्तु केवल शारीरिक पहलू काफी नहीं है। कैण्ट की विवाह की यह परिभाषा कि विवाह "विभिन्न लिंगों के दो व्यक्तियों को उनकी यौन योग्यताओं पर पारस्परिक अधिकार के लिए जीवन-भर के लिए परस्पर बांध देना है" दोषपूर्ण है। यदि यह परिभाषा सत्य होती तो यौन इच्छाओं में शिथिलता आने के साथ-साथ विवाहों का विच्छेद हो जाया करता। परन्तु जैसे सारा जीवन शरीर रचना नहीं है उसी प्रकार प्रेम भी कामवासना ही नहीं है। यौन इच्छा को सन्तुष्ट करना कॉफी का प्याला पी लेने के समान नहीं है। यह कोई[1] तुच्छ या परिणामहीन रचना नहीं है जिसकी कोई स्मृति उसके बाद शेष न रहती हो। इसका परिणाम अनुराग मित्रता और प्रेम होता है। आधुनिक यौन जीवन की आकस्मिकता बढ़ते हुए अधारपन का एक चिह्नमात्र है।

मनुष्य में कामवासना की कुछ अपनी अलग विशेषताएं हैं। मनुष्य में आवर्तकता (नियत समय पर होना) नहीं है। वह बिना भूख के खाता है बिना प्यास के पीता है और सब ऋतुओं में कामोपभोग करता है। यह विरोधाभिसार नर-वानर को जो सबसे पहले बन्दरों में से एक हैं भी प्राप्त है। गौण यौन विशेषताएं केन्द्रीय तत्वों की अपेक्षा भी प्रमुख हो उठती हैं। हम किसी आकृति, अंग या मस्तिष्क से प्रेम करने लगते हैं। मनोवेग अपने ही लिंग के प्राणी की ओर भी चालित किए जा सकता है। मानव प्राणियों को अपने माता-पिता से काफी देर तक लालन-पालन की

१ गुन्नार कॉन्डर, "अपने शरीर से मैं प्यार पूजा करता हूँ/करती हूँ।"

आवश्यकता होती है। कुछ ही पशु अपने बच्चों का पालन-पोषण करते हैं। कुत्ते और कुतिया का साहचर्य बहुत अल्प अवधि के लिए होता है। सारस और सारसी अपने बच्चों में दिलचस्पी लेते हैं और इसलिए उनका सम्बन्ध अपेक्षाकृत अधिक देर तक बना रहता है। पर ज्योंही बच्चे बड़े हो जाते हैं तो माता-पिता का बच्चों के साथ सम्बन्ध भुला दिया जाता है। पशुओं में भाई और बहन के सम्बन्ध जैसी कोई वस्तु नहीं होती।

मानव-प्रकृति की आधारभूत आकांक्षाओं को अवश्य पूरा किया जाना चाहिए। सामान्य व्यक्तियों के लिए दूसरे लिंग के व्यक्ति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध अत्यन्त आवश्यक है। प्राणिशास्त्रीय दृष्टि से यौन वृत्तियों को सन्तुष्ट न कर पाने का परिणाम स्नायु-सम्बन्धी अस्थिरता हो सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका परिणाम शून्यता और मानव-जाति के प्रति घृणा होता है। जहां-तहां जॉन दी बैप्टिस्ट, ईसा, सेण्टपाल या शंकराचार्य जैसे कुछ व्यक्ति हो सकते हैं जो अपने जीवन की ऊर्जा को प्राकृतिक मार्ग से दूसरी ओर मोड़ सकें और उसका उपयोग आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए कर सकें परन्तु अधिकांश नर-नारियों के लिए और समूची जाति के लिए यौन सम्बन्ध अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है।

जातीय तत्त्व

जिसे मैंने ने 'मातृत्व की सार्वभौम सहजवृत्ति' कहा है वह पशुजीवन का भी सबसे विस्मयकारी पक्ष है जिसमें हमें प्रेम और बलिदान और दुःख भी रहा दिखाई पड़ती है। हिंस्र बाघिन भी अत्यन्त कोमलहृदय माता बन जाती है। हिन्दू शास्त्रों में तीन ऋणों[1] का वर्णन है जिन्हें कि हमें चुकाना है ऋषियों का ऋण वेदाध्ययन द्वारा देवताओं का ऋण यज्ञों द्वारा और पितरों का ऋण सन्तानोत्पादन द्वारा चुकाया जाता है। "जो उपहार किसी सन्तानहीन स्त्री द्वारा भेंट किए जाते हैं उनसे लेनेवाले की जीवनी शक्ति क्षीण हो जाती है। जब तक पुरुष को पत्नी प्राप्त नहीं होती तब तक वह केवल आधा मनुष्य रहता है। जिस घर में बच्चे न खेलते हों वह श्मशान के समान है।"[2] परिवार को बनाए रखने की भावना प्रबलतम सामाजिक शक्तियों में से एक है। परिवार सामाजिक शरीर में एक कोषाणु (सेल) है और यदि कोषाणु में प्रजनन की इच्छा समाप्त हो जाए तो जाति नष्ट हो जाएगी। पेतां ने कहा था कि फ्रांस का पतन इसलिए हुआ क्योंकि वहां बहुत कम बच्चे होते थे। घटती हुई जन्म-दर भविष्य के प्रति उस उदासीनता का लक्षण है जो हमें मरती हुई सभ्यताओं के अन्तिम दौर में दिखाई

[1] अपनयेन चार्षभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः।—तैत्तिरीय संहिता ६ ३ १०।५
[2] यस्य न क्रीडन्ते बाला लालयन्तो गृहाङ्गणम्
तस्य वाचे ...रम्य श्मशानम् इव तद्गृहम्।

पड़ती है। "प्रजा सूत्र को तोड़ना नहीं" यह उपनिषद् का उपदेश है और यदि किसी जाति को जीवित रहना हो तो उसे इसका पालन करना ही होगा।[1] सन्तान के बिना यौन सम्भोग भले ही वह कितना ही सुन्दर और पवित्र क्यों न हो अपूर्ण ही रहेगा। वन्ध्यता ही एक आधार है, जिसके कारण दूसरी स्त्री से विवाह करना उचित समझा जाता है।

विवाह एक वैध परिवार की स्थापना के लिए सामाजिक अधिकारपत्र अधिक है और यौन सम्भोग के लिए अनुज्ञापत्र कम। पति और पत्नी में पारस्परिक प्रेम सन्तान उत्पन्न होने के बाद और प्रगाढ़ हो जाता है। भले ही वे एक-दूसरे को चोट पहुँचाएँ और एक-दूसरे से घृणा करें, परन्तु उनकी सन्तान की अपेक्षा कुछ अधिक सुदृढ़ वस्तु, उनके झगड़ों और विक्षेप की अपेक्षा कुछ अधिक स्थायी वस्तु उनके बीच में उत्पन्न हो चुकी होती है। बच्चे के कल्याण के लिए अभिभावकता की सहजवृत्ति माता और पिता दोनों में समान रूप से पाई जाती है। यह हित की एकता कृत्रिम नहीं है। यह मानव-स्वभाव में ही नहीं अपितु सारी प्रकृति में विद्यमान एक आधारभूत सत्य की अभिव्यक्ति है जिसने माता के हृदय में एक स्थायी वात्सल्य और आत्मबलिदान के लिए उत्सुकता पैदा कर दी है। पितृत्व प्राणिशास्त्रीय नींव के ऊपर जीवनव्यापी मनोवैज्ञानिक बन्धन और पवीला सांस्कृतिक गठबन्धन खड़े करने में सहायता देता है। इसके द्वारा पारस्परिक सम्बन्ध और समाज के सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं। जब तक प्राणिशास्त्रीय आवश्यकताओं के क्षीण होने का समय आता है तब तक सन्तान के प्रति अनुराग बढ़ चुका होता है और पितृवात्सल्य के द्वारा हम संसार का ज्ञान और आन्तरिक अनुभव प्राप्त करते हैं। सन्तान माता-पिता के लिए आध्यात्मिक अवलम्ब का साधन है।

लोग पुत्रजन्म की उत्सुकता से प्रतीक्षा किया करते थे और कन्या के जन्म को भला नहीं समझा जाता था। सम्भवतः इसका कारण यह था कि भौतिक शक्तियों के विरुद्ध अस्तित्व के लिए संघर्ष में पुरुष स्त्रियों की अपेक्षा अधिक उपयोगी थे। पितृप्रधान समाजों में और आदिकालीन दशाओं में पुत्र पत्नी की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से अधिक मूल्यवान था। इसका यह अर्थ नहीं है कि माता-पिता अपनी कन्याओं से कम प्रेम करते थे। उस समय भी मुसलमान लोगों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ था। सुशिक्षित कन्या परिवार के लिए अभिमान की वस्तु समझी जाती थी। ज्यों-ज्यों पूर्वजों की पूजा में लोगों की रुचि बढ़ती गई त्यों-त्यों पितरों को पिण्डदान करने का अधिकार केवल पुत्रों को ही दिया जाने लगा। कन्याओं के

१ तुलना क० [illegible] है। [illegible] और [illegible] होगा। [illegible] है। —[illegible] का कथन है।

२ [illegible] दुहितृम्—[illegible] १. ११। [illegible]
विद्वांसं [illegible] कुमारी [illegible]।

लिए उपयुक्त पति ढूंढ़ने में भी कठिनाई होती है और विवाह के बाद भी भविष्य के सम्बन्ध में दैवयोग की बात बड़ी सीमा तक बनी रहती है। कन्याओं के जीवन को सुखी बना सकने की यह कठिनाई ही पुत्रों को अधिक चाहने का कारण थी; स्त्री-जाति के प्रति अन्याय की कोई अन्य भावना नहीं।[1]

सब स्त्रियों में मातृत्व की सहजवृत्ति नहीं होती। कुछ नारियां माता की अपेक्षा पत्नियां अधिक अच्छी होती हैं। ये दोनों बिलकुल अलग-अलग प्रकार हैं। कुछ ऐसी स्त्रियां हैं जो मातृत्व न चाहते हुए यौन जीवन पसन्द करती हैं और कुछ स्त्रियां ऐसी होती हैं जिनमें यौन इच्छा बहुत कम होती है या बिलकुल नहीं होती परन्तु जो माता बनना चाहती हैं। विवाह की संस्था में इन दोनों प्रवृत्तियों का मेल बिठाने का यत्न किया गया है।

मित्रता

पुरुष और स्त्रियां कोई बहुत उत्कृष्ट प्राणी नहीं हैं। और न विवाह का उद्देश्य केवल सन्तानोत्पादन ही है। प्रेम कोई भिक्षा मांगनेवाली भावना नहीं है जिसमें स्त्री-पुरुष प्राणिशास्त्रीय स्तर पर एक-दूसरे में अपने-आपको भुला बैठें और न मानव प्राणी केवल जाति को जीवित बनाए रखने के उपकरणमात्र हैं। प्राणिशास्त्रीय पहलू से भिन्न एक साहचर्य की आवश्यकता है जिसे विवाह पूर्ण करता है। मनुष्य में सचेतनता को विचारों के आदान-प्रदान की बौद्धिक आनन्द में हिस्सा बटाने की और सुकुमारता की संक्षेप में अनुभव की पूर्णता की लालसा होती है। हम बिलकुल अकेले नहीं जी सकते। हमें मित्र चाहिए परन्तु यदि हम अपने गम्भीर तम विचारों का आदान-प्रदान न कर सकें तो वह मित्रता थोथी है। यदि हमें कोई ऐसा मित्र मिल सके जिसपर हम पूर्ण विश्वास कर सकें और जिसके साथ हम अपने अन्तरतम विचारों और अनुभूतियों को बटा सकें तो उससे हमारा व्यक्तित्व और गम्भीर हो जाता है। दूसरी ओर यदि हम दूसरे लोगों के साथ केवल अपने व्यक्तित्व के बन्धन से मुक्ति पाने के लिए सम्बन्ध स्थापित करें तो वह आत्म विनाश का ही एक रूप है जो उकताहट से मुक्ति पाना-मात्र है। हम अपने कैवल्य जीवन को एक संदिग्ध सीमाहीनत्व जीवन के लिए त्याग देते हैं। रेनर मेरिया रिल्के के शब्दों में प्रेम इस बात में है कि दो अकेलेपन एक-दूसरे की रक्षा करते हैं एक-दूसरे को स्पर्श करते हैं और एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं। जब उमर खैयाम पुकारकर कहता है

> बनी सिर पर तरुवर की डाल हरी पैरों के नीचे घास
> बगल में मधु मदिरा का पात्र सामने रोटी के दो ग्रास

[1] पुत्रेभि यान्ता मन्त्रीव जिन्न वर्मी प्रवेशेसि न्याम् मिर्को
दम्पा सुख सम्पति वा न देति कन्याभिरुप बन्धु नाम कथम्।—ऋग्वेद मंडल १

सरस कविता की पुस्तक हाथ और उसके ऊपर तुम प्राण
या रही छेड़ सुरीली तान मुझे अब मरु नन्दन उद्यान।

तब उसका अभिप्राय यही है कि वह तब तक भी नहीं सकता या जीवन का आनन्द नहीं ले सकता जब तक कि उसकी प्रियतमा उसके पास न हो। यह है सच्चा साहचर्य। होंठो पर का गीत पूर्णता सत्य निष्ठा और प्रेमपूर्ण देखभाल का सूचक है। ये वे वस्तुए हैं जिन्हें हम प्राप्त करने का यत्न तो बहुत करते हैं परन्तु प्राप्त कम ही कर पाते हैं। मित्रता यौन आकर्षण से भिन्न वस्तु है। पुरुषो के लिए स्त्रियो के और स्त्रियों के लिए पुरुषो के बुद्धिमत्तापूर्ण और सहानुभूतिपूर्ण मेल जोल का निषेध नहीं किया जा सकता। क्योंकि इस प्रकार का मेलजोल पूर्णतया अपार्थिव स्तर पर नहीं हो सकता इसलिए पत्नियों से ही यह आशा की जाती है कि वे मित्र भी हों कहा गया है कि 'पत्नी का मन पति के साथ एक होना चाहिए वह उसकी छाया के समान होनी चाहिए और सब अच्छे कामो मे उसकी सहचारिणी होनी चाहिए उसे सदा प्रसन्न रहना चाहिए और घर के काम-काज का ध्यान रखना चाहिए।'[1] ऋग्वेद की विवाहित नारी अपने पति की साथिन (सखी) है और उसकी रुचियां पति की रुचियों के समान हैं। जिसे मनोवैज्ञानिक पूरकता अथवा स्वभावो की समानता कहा जाता है उसके फलस्वरूप विचारो और अनुभूतियो की समानता उत्पन्न होती है और बढ़ती है। बौद्धिक और सुरुचिपूर्ण साहचर्य की अनुभूति जीवन-मूल्यो के ज्ञान मे समानता सफल विवाह के लिए एक आशाप्रद प्रस्थान भूमि प्रस्तुत करती हैं। विचारो और महत्त्वाकांक्षाओ की एकता से भी बढ़कर कष्टो में हिस्सा बटाना मानवी सहानुभूति की आधारशिला का काम करता है। विवाह का उद्देश्य यह नहीं है कि समरूप व्यक्ति तैयार कर दिए जाए। पति-पत्नी मे अन्तर तो रहेगा ही जैसे सबसे बड़ा अन्तर तो लिंग का ही है परन्तु दोनो मे अन्तर या मतभेद बहुत अधिक नहीं होने चाहिए। यदि दोनों मे से एक डरपोक और दूसरा क्रोधी है एक मे सूझबूझ नाम को नहीं है और दूसरा बहुत साहसी है तो विवाह सफल सिद्ध न होगा। दोनों एक-दूसरे के पूरक होने चाहिए, जिससे एक-दूसरे को आत्म-अनुसन्धान मे सहायता दे सकें और दोनो वास्तविक व्यक्ति के रूप मे विकसित हो सकें और दोनो मे एक समस्वरता स्थापित हो जाए। विवाह-सम्बन्ध का उद्देश्य यह है कि उससे जीवन और मन दोनो के बल मिले। जहा नारी अपेक्षाकृत उन गतिविधियों मे अधिक रमती रहती है जो प्रकृति ने उसे सौंपी हैं वहा मनुष्य मानसिक सृजन मे अधिक व्यस्त रहता है। कठोर श्रम करना सेवा करना और परिवार का पालन-पोषण करना राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण सेवा है। यदि स्त्री उन गतिविधियों मे भाग लेने लगती है

१ दार्वैशमुनस्य रस्का मर्का दिनर्मन्तु
तथा मदुस्या मत्वं न्यवर्मनु दक्षम्।

या आतिरता के कार्य में बाधक होती है तो वह अपने स्वभाव के विरुद्ध कार्य कर रही होती है। स्त्री आनन्द देनेवाली और गतिविधि को प्रेरणा देनेवाली है और यदि वह पुरुष की नकल करने लगे तो वह अपना काम भली भांति सम्पन्न नहीं कर सकती। आधुनिक नारी अपने सन्तान-उत्पादन और घर की सम्भाल के कार्य से असन्तुष्ट है और वह अपने आपको किसी उच्चतर गतिविधि में लगा देना चाहती है। यह ठीक है कि हम स्त्रियों को शिक्षा और नियोजन की सुविधाएं देनी चाहिए, फिर भी स्त्री का मुख्य काम मातृत्व और घर को सम्भालना ही होगा।

यदि विवाह की संस्था इस आवश्यक मित्रता-सम्बन्ध को प्रदान करने में असमर्थ रहती है तो उसके लिए दूसरे साधन ढूंढ़ लिए जाते हैं। एथेन्स के चरम उत्कर्ष के दिनों में पैरीक्लीज के यहां एक मिलेशियन स्त्री ऐस्पैसिया रखैल के रूप में रहती थी। डिमोस्थनीज ने खुले न्यायालय में कहा था कि "प्रत्येक पुरुष के पास अपनी पत्नी के अतिरिक्त कम से कम दो रखैलें होनी चाहिए।

प्रेम

प्राणिशास्त्रीय जातीय और मानवीय तत्त्व ही वे आधार हैं जिनके ऊपर हम आत्मा के सृजनशील जीवन के सुन्दर मन्दिर का निर्माण करना चाहते हैं। यौन आनन्द जातियों का वंशक्रम बनाए रखने या साहचर्य की अपेक्षा प्रेम कुछ अधिक वस्तु है। यह एक व्यक्तिगत मामला है जिसमें पाशविक आवश्यकताओं की तृप्ति या परिवार की स्थापना या स्वार्थपूर्ण आनन्द की अपेक्षा कुछ और घनिष्ठ बन्धन पाए जाते हैं। प्रेम के द्वारा हम एक आध्यात्मिक वास्तविकता का सृजन करते हैं और व्यक्तियों के रूप में अपनी सम्भाव्यता का विकास करते हैं और शारीरिक आनन्द के द्वारा मन की प्रसन्नता और आत्मिक आनन्द का विकास करते हैं। हृदय के तूफान प्रेम के द्वारा आत्मा की शान्ति तक पहुंच जाते हैं। प्रेम केवल ज्वाला का ज्वाला से मिलन नहीं है अपितु आत्मा की पुकार है।

मानव-जीवन के सुनिर्दिष्ट क्षेत्र में समानता बहुमूल्य वस्तु है। इसमें सन्देह नहीं कि विवाह के विषय में नियम समान होने चाहिए। परन्तु कोई न कोई बिन्दु ऐसा आ जाता है जहां पहुंचकर हम न केवल असमानता को स्वीकार कर लेते हैं अपितु उसमें आनन्द भी अनुभव करते हैं। सच्चे प्रेम में सम्पूर्ण आत्मसमर्पण का वह भाव होता है जो प्रेम को सफल बना सकता है। विशुद्ध प्रेम प्रतिदान में कुछ नहीं चाहता। यह बिना किसी प्रतिबन्ध या दुराव के बाहर निकल पड़ता है। यह भारी कामों को भी हल्का बना देता है यह बड़े से बड़े बोझ को बिना भार अनुभव किए ढो सकता है। यह कभी थकता नहीं। किसी कार्य को असम्भव नहीं समझता

मुहुर्त्त च सस्तुतं च सरावस्त्रमेव च
स्त्रीपुंसा जानिमि मोक्तु कर्मनिर्णयदर्शिमि ।

और सब कष्टों का सामना करने के लिए तैयार रहता है। ऐसा प्रेम शाश्वत होता है। यह हमारी आत्मा की गहराइयों में विद्यमान रहता है। यह एक न बुझ सकने वाली पवित्र ज्वाला है जिसे हम अपने जीवन के अन्त तक बनाए रख सकते हैं। इस प्रकार के प्रेम का निम्न पाशविक स्वार्थपूर्ण उग्र या तुच्छ मानवीय लालसाओं या भगुर, ऊपरी और बहानेवाली भावनाओं से कोई मेल नहीं है। यह तो वह शक्ति है जो स्वर्ग से पृथ्वी पर इसलिए भेजी गई है कि पृथ्वी को फिर स्वर्ग तक वापस ले जा सके। शरीर के साथ-साथ मन और आत्मा का ऐसा संयोग अमर होता है। यह पवित्रतम सम्बन्ध है जो हमें आन्तरिक दृष्टि से पूर्ण और सन्तुष्ट बनाता है। प्रेम ही एक वस्तु है जिसे मनुष्य अपना कह सकता है। जीवन की एक यही निधि है क्योंकि जीवन की और सब वस्तुएं समाज की साझी बना दी गई हैं। भले ही इसके कष्ट कितने ही कठोर क्यों न हों और इसकी त्रुटियां कितनी ही शोचनीय क्यों न हों यह जीवन का सर्वोच्च वरदान है।

हममें से अधिकांश के लिए विवाह केवल दाम्पत्य सन्तानोत्पादन के लिए एक-दूसरे को सहन करने का संकल्प एवं आदान प्रदान के सिद्धान्त पर साथ रहने का निश्चय-मात्र होता है। परन्तु कभी-कभी कोई पुरुष या कोई स्त्री ऐसे आ मिलते हैं जिनके जीवन एक-दूसरे से पूरी तरह मेल खाते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति सदा के लिए साथ रहने लगते हैं। सच्चा प्रेम आत्मा और शरीर का मिलन है इतना घनिष्ठ और इतनी दृढ़ता से स्थापित कि ऐसा अनुभव होने लगता है कि यह आजीवन बना रहेगा। यह इतना गहरा और बांधनेवाला अपनी सुकुमारता से हृदय को जकड़ लेनेवाला और अपने आवेग की तीव्रता से जीवन का रूपान्तर कर देनेवाला सम्बन्ध है कि इसी प्रकार का दूसरा सम्बन्ध बनाने की कल्पना भी अपवित्र मालूम होती है। सावित्री से उसके पिता ने दूसरा पति चुनने के लिए कहा था क्योंकि जो पति उसने चुना था उसके भाग्य में जल्दी मर जाना लिखा था। इसपर सावित्री ने उत्तर दिया था "चाहे वह दीर्घायु हो अथवा अल्पायु चाहे उसमें गुण हों या वह गुणहीन हो परन्तु मैंने एक बार पति चुन लिया है अब मैं दूसरा पति कदापि नहीं चुनूंगी।"[1] हनुमान जब सीता से जो कहा जाता है कि वस्तुतः देवमाया थी और राक्षस-माया को पराजित करने के लिए अवतरित हुई थी[2] मिलकर आया तब उसने राम को बताया कि वह लंका में बहुत कष्ट पा रही है और जब मैं उससे मिला तो वह मरने का निश्चय किए बैठी थी।[3] और फिर भी राम ने रावण पर विजय पाने के बाद जब सीता को देखा था आनन्द और प्रेम के

---

१ दीर्घायुरथवाल्पायु सगुणो निर्गुणोपि वा
सकृद्वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्।

२ अवतीर्णा गुणे साक्षात् देवमायेव निर्मिता।—रामायण बालकाण्ड १-२५

३ मर्तव्येति कृतनिश्चया।—सुन्दरकाण्ड ४१।

साथ-साथ लज्जा से भरी हुई थी, तो उसे बताया कि मैंने तुम्हारे प्रेम के कारण यह युद्ध करके विजय नहीं पाई है, अपितु अपने और अपने वंश के यश की रक्षा करने के लिए यह युद्ध किया है।[1] "मैं तुम्हें फिर ग्रहण नहीं करना चाहता। तुम लक्ष्मण, भरत, सुग्रीव या विभीषण, जिस भी चाहो उसके साथ चली जाओ।"[2] कुछ लोगों का कहना है कि ये भावातिरेकपूर्ण श्लोक बाद में मिलाए गए प्रक्षिप्त अंश हैं। परन्तु इन श्लोकों से यह बात ध्वनित होती है कि हममें से अच्छे से अच्छे पुरुष प्रेम और कष्ट सहन करने के मामले में बड़ी-बड़ी भूलें करनेवाले नौसिखिए हैं, जबकि स्त्रियां इन मामलों में श्रेष्ठ कलाकार हैं। जब सीता को उसके पति ने त्याग दिया तो कालिदास के अनुसार, वह कहती है कि "पुत्र का जन्म होने के बाद मैं सूर्य की ओर दृष्टि लगाकर तपस्या करूंगी, जिससे अगले जन्म में भी तुम ही मेरे पति बनो और तुमसे मेरा वियोग न हो।"[3] वे स्त्रियां महानतम प्रमिकाएं हैं, जो प्रतिदान में प्रेम पाने की भी आवश्यकता नहीं समझतीं और जो उन्हें त्याग जानेवाले पुरुष से यह कहती हैं कि "मेरा प्रेम इस बात पर निर्भर नहीं है कि तुम मेरे साथ कैसा बर्ताव करते हो।" क्या स्पिनोज़ा ने हमें यह नहीं बताया है कि परमात्मा से बिना किसी प्रतिफल के आशा किए प्रेम करना उच्चतम और विशुद्धतम प्रेम है? परन्तु सामान्य मनुष्यों के लिए प्रेम दोनों पक्षों की ओर से होना चाहिए।

प्रेम ऐसी वस्तु नहीं है, जिसपर हमारा वश हो। दो व्यक्तियों के बीच का यह सम्बन्ध एकान्तिक होता है और उनके बीच में कोई तीसरा व्यक्ति स्थान नहीं पा सकता। अविश्वास व्यक्ति की प्रकृति को नष्ट कर देता है, क्योंकि मनुष्य के व्यक्तित्व को जो पूर्णता प्राप्त हुई होती है, वह अविश्वास से समाप्त हो जाती है। विवाह का यह पहलू संस्कृति का विषय है। ऐसी अनेक जातियां हैं, जहां अपरिचित अतिथि को अपनी पत्नी प्रस्तुत करना आतिथ्य का चिह्न समझा जाता है और जहां परिवार की आय बढ़ाने के लिए पत्नी का काम करना वैध समझा जाता है। परन्तु अधिकांश पति अपनी पत्नियों के बारे में दूसरों के साथ हिस्सा बटाने को अनिच्छुक होते हैं और विकसित संस्कृतियां एक विवाह के आदर्श को बढ़ावा देती हैं।

विवाह यद्यपि एकमात्र नहीं परन्तु, एक सरल उपाय है, जिसके द्वारा हम एक उच्चतर समोम बनाने के लिए अपनी स्वाभाविक सहजवृत्तियों को आत्मा में

---

१ युद्धकाण्ड ११८-१५, १६

२ लक्ष्मणे वाथ भरते वा कुरु बुद्धिं यथासुखम्
सुग्रीवे वानरेन्द्रे वा राक्षसेन्द्रे विभीषणे
निवेशय मनः सीते यथा वा सुखमात्मनः ।—युद्धकाण्ड ११८-२०-२१

३ साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ।—रघु० १४-६६

क्षीण कर सकते हैं। विवाह का उद्देश्य प्रेम के द्वारा जोकि एक स्थायी गठबन्धन है मानवीय पूर्णता और व्यक्तित्व का विकास करना है। हम विवाहित जीवन प्राकृतिक वासना को पूरा करने के लिए नहीं अपनाते अपितु आत्मा के लिए, आत्मवस्तु कामाय आत्मिक सम्पत्ति को बढ़ाने के लिए, सृष्टि की समृद्धि के लिए। प्रेम की भावना के कारण हमारे उत्सुक चित्त अनुभवों को नये उत्साह के साथ ग्रहण करते हैं सभी इन्द्रियाँ तीव्रतर आनन्द से पुलकित होती हैं मानो किसी अदृश्य आत्मा ने संसार के सब रंगों को नया कर दिया हो और प्रत्येक जीवित वस्तु में नव जीवन भर दिया हो। प्रेम को इन्द्रियों से पृथक कर पाना उसे शरीर का बहुत दास न बनाए रखना सम्भव है जिससे कि आत्मा हमारे अन्दर विद्यमान पशु को अपने वश में किए रहे। हम किसी पुरुष या स्त्री से प्रेम नहीं करते अपितु उसके अन्दर निहित व्यक्ति से प्रेम करते हैं पद सम्पत्ति नौकरी या सुन्दरता योग्यता या सामित्य से प्रेम नहीं करते अपितु इनके पीछे छिपे व्यक्ति से प्रेम करते हैं। विवाह दो स्वतन्त्र और समान व्यक्तियों का सम्मिलन है जो पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा उस आत्म विकास को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे होते हैं, जिसे अकेले रहकर उन दोनों में से कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता था। मित्रानुरूप अवश्य होता है और हम उसके अन्दर यथासम्भव गहराई तक पठना चाहिए। स्पिनोजा का कथन है कि 'हम अलग-अलग व्यष्टि वस्तुओं को जितना अधिक समझ पाते हैं उतना ही अधिक हम परमात्मा को समझ पाने में समर्थ होते हैं। यदि किसी मनुष्य ने इस संसार में परमात्मा के बनाए किसी प्राणी को भली भाँति प्यार नहीं किया तो वह परमात्मा से भी प्रेम नहीं कर सकता। एक मानव प्राणी के दूसरे मानव-प्राणी के प्रति प्रेम से बढ़कर आनन्द का सुनिश्चित और सच्चा साधन दूसरा कोई नहीं है। इसके द्वारा हम पहले की अपेक्षा अधिक ज्ञानी अधिक अनुभवी और अधिक उत्कृष्ट बनते हैं। अपनी क्षुधा और असहायता के कारण हृदय यह अनुभव करता है कि चाहे जैसे भी हो उसे प्रेम करना ही चाहिए। इससे कम से कम उसे यह तो अनुभव हो जाएगा कि उसका अस्तित्व व्यर्थ नहीं है। स्वर्ग का रास्ता कष्टों से भरे हुए और आनुषा से तर भौतिक प्रेम में से होकर ही है।

कहा जाता है कि भगवान ने अपने-आपको पति और पत्नी के दो रूपों में विभक्त कर दिया। पुरुष अपनी स्त्री के बिना पूर्ण नहीं है। पति और पत्नी दोनों मिलकर एक पूर्ण वस्तु बनते हैं। पत्नी अर्धांगिनी आधा अंग है। भारत में बहुत से प्रदेशों में महादेव और पार्वती का एक ही शरीर में अंकन किया गया है। प्रेम के लिए दो मूलतः भिन्न एकाकी व्यक्तियों के शारीरिक सद्भाव बौद्धिक सम्बन्ध और आत्मिक समझ द्वारा मिलकर एक हो जाने की आवश्यकता होती है। पुरुष और स्त्री केवल एक शरीर ही नहीं अपितु एक आत्मा हैं। यह बात नहीं कि उनकी

१ स एकाकी न रेमे [illegible] —बृहदारण्यक उप० १ [illegible]

रुचियां और दृष्टिकोण ठीक एक जैसे हों अपितु वे एक-दूसरे के अनुकूल समस्वर होते हैं। क्योंकि इसमें धार्मिक सत्य के अन्दर अनुभवजन्य तत्त्व रहता है इसलिए विवाह को धार्मिक कहा जाता है। हमारा लक्ष्य ऐसे दो व्यक्तियों का सम्मिलन होता है जो एक-दूसरे से प्रेम करते हैं। उनकी इच्छाएं पूर्ण हो चुकी होती हैं (आप्तकाम) और इसलिए उन्हें कोई इच्छा शेष नहीं रहती (अकाम)। यह गम्भीर और सुकुमार सयोग पथभ्रष्टता के विरुद्ध सर्वोत्तम बचाव है। जब हम ऐसे व्यक्ति के साथ होते हैं जिसे हम बहुत प्रेम करते हैं तो हम सन्तुष्ट होते हैं और यह प्रश्न नहीं उठता कि हम किसलिए जी रहे हैं और हमारा जन्म किसलिए हुआ है। हम जानते हैं कि हम प्रेम और मित्रता के लिए पैदा हुए हैं।

विवाह और प्रेम

कुछ विवाह ऐसे भी होते हैं जो प्राणिशास्त्रीय स्तर पर ही रह जाते हैं। वे प्रेम के उदाहरण नहीं अपितु यौन-उपभोग और पाशविक इच्छा के उदाहरण हैं जो आवेशपूर्ण और स्वार्थपूर्ण होती है। इन मामलों में एक साथी की मृत्यु का अर्थ "एक आदत के छूट जाने का दुःख अधिक होता है और एक व्यक्ति के छूट जाने का दुःख कम।" यदि विवाह को केवल कर्तव्य और सुविधा की वस्तु माना जाए तो यह एक सीमित प्रयोजनवाली उपयोगितावादी संस्था बन जाती है।[1] यह स्वाभाविकता मनुष्य पर कुछ प्रतिबन्ध लाद देती है जो प्रतिबन्ध के रूप में अनुभव होता रहता है, क्योंकि प्रेम तो पैदा होता नहीं। वे विवाह भी जो माता-पिता की इच्छा से किए जाते हैं, बहुत बार समृद्धतर और गम्भीरतर वस्तु के रूप में विकसित हो सकते हैं। प्रेमपूर्ण सम्मिलन का आनन्द वहां विकसित हो सकता है। किसीकी पत्नी होना एक संयोगमात्र है किन्तु प्रेम करना वास्तविकता है।

एक ऐसा भी दृष्टिकोण है जो यह मानता है कि विवाह की संस्था की प्रकृति में ही कुछ बाधक तत्त्व विद्यमान है। हम मृगतृष्णा के पीछे भटकते प्रतीत होते हैं।

---

१ ऐच जी वैल्स ने लिखा है : 'विवाह की परिभाषा एक मूर्खतापूर्ण सौदे के रूप में की गई है, जिसमें एक पुरुष दूसरे पुरुष की कन्या के भरण-पोषण का प्रबन्ध करता है। परन्तु इस बात के लिए कोई कारण नहीं कि यह भरण-पोषण इतनी दूर तक क्यों जाए कि उस कन्या की शिक्षा पूरी करना भी सम्मिलित कर लिया जाए।'

२ उन्नीसवीं शताब्दी के [illegible] काल के कलाकारों का विश्वास था कि विवाहित प्रेम उबानेवाली वस्तु है। [illegible] ने इस प्रवृत्ति का [illegible] सिर थोपा है : "प्रेम की कितना उबानेवाला नाम है—जबकि विवाह के लिए उपयुक्त है। विवाह के दो वर्षों में मेरी सब अनुभूतियां नष्ट हो गई हैं। और कदाचित् [illegible] से [illegible] हुआ न होता कोई [illegible] [illegible] (दोषी के माथे थोपने का [illegible]) से कोई [illegible] प्रायश्चित्त करने से और कोई [illegible] से [illegible] न होगा, जितना मैं विवाहित होने से कष्ट पा रहा हूं। भगवान ही 'कष्ट' शब्द को तो कोई गुप्त अभिप्राय लगा हुआ है।" "पत्नी होना [illegible] है।"

निषिद्ध वस्तु हमें आकर्षित करती है और अतृप्त प्रेम बहुत कुछ मानवीय असुख सम्भाव्य अप्रमाणित,विक्षोभ पश्चात्ताप और विद्रोह का कारण है। उपन्यास और चित्रपट जीवन के वासनात्मक पहलू का अतिरंजन करते हैं और यह समझा जाता कि वे हम मानसिक घबराहट से छुटकारा दिलाते हैं। अधीन यौन सम्बन्ध सम्य लोगो का मुख्य धन्धा प्रतीत होते हैं।

कभी-कभी गम्भीर प्रेम और विस्फोटक वासना मे भ्रम हो जाता है। हम समझते हैं कि जब हमे कोई आवेशपूर्ण अनुभव हो रहा हो कुछ चक्कर-सा आ रहा हो बिना चेतना के और बिना इच्छा के मन पर कुछ बादल सा छाया हो तो हम अधिक पूर्णता और तीव्रता के साथ जी रहे होते हैं। यह वस्तु एक रूपान्तर कारी शक्ति समझी जाती है। कुछ ऐसी वस्तु, जो आनन्द और कष्ट के ऊपर है एक आवेश भरा ज्वार, एक उत्तेजनापूर्ण जीवन जो सब रूढ़ियो को और सब कानूनो को एक स्वाभाविक और दिव्य वस्तु के नाम पर तोड़ डालता है। इस प्रकार के सम्बन्धो मे कुछ घु कामुकता रहती है जो जलानेवाली अधिक और सहायक कम होती है। जब हम वासना की शक्ति के अधीन होते हैं तो हम अपने आपमे नही होते। वासना मनुष्य का अपने हृदय मे ही बैठा हुआ शत्रु है जिससे उसे संघर्ष करना है। यह एक दूषित अतिरेक है प्रकृति की एक ऐसी शक्ति जो प्रेमियो को जकड़ लेती है और सामान्यतया उनका विनाश करके ही समाप्त होती है। प्रेम कोई दौरा नही है, यह तो अपने प्रियतम के प्रति गम्भीर आत्मसमर्पण और उसके साथ एकात्मीकरण है। हम परमोच्च वस्तु की तुच्छ वस्तु से समता नही करनी चाहिए। वासनात्मक प्रेम की उत्तेजनाओ का गम्भीर प्रेम के साथ भ्रम नही करना चाहिए।

प्लेटो ने अपने 'फीड्रस और दि सिम्पोजियम' मे एक ऐसे उन्माद का उल्लेख किया है जो शरीर से फैलता हुआ शारीरिक मनोविनोदों से आत्मा तक को आक्रान्त कर लेता है। इस प्रकार के प्रेम को वह प्रशंसनीय नहीं मानता। परन्तु एक और प्रकार का उन्माद या प्रलाप है जो मनुष्य की आत्मा मे बिना स्वर्ग की प्रेरणा के उत्पन्न नही होता। यह हमारे लिए बिलकुल नई वस्तु है। इसका जादू हमपर बाहर से आ जाता है। यह एक प्रकार का उत्तारण है, एक ऐसा अतीव आनन्द जो तर्क और स्वाभाविक इन्द्रियो से परे है। इसे समुत्साह (ऐन्थूजियाज़्म) कहा जाता है जिसका वस्तुत अर्थ है 'परमात्मा द्वारा आविष्ट' क्योकि यह उन्माद न केवल स्वर्ग से आया होता है अपितु इसका अन्त भी सर्वोच्च स्थिति मे पहुंचकर दिव्यता की एक नई प्राप्ति मे होता है। यह पावनतम और सर्वोच्च मानसिक स्वस्थता होना ही है।

जहाँ तक मुझे मालूम है रात में कोई काम नहीं है परन्तु वह उन्नत होता है और ... को नाश। है। —रिजोल्यूशन ... १ १ २ १

आदर्श नारी उस प्रेम की प्रतीक है जो हमें खींचकर उच्चतम स्थिति की ओर ले जाता है। हमें स्त्री को केवल आनन्द का साधन नहीं समझना चाहिए। यह सच है कि वह नारी है वह सहायता करनेवाली भी है परन्तु सबसे पहले और सबसे महत्त्वपूर्ण वह एक मानव-प्राणी है। उसके साथ पवित्रता और रहस्य जुड़ा हुआ है। उसके साथ उसे धन-सम्पत्ति या नौकरानी या घर की देखभाल करने वाली गृहिणी समझकर ही व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए। उसमें भी आत्मा है और सामान्यतया वह पुरुष के वास्तविकता तक पहुंचने के लिए एक सेतु का काम करती है। यदि हम उसे केवल गृहिणी या माता बना देते हैं और उसका स्तर घटाकर उसे सामान्य बातों की सेवाओं में लगा देते हैं तो उसका सर्वोत्तम अंश अभिव्यक्त नहीं हो पाता। पुरुष की भांति प्रत्येक स्त्री को भी अपनी आवेग की आग को हृदय के उत्ताप को और आत्मा की ज्वाला को विकसित करने का अवसर मिलना चाहिए। रवि बाबू की चित्रा कहती है "मैं चित्रा हूं। न तो मैं देवी हूं जिसकी कि पूजा की जाए और न मैं कोई दया की पात्र हूं जिसे चींटी की भांति उपेक्षा से हटाकर प्रसन्न कर दिया जाए। यदि तुम संकट और साहस के मार्ग में मुझे अपने साथ रखोगे और अपने जीवन के महान कर्तव्यों में मुझे हिस्सा बटाने दोगे तब तुम मेरे वास्तविक रूप को समझ पाओगे। विवाह की संस्था को इस बात को मानकर चलना चाहिए। सुखी प्रेम का कोई इतिहास नहीं होता। हम प्रेम के विषय में तभी चर्चा करते हैं जबकि वह असामान्यग्रस्त हो और जीवन द्वारा अभिशप्त हो।

एक कुछ ऐसी अस्पष्ट-सी धारणा चली आ रही है कि विवाह और प्रेम परस्पर बेमेल हैं। कभी-कभी कहा जाता है "विवाहित मनुष्य प्रेम के विषय में जानता ही क्या है? वे एक-दूसरे को इतना अधिक चाहते हैं कि उनका विवाह हो ही नहीं सकता था। विवाह प्रेम की कब्र नहीं है अपितु जैसाकि कोचे का कथन है वह केवल बर्बर प्रेम या काम-वासना की कब्र है। जब लक्ष्य पूर्ण हो जाता है तब प्रेम और विवाह दोनों साथ विद्यमान रहते हैं परन्तु यह मार्ग बहुत लम्बा और कठिन है। प्रेम विवाह-सम्बन्ध का प्रारम्भ-बिन्दु नहीं है अपितु एक उपलब्धि है जिसे प्रबल और धीरता द्वारा प्राप्त किया जाता है। विवाहित जीवन में असफल

१ काउंटेस ऑफ शैम्पेन के घर में प्रेम के न्यायालय द्वारा सुनाए गए एक प्रसिद्ध निर्णय में यह कहा गया है, हम इस बात को घोषित और पुष्ट करते हैं कि इन शब्दों के सर्वोत्तम की दृष्टि से प्रेम अपने अधिकारों का विस्तार दो विवाहित व्यक्तियों के ऊपर नहीं कर सकता। क्योंकि प्रेमी एक दूसरे को अपनी सब वस्तुएं स्वतन्त्रतापूर्वक देते और लेते हैं चाहे उनकी आवश्यकता हो या नहीं जबकि पति और पत्नी का यह कर्तव्य होता है कि वे एक दूसरे की इच्छा के आगे सिर झुकाएं और एक-दूसरे को किसी बात से इन्कार न करें। ११७४ के वर्ष में मई के तीसरे दिन सुनाया गया फैसला ७। देखिए डि रूजमेण्ट द्वारा 'पैशन एण्ड सोसायटी' में अनूदित अंग्रेजी अनुवाद (१९४०), पृष्ठ ४९

ताए उन लोगों में अधिक होती हैं जो प्रारम्भ ही एक मिथ्या आदर्श से करते हैं और यह आदर्श प्रारम्भिक प्रेम और उमंगपूर्ण आनन्द पर आधारित रहता है। जब विवाह की नवीनता समाप्त होने लगती है नये अनुभवों की उत्तेजना और भावना-प्रधान स्वप्नों का स्थान जीवन की नीरसता और नित्य की दिनचर्या ले लेती है तब भावुक प्रेमी अभ्यासगत पति के रूप में विलीन हो जाता है और असयत उल्लास घरेलू सन्तुष्टि के रूप में शान्त हो जाता है। विवाह गुलाबों और स्वप्नों का अन्तहीन दौर नहीं है यह तो शान्त आनन्द के लिए तैयारी है। आनन्द क्षणिक होता है और काम तथा देश की दुर्घटनाओं का इसपर प्रभाव पड़ता है। जीवन में जो सब नश्वर वस्तुओं की प्रतीक्षा में खड़ी है शरीर के सौन्दर्य और वासना की आग को नष्ट देने की शक्ति है किन्तु वह उस प्रगाढ़ आनन्द को नष्ट नहीं कर सकती जो संयम का पुरस्कार है। हमारी वांछित वस्तु शरीर नहीं है जो वास्तविक पूर्ण जीवन का एक भ्रामक और क्षणिक पहलू है। विवाहित युगल की पारस्परिक निष्ठा है अपने साथी प्राणी को अंगीकार करना दूसरे को उसकी सब विशेषताओं (गुण-दोषों) के साथ अपनाने की इच्छा। कुछ वर्षों के बाद प्रारम्भिक उमंगों और असंयत उत्तेजना का स्थान विश्वासपूर्ण साहचर्य कार्य और रुचियों में हिस्सा बांटना सहिष्णुता और समझौता ले लेते हैं। विवाह में आनन्द प्राप्त करने के लिए उदारतापूर्ण आत्मत्याग अन्तहीन सहिष्णुता और नम्रता तथा हृदय की विनम्रता की आवश्यकता होगी है।

यह विचार ही कि विवाह से एक व्यक्ति को दूसरे पर स्वामित्व का अधिकार प्राप्त हो जाता है सच्चे प्रेम के विकास का विरोधी है। सुरक्षितता की भावना ही आवेग को न्यून कर देती है। आरत अनुभूतियों को निर्जीव कर देती है मनो वेगों को मार डालती है और आत्मा को तृप्ति और हानि दोनों के प्रति समान रूप से अन्धा कर देती है।

हमारा लक्ष्य निष्ठाशील एकविवाही विवाह का आदर्श होना चाहिए यद्यपि इस लक्ष्य तक पहुंच पाना कठिन है। संसार की महान प्रेमकथाएं निष्ठाशील प्रेम की ही कथाएं हैं। कष्टों और वेदनाओं में भी निष्ठा को बनाए रखना ही वह वस्तु है जिसने संसार को द्रवित कर दिया है और उसकी श्रद्धांजलि प्राप्त की है। संसार के महानतम विचारकों में से एक ने कहा है "सच्चे प्रेम का मार्ग कभी सुगम नहीं रहा" यदि हम सौभाग्यशाली हों तो सुमबोध से इस मार्ग पर चल सकें। विवाह एक कला है जिसमें कष्ट और आनन्द, दोनों ही होते हैं। विवाह

१ तच्चेने अत्वगुणे स्तिता अपि मे वर्ष
स म्य यदि आर रामु स्तम श्रम अत्रिम।

तात्पर्य समाज के लोगों का विश्वास है कि परमात्मा के प्रति ऐसे ही प्रेम की अनुभूति मनुष्य को होनी चाहिए यह केवल पुरुष और निष्ठ प्रेम में ही सम्भव है।

से जीवन की कठिनाइयों का अन्त नहीं अपितु आरम्भ होता है। विवाह को सफल बनाने के लिए पति-पत्नी दोनों के प्रयत्न की अपेक्षा है परन्तु उसे विफल बनाने के लिए दोनों में से कोई भी एक काफी है। यह एक ऐसी साझेदारी है, जिसमें धैर्य की बड़ी आवश्यकता होती है। यह कोई परीक्षण नहीं है, अपितु एक गम्भीर अनुभव है जो यद्यपि शुरू में बहुत सुकुमार और भगुर होता है परन्तु वेदनाओं और कष्ट में बढ़ता ही जाता है। द्रौपदी सत्यभामा से कहती है कि 'सुख सुख से नहीं मिलता अपितु साध्वी नारी कष्टों में ही सुख का अनुभव करती है।'[1] जिस स्त्री ने विपत्तियां नहीं सहीं वह अपूर्ण है क्योंकि कष्टों द्वारा उसका पावनीकरण नहीं हुआ। उमा ने शिव पर अपने शारीरिक सौन्दर्य द्वारा विजय नहीं पाई, अपितु तप और कष्टसहन द्वारा पाई। स्त्रियों में कष्टसहन की एक विलक्षण शक्ति होती है और यदि वे उस शक्ति के प्रति सच्ची न रहें तो वे जीवन को समृद्ध करने की अपनी एक प्रतिभा गंवा बैठती हैं। कालिदास ने अपने 'शाकुन्तल' में दिखाया है कि किस प्रकार दो प्रेमी आत्माएं कष्ट द्वारा रूप धारण करती हैं और एक दूसरे के अनुकूल बनती हैं। देवता भी विचित्र हैं। हममें जो कुछ अच्छा या मनमोचित और प्रेममय अंश है उसीके द्वारा वे हमें कष्टों में ला पटकते हैं। वे हमारे पास कष्ट इसलिए भेजते हैं कि हम महानतर बातों के लिए उपयुक्त बन सकें। शताब्दियों की परम्परा ने भारतीय नारी को सारे संसार में सबसे अधिक नि:स्वार्थ सबसे अधिक आत्मत्यागी सबसे अधिक धैर्यशील और सबसे अधिक कर्तव्यपरायण बना दिया है। उसे अपने कष्टसहन पर ही गर्व है।

विवाह अपने-आपमें कोई साध्य नहीं है। यह तो आत्म-पूर्णता प्राप्त करने का सामान्य साधन है। मानवीय सम्बन्ध हमारे जीवन का सर्वाधिक वैयक्तिक अंग है जिनमें हम अपने पूर्ण रूप में जीवित रह सकते हैं। सार्वजनिक जीवन में हमारी सत्ता के केवल कुछ ही अंग कार्य करते हैं। हमारे वैयक्तिक जीवन का जो प्रेम और साहचर्य है अपने-आपसे आगे और कोई लक्ष्य नहीं है। मानव-प्राणियों के लिए यह बिलकुल स्वाभाविक है कि वे दूसरों के अनुभवों में हिस्सा बटाएं, एक दूसरे को समझें और पारस्परिक विश्वास में आनन्द और सन्तोष अनुभव करें। इस प्रकार के सम्बन्ध किसी बाहिक या सीमित प्रयोजन को पूरा नहीं करते और न उनका अस्तित्व ही समाज के लिए होता है, अपितु समाज और कानूनों का अस्तित्व ही इन सम्बन्धों के लिए होता है। लोगों के कुछ ऐसे संगठन होते हैं जो वैयक्तिक नहीं होते उनमें व्यक्ति का स्थान इस बात से निर्धारित होता है कि वह उस समूह में क्या कार्य करता है उस विशिष्ट सेवा से जो वह उस सारे समूह के कल्याण के लिए करता है। जब हम किन्हीं साझे उद्देश्यों को पूरा करने के लिए दूसरे लोगों के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो कृत्यात्मक समूहों और सामाजिक

---

१ सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं दु:खेन साध्वी लभते सुखानि। —वनपर्व, २३३ ४

सहयोग का जन्म होता है। विघ्न न होने देने के लिए और सामने उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए हम कानून द्वारा लागू किए अथवा प्रथा द्वारा बने हुए नियमों और विनियमों की बाध्यता स्वीकार करते हैं। क्योंकि व्यक्ति समाज का सदस्य है इसलिए समाज को व्यक्तियों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार है। सुव्यवस्थित समाज में ये प्रतिबन्ध व्यक्तिगत स्वाधीनता पर बन्धन के रूप अनुभव नहीं होंगे। क्योंकि विवाहों का परिणाम समाज पर पड़ता है इस लिए विवाह करने के सम्बन्ध में सामाजिक विधान-संहिताएं बनाई गई हैं। सामाजिक कानून अपने-आपमें सामाजिक दोषों और बुराइयों के लिए कोई सार्वभौम रामबाण औषध नहीं हैं। मनुष्य के बनाए हुए कानून कभी भी अपने-आपको मानव-मन की मौज के अनुकूल नहीं ढाल सकते। परन्तु यदि ये कानून कठोर और लचकहीन होंगे तो सम्भव है कि ये व्यक्तियों के रूप में हमें नष्ट कर डालें और हमें जीवन के विकृत और अर्थहीन मार्गों का अवलम्बन करने को विवश कर दें।

हिन्दू-संस्कार

विवाह का हिन्दू आदर्श सारत एक पुरुष और एक स्त्री के बीच साहचर्य है जो जीवन के चार महान लक्ष्यों—धर्म अर्थ काम मोक्ष—की सिद्धि के लिए मिलकर सृजनशील ढंग से जीवन बिताना चाहते हैं। इसके प्रयोजन के अन्तर्गत सन्तान का प्रजनन उसकी देखभाल और पालन-पोषण और एक उत्कृष्टतर सामाजिक व्यवस्था में सहयोग देना भी है परन्तु इसका मुख्य लक्ष्य है पति और पत्नी के व्यक्तित्व को उनकी स्थायी साहचर्य की आवश्यकताओं की पूर्ति द्वारा समृद्ध करना ऐसे साहचर्य की जिसमें हरएक दूसरे के जीवन का पूरक बन सके और दोनों मिलकर पूर्णता प्राप्त कर सकें। विवाहित-युगल व्यक्तित्व में एक दूसरे की सृष्टि होते हैं। यह आदर्श वैदिक काल से चला आ रहा है और एक विशद विवाह-संस्कार के रूप में सुरक्षित रखा गया है। यह संस्कार आजकल भी प्रचलित है। विवाह-संस्कार मनोवैज्ञानिक परिपक्वता की वृद्धि के लिए, जिसमें न्याय की दूसरों को समझने की दूसरों का ध्यान रखने की और दूसरों के प्रति सहिष्णुता की भावनाएं उत्पन्न होती हैं, प्राप्त होनेवाले एक महान सुअवसर का प्रारम्भ है। इसे सरल बनाया जा सकता है क्योंकि वे महत्त्वपूर्ण विधियां जिनके द्वारा पति-पत्नी को आदर्श समझाए जाते हैं केवल थोड़ी-सी हैं।

पहला सोपान (स्टेज) है पाणिग्रहण जिसमें वर वधू का हाथ पकड़ता है और उसके साथ यथोचित मन्त्र पढ़ते हुए तीन बार अग्नि की परिक्रमा करता है। पूषन् भग और अर्यमन् को आहुतियां दी जाती हैं जो क्रमश समृद्धि सौभाग्य और वैवाहिक निष्ठा के देवता हैं। वर-वधू एक-दूसरे के हृदय का स्पर्श करते हैं

और प्रार्थना करते हैं कि भले ही उनके शरीर दो हैं पर वे मन और हृदय से एक हो सके। "तुम्हारे हृदय में कभी दुःख प्रवेश न करे। तुम अपने पति के घर जाकर फलो-फूलो। पति के दीर्घ जीवन और प्रसन्न बच्चों का सुख तुम्हें प्राप्त हो।" वे एक पत्थर पर खड़े हैं और प्रार्थना करते हैं कि उनका पारस्परिक प्रेम उस पत्थर की भांति दृढ़ और अचल हो जिसपर वे खड़े हैं। रात में उन्हें ध्रुव और अरुन्धती तारों के दर्शन कराए जाते हैं। वर से कहा जाता है कि वह ध्रुव तारे की भांति स्थिर रहे और वधू से कि वह अरुन्धती की भांति पतिव्रता रहे। 'सप्तपदी' की विधि में वर और वधू साथ-साथ सात कदम चलते हैं और प्रार्थना करते हैं कि उनका जीवन प्रेम उल्लास शुभ अवसरों समृद्धि सुख सन्तान और पवित्रता से भरा रहे। तब वर वधू से कहता है "तू मेरे साथ सात कदम चल चुकी है। अब मेरी सहचरी बन। मैं तेरा साथी बनूं। तेरे साथ मेरे साहचर्य में कोई बाधा न डाल पाए। जो लोग हमारे आनन्द को बढ़ते देखना चाहते हैं वे मेरे साथ तेरे सम्बन्ध का समर्थन करें।" वर और वधू शपथ लेते हैं कि वे धर्म प्रेम और सांसारिक समृद्धि के क्षेत्रों में एक-दूसरे की आशाओं और आकांक्षाओं को प्रोत्साहित करेंगे। संस्कार इस प्रार्थना के साथ समाप्त होता है कि यह उत्कृष्ट संयोग अविच्छेद्य रहे। "विश्व के देवता हमारे हृदयों को मिलाकर एक कर दें, जल हमारे हृदयों को मिलाकर एक कर दे। मातरिश्वा धाता और देष्ट्री हमें परस्पर घनिष्ठ रूप से बांध दें।"[2] वधू को आशीर्वाद दिया जाता है कि वह अच्छी पत्नी बने और उसका पति चिरकाल तक जीवित रहे।[3] सप्तपदी की विधि के बाद वधू पति के परिवार में आ जाती है। इसके पूरा होते ही विवाह पूर्ण हुआ समझा जा सकता है। कुछ अन्य लोगों का कथन है कि विवाह की पूर्णता के लिए संयोग होना आवश्यक है। विवाह के बाद तीन रात तक दोनों को एक ही कमरे में पर अलग-अलग बिस्तरों पर सोना होता है और कठोरतापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता है। यह इस बात को सूचित करने के लिए है कि विवाहित

१ ईसाई मत से तुलना कीजिए, "मैं तुम्हें अपनी विवाहिता पत्नी स्वीकार करता हूँ। आज के दिन से अच्छे में और बुरे में, अमीरी में और गरीबी में, बीमारी और स्वास्थ्य में, तब तक, जब कि मृत्यु ही हमें अलग न कर दे, मैं तेरा साथ दूँगा और प्यार करूँगा" और तब तक के लिए मैं तुझे अपना विश्वास का वचन देता हूँ।

२ समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ।
सम्मातरिश्वा संधाता समुदेष्ट्री दधातु नौ।—ऋग्वेद १०-८५, ४७

३ सर्वस्वा मम कार्याणि साध साध च हुवाय
गमता च यशस्वी च धर्मपत्नी पतिव्रता।

४ "तब बाद तक (विवाह के दिन के बाद) उन्हें सुयोग नहीं करना चाहिए न बारह रात तक या छ रात तक या कम से कम तीन रात तक। (त्रिरात्रं न मिथुनमुपेयातां द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रमन्ततः)—पारस्कर गृह्यसूत्र १-८।

जीवन में आत्म-संयम बहुत आवश्यक है। वधू और वर अपने पवित्र ब्रह्मचर्यपूर्ण जीवन लेकर विवाह तक पहुंचते हैं। वे अपने कौमार्य की रक्षा करते हैं और विवाह के समय उसे उपहार के रूप में अपने साथी को समर्पित करते हैं। कोई अन्य उपहार इसकी कमी को पूरा नहीं कर सकता।[1]

पत्नी की स्थिति बहुत ऊंची है। उसे गृहस्वामिनी बनना है और ससुर और सास ननदों तथा अन्य लोगों पर उसका शासन रहना है।[2] वह जीवन में प्रभावशील साथी है।[3] धार्मिक कृत्यों व्यावसायिक मामलों और भावमय जीवन में उसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। सारे धार्मिक कृत्य पति-पत्नी को साथ मिलकर ही करने चाहिए।

सीता के निर्वासन के समय राम ने सीता की स्वर्णमूर्ति अपने पास रखकर यज्ञ की विधियां पूरी की थीं। कुल्लूक ने मनुस्मृति पर टीका करते हुए वाजसनेयी ब्राह्मण से एक अंश उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है "पुरुष अपना केवल आधा भाग है। जब तक उसे पत्नी प्राप्त नहीं होती वह अपूर्ण रहता है और इसलिए पूरी तरह उत्पन्न (जात) नहीं होता। जब वह पत्नी को ग्रहण करता है,

---

स्वार्टों के शास्त्रकार ने भी अनविवाहित पतियों को भारी संयम तथा संयम से रहने का आदेश दिया है।

१ हिन्दू परम्परा में ब्रह्मचर्य और शारीरिक पवित्रता के गौरव के प्रति आदर रखने पर बहुत बल दिया गया है। जब राम और लक्ष्मण सीता की खोज में फिर रहे थे तब हनुमान ने उनके सामने कुछ आभूषण जो सीता ने अपने मार्ग-चिह्न के रूप में फेंके थे पहचानने के लिए ला रखे। राम की आंखें आंसुओं से धुंधली हो रही थीं इसलिए उन्होंने लक्ष्मण से आभूषणों को पहचानने के लिए कहा। लक्ष्मण ने उत्तर दिया कि मैं केयूरों और कुण्डलों को नहीं पहचान सकता, हां नूपुरों को अवश्य पहचान सकता हूं, क्योंकि मैं नित्य उनके चरणों में नमस्कार किया करता था।

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।
सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधि देवृषु।

३ अर्धं भार्या शरीरस्य। (स्त्री पुरुष के शरीर का आधा भाग है।)

४ धर्मे च अर्थे च कामे च नातिचरितव्या
त्वया [illegible] सहायत्वं [illegible]।

विवेकानन्द ने बताया किया है कि किस प्रकार रामकृष्ण परमहंस पत्नी के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए अपने जीवन के उद्देश्य का भी परित्याग करने को तैयार थे। उन्होंने अपनी पत्नी से कहा था "मैंने स्त्रीमात्र को माता के रूप में देखना सीख लिया है। तुम्हें भी मैं केवल माता ही समझ सकता हूं। परन्तु यदि तुम मुझे फिर संसार में खींचना चाहती हो तो क्योंकि मेरा तुमसे विवाह हुआ है, मैं तुम्हारी सेवा के लिए तैयार हूं।" इस प्रकार यदि राम-कृष्ण अपने अध्यात्म-मार्ग पर चल सके, तो इस लिए कि उन्हें अपनी पत्नी की सहमति प्राप्त हो गई थी। — कम्प्लीट वर्क्स तृतीय संस्करण (१९१८) ५, २६६

१ ६, ४५

तभी वह पूरी तरह सम्पन्न होता है और पूर्ण बनता है।" इसलिए वेदविद् ब्राह्मण कहते हैं 'जिसे पति समझा जाता है वही पत्नी भी है।'[1] अर्धनारीश्वर की मूर्ति भारत द्वारा नर-नारी के पारस्परिक सम्बन्धों को मान्यता देने की प्रतीक है यह सहयोगात्मक परस्पराश्रित पुरुषोचित और स्त्रीजनोचित कार्यों की जो अलग रहते हुए अपूर्ण रहते हैं और मिलकर परस्पर पूर्ण हो जाते हैं एक धारणा है। 'पति और पत्नी एक-दूसरे के सर्वोत्तम मित्र हैं मित्रता जो सब सम्बन्धों का सार है, यहां तक कि स्वयं जीवन ही है। इसी प्रकार पति पत्नी के लिए और पत्नी पति के लिए है।'[2] सीता अपने पति के कष्टों मे हिस्सा बटाने के लिए वनवास मे गई। गान्धारी ने अपनी आंखों का उपयोग करने से इन्कार कर दिया जिससे उसे वह सुख प्राप्त न हो जो उसके पति को प्राप्त नहीं है। आदर्श पत्नी अपनी समग्र सुकुमारता मनोरमी मुस्कान और अच्छे साहचर्य द्वारा पति के लिए अनन्त तृप्ति का साधन होती है।[3] जो पत्नी अपने पति के सुख और कल्याण का ध्यान रखती है जिसका आचरण पवित्र है और जो अपने-आपको वश मे रखती है वह इस लोक मे यश प्राप्त करती है और परलोक मे उसे परम सुख मिलता है।[4] कालिदास की बात से ध्वनित होता है कि जैसे शब्दों के साथ उनका अर्थ जुड़ा रहता है उसी प्रकार पति और पत्नी भी सदा सम्बद्ध रहते हैं।[5] सीता अनुसूया को बताती है

---

१ अर्धो ह वा एष आत्मनः तस्माद् यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते असर्वो हि तावद् भवति। अथ यदैव जायां विन्दते अथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति। तथा च तद् वेदविदो विप्रा वदन्ति यो भर्ता सैव भार्या स्मृता।—६ ४४

प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसामित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु।

—मालतीमाधव ६ १८

साथ ही देखिए, उत्तररामचरित १ ३९
अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन् न हार्यो रसः।

३ तुलना कीजिए
कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा
धर्मानुकूला क्षमया धरित्री, षाड्गुण्ययुक्तेह पतिव्रतानाम्।

४ पतिप्रियहिते युक्ता स्वाचारा संयतेन्द्रिया
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्।
साथ ही तुलना कीजिए
पतिप्रिया पतिप्राणा भर्तुः प्रियहिते रता
यस्य स्यादीदृशी भार्या धन्यः स पुरुषो भुवि।

५ वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।—रघुवंश १ १

कि उसका पति उसे उसी प्रकार प्रेम करता है जैसे पिता या माता करती है।[1] यह है वह कल्पना और आदर्श जिसकी ओर बढ़ने के लिए नर और नारी दोनों प्रयत्नशील रहते हैं।

सामाजिक संरचना में परिवार एक आवश्यक तत्त्व है। इस परिवार द्वारा ही गृहस्थ व्यक्ति मुक्ति प्राप्त करता है। वशिष्ठ का कथन है कि गृहस्थ का जीवन सेवा और तपस्या का जीवन है और सब आश्रमों में यह आश्रम विशेष रूप से उत्कृष्ट है। केवल पत्नी और बच्चों के होने से ही कोई घर घर नहीं बन जाता अपितु सामाजिक कर्तव्यों का पालन करने से बनता है।[2] "जो गृहस्थ भगवान का भक्त है, वह सच्चे ज्ञान की खोज में रहता है और वह जो कुछ कर्म करता है उसे भगवान को समर्पित कर देता है।"[3]

विवाह के प्रकार

महाकाव्यों, स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में आठ प्रकार[4] के विवाहों का उल्लेख मिलता है जिनमें प्राचीनतर सोपानों (स्टेज) के अवशेष भी सम्मिलित हैं जो बाद के समय तक बचे रह गए थे। इनमें से कुछ के संकेत तो ऋग्वेद के काल तक में भी ढूँढ़े जा सकते हैं। हिन्दू धर्म में पुराने विश्वासों और प्रथाओं को, चाहे वे पुराने पड़ गए हों तब भी उन्हें न हटाकर सुरक्षित बनाए रखने की प्रवृत्ति है। इनमें से चार प्रकार अनुमोदित हैं और शेष चार प्रकार अनुचित समझे जाते हैं।

पैशाच विवाह जिसमें वधू पर बलपूर्वक अधिकार किया जाता है बहुत

1 [illegible] । रामायण में कौसल्या का [illegible] रूप में किया गया है कि [illegible] के लिए जो कुछ भी हो सकती है वह सब [illegible]

[illegible] कौसल्या [illegible]

[illegible] ।

[illegible] कि वह [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

2 [illegible]

[illegible] (वशिष्ठ) ।

3 [illegible]

[illegible] ।

4 [illegible]

[illegible] ।

5 [illegible] (अनुर) । [illegible]

[illegible] । [illegible] १० [illegible] ।

निम्नकोटि का विवाह है। वधू को धोखा दिया जाता है या किसी दवाई या पेय के कारण वह अपने ऊपर नियन्त्रण खो बैठती है और उस मानसिक स्थिति में पति के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देती है। बौधायन कहता है "जब कोई पुरुष किसी कन्या से जब वह सो रही हो अचेत हो या पागल हो विवाह करता है तो वह पैशाच विवाह कहलाता है।"[१] इस प्रकार के विवाह को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता और इसे बहुत नीचा समझा जाता है। परन्तु क्योंकि कुछ जातियां इसका अवलम्बन करती थीं इसलिए इसे वैध माना जाता था। इसके अतिरिक्त जिस समाज में कुमारीत्व को पावन समझा जाता हो उसमें जिस कन्या का कुमारीत्व नष्ट हो गया हो उसका सम्मानपूर्ण विवाह होने की कोई गुंजाइश नहीं है। इस लिए विधानशास्त्रियों ने यह नियम बनाया कि अपराधी ही उस स्त्री से विवाह करे, जिसके प्रति उसने अपराध किया है।

राक्षस-विवाह उस काल की वस्तु है जब स्त्रियों को युद्ध का पुरस्कार समझा जाता था। विजेता वधू का अपहरण करके ले जाता है और उससे विवाह कर लेता है। कुछ मामलों में इसमें स्त्रियों की भी मिली भगत रहती थी। रुक्मिणी सुभद्रा और वासवदत्ता ने अपने पतियों कृष्ण अर्जुन और उदयन की सहायता की थी जिससे वे उन्हें भगा ले जाएं। ऋग्वेद के काल में आर्य लोग दास-कन्याओं से विवाह कर लेते थे परन्तु इन सम्बन्धों को भी वैध मान लिया जाता था।

आसुर विवाह में वर कीमत देकर वधू को खरीदता है। यह विवाह खरीद द्वारा होनेवाला विवाह है। इसमें यह मान लिया गया है कि स्त्री का कुछ मूल्य है और वह बिना कुछ दिए प्राप्त नहीं हो सकती। विवाह का यह प्रकार भी व्यवहार में था पर अनुमोदित नहीं था। जो जामाता वधू को कीमत देकर खरीदता था वह 'विजामाता'[२] कहा जाता था। ये तीनों प्रकार के विवाह बिलकुल अनुचित समझे जाते थे।

गान्धर्व विवाह सामान्यतया अनुमोदित है क्योंकि यह पारस्परिक सहमति पर आधारित है। प्रेमी अपनी प्रियतमा को चुन लेता है।[३] कामसूत्र में इस प्रकार के विवाह को आदर्श विवाह माना गया है। स्वतन्त्र प्रेम के विवाह को सम्पन्न करने के लिए कोई विधि या संस्कार नहीं होता। आधी रात में प्रेमी के साथ भाग कर माता-पिता को अप्रसन्न करके तथा भावुकता की अन्य घटनाओं के साथ

१ १ ११ १
२ देखिए ऋग्वेद १०-२७-१२
३ ऋग्वेद, १ ? १ १ । बौधायन (१-२-१ -११) इसकी निन्दा करता है। साथ ही देखिए आपस्तम्ब धर्मसूत्र २४-२५
४ गान्धर्वमप्येके प्रशंसन्ति सर्वेषां स्नेहानुगतत्वात्।—बौधायन (१ ११-७)
५ १-२ १

किए गए विवाह इस वर्ग में आते हैं। इस प्रकार के विवाह का सबसे रोचक मामला दुष्यन्त और शकुन्तला का है जो कालिदास के महान नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का विषय है। कवि यह संकेत करता है कि इस प्रकार के विवाह की जो वासना के आवेग में किया गया है स्थायी रहने की सम्भावना नहीं है। क्योंकि प्रथम दृष्टि में हुए प्रेम पर आधारित गुप्त मिलन पर्याप्त नहीं है इसलिए वधू पर एक शाप आ पड़ता है और अपना दण्ड वसूल करता है। शकुन्तला राजसभा में अपमानित होती है और अस्वीकार कर दी जाती है। जब वह अनुशासन द्वारा फिर पवित्र होती है और कामना का बन्धन कामुकता की अनासक्ति के सामने घुटने टेक देता है तब वह फिर पत्नी और माता के रूप में ग्रहण की जाती है। परित्याग की कठोरता द्वारा वासना के आवेग को निष्ठा की तपस्या में परिणत किया ही जाता है। क्योंकि गान्धर्व सम्मिलन बिना मन्त्रपाठ के हो जाते थे इसलिए उन्हें सम्मानयोग्य बनाने के लिए यह नियम बनाया गया कि विवाह संस्कार सम्मिलन के बाद कर लिया जाना चाहिए कम से कम ऊपरी तीन वर्णों में तो अवश्य हो। औपचारिक समारोह सामाजिक अनुमोदन का सूचक है। जब बाल विवाह प्रारम्भ हो गए तब पारस्परिक प्रेम के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रही।

आर्ष विवाह में वधू का पिता अपने जामाता से एक गाय और एक बैल ले लेता है। यह आसुर विवाह का ही एक परिष्कृत रूप है और विवाह का अनुमोदित रूपों में निकृष्ट समझा जाता है।

दैव विवाह में यजमान अपनी पुत्री को यज्ञ करानेवाले पुरोहित को समर्पित करता है। इसे दैव विवाह इसलिए कहा जाता है क्योंकि विवाह देवताओं के बलि देने (यज्ञ) के समय किया जाता है। इसे उच्चकोटि का नहीं समझा जाता क्योंकि वैवाहिक सम्बन्धों को धार्मिक मामलों के साथ इस प्रकार नहीं मिला दिया जाना चाहिए। वैदिक यज्ञों का लोप होने के साथ ही विवाह का यह रूप भी लुप्त हो गया।

प्राजापत्य विवाह में वधू यथोचित विधियों के साथ वर को प्रदान की जाती है और युगल से कहा जाता है कि धार्मिक कर्तव्यों के पालन में अभिन्न साथी रहें।[2] पिता इन शब्दों के साथ कन्यादान करता है "तुम दोनों मिलकर धर्म का पालन करो।" यह विवाह ब्राह्म विवाह से भिन्न नहीं जान पड़ता जिसमें वधू को यथोचित सजाकर वर को सौंप दिया जाता है जिसे विशेष रूप से इसी प्रयोजन के लिए निमन्त्रित किया गया होता है। पति प्रतिज्ञा करता है कि वह सभी कार्यक्षेत्रों में

1 देखिए मनु पर टीका में बुल्हर द्वारा उद्धृत १११

2 [illegible]
[illegible]।

पत्नी के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहेगा।[1]

कोई विवाह उर्वशी और पुरुरवा के विवाह की भांति केवल युगलकामक (कर्दमयुगल) होते हैं जिनमें स्त्री अपना शरीर तो समर्पित करती है पर आत्मा नहीं।[2] यह यौन सम्बन्ध का दुरुपयोग है। शारीरिक लगाव तो आन्तरिक आत्मिक सौन्दर्य का बाह्य चिह्न-मात्र है। आत्मिक दृष्टि से विकसित व्यक्तियों के लिए शरीरों का सम्मिलन आत्माओं के सम्मिलन की बाह्य अभिव्यक्ति है। हमें यह अनुभव करना चाहिए कि यौन संयोग जीवन का महान संस्कार है। आध्यात्मिक कौमार्य के ऐसे भी उदाहरण हैं, जिनमें भले ही बलात्कार के कारण स्त्री के शरीर की पवित्रता जाती रही या जब शरीर का उसके लिए कोई आत्मिक अस्तित्व शेष न रहा तो उसने उसे पुरुष को समर्पित कर दिया पर उसका आत्मिक कुमारीत्व अक्षत रहा।

ब्राह्म विवाह ही एक ऐसा है जो अनुमोदित है और सब कहीं या लोकप्रिय है। इसमें वर-वधू प्रार्थना करते हैं कि उनकी मित्रता और प्रेम चिरस्थायी और सच्चा रहे। विवाह के दूसरे रूप जो अपहरण (आसुर) बलात्कार (राक्षस) और फुसलाने (गान्धर्व) तक जैसे बताते हैं सभ्यता के विकृत रूप हैं और व स्त्री को उसे यौन इकाई के स्तर तक घटाकर और उसके व्यक्तित्व को रिक्त करके समानता के अधिकार से वंचित करते हैं। स्मृतिकार उनको इसलिए अनु- चित समझते हैं क्योंकि वे चाहते हैं कि विवाह विशुद्ध रूप से व्यक्ति की रुचि पर ही न छोड़ दिए जाएं। विवाहों को स्त्रियों के हित की दृष्टि से मान्यता दी जाती थी। वैदिक ऋषियों की शिक्षा है कि यौन विषयों में बड़ी सहिष्णुता की आव- श्यकता है क्योंकि व्यक्ति व्यक्ति से बेहद अन्तर है। नैतिकता का वास्ता वैधानिक संस्कार से कम और पारस्परिक सम्बन्धों से अधिक है। यद्यपि जहां-तहां गान्धर्व और आसुर विवाह भी होते पाए जाते हैं, परन्तु विवाह के प्रचलित रूपों में ब्राह्म विवाह का आदर्श ही लक्ष्य रहता है।

बाल विवाह

बाल-विवाह की प्रथा वैदिक युग और महाकाव्यों के युग में विद्यमान नहीं थी। सुश्रुत ने बताया है कि पुरुष की शारीरिक शक्तियों का पूर्ण विकास पच्चीस वर्ष की आयु में होता है और स्त्री का सोलह वर्ष की आयु में[3] हालांकि वयस्क

---

[1] महाभारत के अनुसार विवाह सिविल विवाह से है जिसमें स्त्रियाँ का अधिकार रहता है। वर वधू को एक वस्त्र उपहार देता है और इन वस्तुओं का एक संयोग होता है। इस संस्कार को कुछ विधि रहती ही है। पत्नी की वैधानिक स्थिति है, हालांकि वह पति के धार्मिक कर्म में हिस्सा नहीं बटाती। इस प्रकार के विवाहों में बच्चों की जाति मां की जाति ही मानी जाती है।

[2] ऋग्वेद १-४१-९

[3] पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।

होने के समय बारह वर्ष की आयु में ही दिखाई पड़ सकते हैं।[1] यदि विवाह पुरुष और स्त्री की इस आयु से पूर्व होगा तो उसके परिणाम हानिकारक होंगे। 'यदि कोई पुरुष पचीस वर्ष की आयु होने से पहले किसी सोलह वर्ष से कम आयु की कन्या में गर्भाधान करता है तो भ्रूण गर्भ में ही मर जाता है। यदि बच्चा उत्पन्न होता भी तो वह देर तक जिएगा नहीं और यदि वह जीवित रहा भी तो दुर्बल रहेगा। इसीलिए अपरिपक्व कन्या में कभी गर्भाधान नहीं करना चाहिए।'[2]

प्राचीन काल में व्यवहार इस आयुर्वेदिक उपदेश के अनुसार ही था। वैदिक संस्कारों में यह बात मान ली गई है कि वधू वयस्क स्त्री है जिसका मन और शरीर परिपुष्ट है और जो विवाहित जीवन बिताने के लिए तैयार है। 'उद्वाह' शब्द से ही यह अर्थ प्रकट होता है कि कन्या इस स्थिति में है कि वह पत्नी के रूप में जीवन बिता सके। विवाह के मन्त्र में यह बात मान ली गई है कि कन्या यौवन से खिल उठी है और पति के लिए लालायित है। उसे 'कन्या' कहा जाता है अर्थात् जो अपने लिए पति स्वयं चुनती है। सीता, कुन्ती और द्रौपदी विवाह के समय पूरी तरह वयस्क हो चुकी थीं। इन विवाहों में उपभोग विवाह के बाद अविलम्ब ही हो गया था। गृह्य सूत्रों में यह नियम बनाया गया है कि विवाह का उपभोग विवाह संस्कार के बाद चौथे दिन होना चाहिए। 'नग्निका' शब्द का अर्थ है कि लड़की कुमारी है, सुकुमार बच्ची नहीं है जिसमें कामभावना और सलज्जता की भावना ही विकसित न हुई हो। वर और वधू दोनों को अपने कौमार्य की रक्षा करनी चाहिए और एक-दूसरे के पास ब्रह्मचर्य की निधि लेकर पहुँचना चाहिए। पूर्ण कौमार्य पर अत्यधिक आग्रह होने के कारण ही ईसा के बाद पहली शताब्दी में वयस्क होने से पहले विवाह होने लगे थे। लड़कों के लिए उपनयन की समानता सहक्रिया के लिए विवाह पर लागू की गई। संयुक्त परिवार प्रणाली के कारण परिवार के उपार्जन न करनेवाले सदस्यों के भी विवाहों को प्रोत्साहन मिला। कुछ स्मृतियों में कहा गया है कि यदि उपयुक्त वर न भी मिल सके तो कन्याओं का विवाह गुणहीन पुरुष

[illegible]

[illegible]

[illegible]

१ [illegible]

२ [illegible]

३ [illegible]

[illegible]

[illegible]

४ [illegible]

[illegible]

के हिसाब कर देना चाहिए।[1] विवाह यद्यपि पुरुषों के लिए अनिवार्य नहीं था पर लड़कियों के लिए अनिवार्य था। फिर भी यह व्यवहार केवल ब्राह्मण वर्ग तक ही सीमित था। धर्मशास्त्रों के प्रणेताओं ने जो ईस्वी सन् से दो-तीन शताब्दी पहले हुए थे यह सलाह दी कि तारुण्य आने के बाद लड़कियों के विवाह में देर नहीं करनी चाहिए। उन्होंने यह अनुमति दी है कि यदि उपयुक्त पति न मिले तो रजो दर्शन के बाद तीन साल तक कन्याओं को अविवाहित रखा जा सकता है[2] और मनु उनसे सहमत हैं[3]। यदि तारुण्य को प्राप्त होने के बाद तीन साल तक भी अभिभावक लोग लड़की के लिए उपयुक्त पति न ढूंढ पाएं, तो वह अपना पति स्वयं चुन सकती है। सावित्री तरुण होने के बाद बहुत समय तक अविवाहित रही थी और उसे अपना पति स्वयं चुनने की अनुमति मिल गई थी। उसने सत्यवान को चुना जो प्रत्येक दृष्टि से एक वांछनीय युवक था उसमें केवल एक दोष था कि उसकी कुण्डली से पता चलता था कि वह एक वर्ष के अन्दर मर जाएगा। सावित्री के पिता ने उसे बहुत समझाया कि वह सत्यवान से विवाह न करे पर वह अपने निश्चय पर दृढ़ रही क्योंकि वह अपना हृदय सौंप चुकी थी। विवाह हुआ और भविष्यवाणी मिथ्या सिद्ध हुई। जो शास्त्रकार छोटी आयु में विवाह के समर्थक हैं (जैसे मनु) वे भी यदि उपयुक्त पति प्राप्त न हो सके तो लड़कियों को अविवाहित रहने की अनुमति देते हैं।[4] अयोग्य पुरुष से कन्या का विवाह होने से तो यही अच्छा है कि वह मृत्युपर्यन्त अपने पिता के घर में ही रहे।[5] 'कामसूत्र' में छोटी आयु में होनेवाले और बड़ी आयु में होनेवाले दोनों प्रकार के विवाहों का ध्यान रखा गया है।[6] वहां कन्याओं को अपना पति स्वयं चुनने का अधिकार होता भी था वहां भी वे सामान्यतया अपने माता-पिता से परामर्श करती थीं और उनकी सहमति प्राप्त करती थीं। जब वर और वधू वयस्क भी होते थे तब भी

है कि विद्यार्थी माना ने अध्ययन समाप्त करने के बाद अनग्निका अर्थात जो अपरिपक्व नहीं है कन्या से विवाह करे।

१ दद्यात् गुणवते कन्यां नग्निकां ब्रह्मचारिणे।
अपि वा गुणहीनाय नोपरुन्ध्याद्रजस्वलाम्॥

२ २

३ ६ ६ साथ ही देखिए बौधायन ४ १ ४ ; वसिष्ठ १७-६७-६८

४ काम मामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥—९ ६

मेधातिथि कहता है, रजोदर्शन से पूर्व तो कन्या का विवाह करना ही नहीं चाहिए और यदि अच्छा पति न मिले तो रजोदर्शन के बाद भी उसका विवाह नहीं करना चाहिए। (प्राक् ऋतो कन्याया न दान ऋतुदर्शनेऽपि न दद्यात् यावद् गुणवान् वरो न प्राप्त ।)

५ ९-८९

६ ३-१-४

आम तौर से व्यवहार यही था कि माता-पिता अपने पुत्रों और पुत्रियों के साथ परामर्श करके विवाह की व्यवस्था करते थे। अथर्ववेद में वर्णन मिलता है कि माता पिता अपने यहां विवाहार्थी युवकों को बुलाकर उनका स्वागत-सत्कार करते थे और पुत्रियां उनमें से अपने लिए पति चुन लेती थीं।[1] जातक कथाओं में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें माता-पिता अपने पुत्र और पुत्रियों से उनके विवाह के बारे में परामर्श करते हैं। स्वयंवर (वधू द्वारा स्वयं अपने पति का चुनाव करने) की प्रथा महाकाव्यों के युग में लोकप्रिय हुई। निजी चुनाव और माता-पिता की सलाह, दोनों ही सुयोग्य पति के चुनाव में सहायक होते थे। ऐसा शायद ही कभी होता हो कि अनिच्छुक और अबोध वधुएं अमीर युवक वरों को सौंप दी जाती हों। आखिरकार, एक ऐसे विषय में जिसका मनोविज्ञान जाति पारिवारिक परम्पराओं और शिक्षा सभी से सम्बन्ध है निर्णय व्यक्ति की अपनी मन की मौज पर नहीं छोड़ा जा सकता। छोटी आयु में विवाह जो काम विवाह से भिन्न हैं और जो माता-पिता द्वारा अपने पुत्रों और पुत्रियों से परामर्श करके किए जाते थे भारत में सबसे अधिक प्रचलित रूप रहे हैं। उनके समर्थन में बहुत कुछ कहा जा सकता है। प्रेम मुख्यतः एक कल्पित अनुभव है जिसके सारभूत उपादान कल्पना और इच्छा हैं। प्रेमी दुर्निवार रूप से किसी वास्तविक व्यक्ति की ओर आकृष्ट नहीं होता अपितु अपने मन में विद्यमान एक कल्पना मूर्ति की ओर आकृष्ट होता है। प्रत्येक पुरुष के मन में एक नारी की मूर्ति विद्यमान रहती है यद्यपि वह इस या उस किसी प्रमुख नारी की मूर्ति नहीं होती। इसी प्रकार स्त्री के मन में भी एक सम्मसिद्ध पुरुष-मूर्ति रहती है। छोटी आयु में हुए विवाहों में जब मन ग्रहणशील और ढलने का उनमें योग्य होते हैं युवक पुरुष अपनी उस स्त्री के व्यक्तित्व पर आकर्षण की छवि फेंकता है जो युवक के अन्दर विद्यमान रहती है। बुद्धिमान से बुद्धिमान पुरुष भी उस स्त्री की वास्तविक प्रकृति से अनभिज्ञ रहते हैं जिसने उन्हें आकृष्ट किया है। प्रेम का अधिकांश कारण स्वयं प्रेमी में विद्यमान रहता है, और प्रेम पात्र तो केवल उपलक्षण (गौण वस्तु) मात्र होता है। प्रेम-पात्र चाहे कोई भी क्यों न हो, उसके लिए हमें लगभग एक जैसी ही लालसा होगी।

---

१ १४-१।१

२ विवाह के सम्बन्ध में बॉसवेल के प्रश्न के सम्मुख डाक्टर [illegible] उत्तर का अवलोकन कीजिए, 'महोदय, क्या आप समझते हैं कि संसार में ऐसी पचास स्त्रियां हैं जिनमें से किसी के भी साथ पुरुष उतना ही सुखी हो सकता है, जितना उनमें से किसी एक विशेष स्त्री के साथ?'

"जी हां" डाक्टर जानसन ने कहा "पचास हजार।"

"तब तो महोदय, [illegible] आप उन लोगों से सहमत नहीं हैं, जो यह समझते हैं कि कुछ पुरुष और स्त्रियां एक-दूसरे के लिए ही बने होते हैं और यदि उन्हें उनका साथी न मिले तो वे सुखी नहीं हो सकते?"

"निश्चय ही सहमत नहीं हूँ" डाक्टर जानसन ने उत्तर दिया "[illegible] निश्चित है कि आवश्य-

लालसा की तीव्रता हमारी वस्तुस्थानात्मक दृष्टि को अंधा कर देती है और प्रेम पात्र के ऊपर एक ऐसा आवरण-सा डाल देती है जिसे पार करके हम देख नहीं सकते। जब हम एक बार किसी स्त्री की ओर अपनी उन सब लालसाओं और स्वप्नों को प्रेरित कर दें जिन्हें कि हम समझते हैं कि वे किसी दूसरी आत्मा के साथ सम्मिलन से पूर्ण हो जाएंगे तो वह स्त्री चाहे बुद्धि और रूप से कितनी ही हीन क्यों न हो हम पूरी तरह अपने अधीन कर सकती है। इसी प्रकार लड़कियां भी अपने स्वप्नों को अपने पति की ओर, जो व्यक्ति की अपेक्षा एक मूलतत्त्व अधिक होता है प्रेरित करती हैं। पति या पत्नी हमारी सृष्टि हैं हम एक आदर्श की सेवा के लिए अपने-आपको समर्पित करते हैं। परिचय से प्रेम के गुण प्रिय व्यक्ति के अनुरूप ढल जाते हैं। सहज प्रवृत्तिक लालसा धीरे-धीरे परिपक्व होती है और अपने आपको दूसरे व्यक्ति के अनुकूल ढाल लेती है। परस्पर अनुकूलता एक प्रक्रिया है कोई आकस्मिक घटना नहीं। जो लड़के और लड़कियां निकट सम्पर्क में आते हैं उनमें एक-दूसरे की ओर बढ़ने और सामंजस्य स्थापित करने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। एक बहुत प्रसिद्ध श्लोक में कहा गया है कि राजा स्त्रियां और बेलें जो भी पास हो उसीको लपेट लेती हैं।[१] स्त्रियां अपना मेल सब जगह बिठा लेती हैं। उन्हें जहां भी रख दिया जाए, वे वहीं जड़ें जमा लेती हैं।

विवाह में माता-पिता के नेतृत्व पर आक्षेप इसलिए किया जाता है क्योंकि इस नेतृत्व का दुरुपयोग किया जाता है विशेष रूप से उस समाज-व्यवस्था में जिसमें स्त्रियों के छोटी आयु में विवाह को और विधुरों के पुनर्विवाह को प्रोत्साहन दिया जाता हो। कुछ माता-पिताओं ने जो कट्टर परम्पराओं का पालन करने के साथ-साथ पैसा बनाने के लिए भी उत्सुक थे सौन्दर्य के प्रथम उन्मेष में खिली युवती कन्याओं के विवाह धनी वृद्ध पुरुषों से कर दिए। विवाह की आयु बढ़ाने के

तथा मिलकर रहने में सुगमता होगी और शायद कुछ अधिक ही, यदि स्वभावों और परिस्थितियों का उचित ध्यान रखते हुए उन्हें मार्ग बतलाकर द्वारा तय कर दिया जाए और यदि वर-वधू को एक-दूसरे का चुनाव करने का बिलकुल अवसर न दिया जाए।'

जब बैंजमिन से उसके मित्रों ने विवाह करने के लिए कहा तो उसने यह बताते हुए कि वह इस पद के लिए किसी का उपयुक्त आवेदन के आवेदन पर विचार करने को तैयार है, कहा, "मैं उन बन्दर प्रेमियों में नहीं हूं, जो किसी स्त्री के सौन्दर्य पर पागल होते हैं। यदि मेरी पत्नी मिलनसार, परिश्रमी, मधुर स्वभाव की और मेरे स्वास्थ्य के विषय में खूब सावधान रहे, तो मैं सदा भांति सन्तुष्ट रहूंगा।

१ प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च,
यत्पार्श्वतो भवति तत्परिवेष्टयन्ति।

प्रेम सान्निध्य का विषय है। माता-पिता की कूटनीति कदाचित् सन्निधान (मिलकर रहने) की होती है।

कारण अब ऐसा कर पाना असंभव होता जा रहा है। संयुक्त परिवार प्रणाली के विघटन स्त्री-शिक्षा की प्रगति और आर्थिक संघर्ष के कारण धीरे-धीरे लड़कों और लड़कियों की विवाह की आयु बढ़ा दी गई है। शारदा अधिनियम कभी का नियम बन चुका है जिसके अनुसार विवाह के समय लड़के और लड़की की न्यूनतम आयु क्रम से क्रम क्रमशः अठारह और चौदह साल होनी चाहिए। पुरुषों और स्त्रियों दोनों की ही विवाह की आयु वही बना दी जानी चाहिए, जो उनके वयस्क (बालिग) होने के लिए निर्धारित है। रजोदर्शन के बाद ही विवाह के नियम को अपनाकर हिन्दू धर्म फिर वैदिक व्यवहार की ओर लौट रहा है।

संगियों का चुनाव

हम पहले देख चुके हैं कि विवाह का लक्ष्य यह है कि वह मनोवैज्ञानिक जातीय और मानवीय उपकरणों का सामंजस्य (ठीक मेल) बन सके। परन्तु ये सब बाहरी सामग्रियां हैं जो बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, और हमसे कहा जाता है कि हम इनके आधार पर उत्तरदायी और परिपक्व प्रेम को विकसित करें जो व्यक्ति की अविनश्वरता है और विवाह का असली उद्देश्य है। हम उस स्त्री से विवाह नहीं करते जिससे हम प्रेम करते हैं अपितु उस स्त्री से प्रेम करते हैं जिससे हम विवाह कर लेते हैं।[1] विवाह कोई बढ़िया गणना (योजना) का विषय नहीं है। हम पहले से नहीं जान सकते कि वर और वधू, प्रत्येक का प्रलग-प्रलग और दोनों का सम्मिलित विकास किस प्रकार का होगा। संगियों के चुनाव के विषय में समाज सामान्य नियम बना सकता है। "कन्या वर म रूप देखती है कन्या की माता धन देखती है कन्या का पिता विद्या देखता है। सम्बन्धी लोग उसके कुल को देखते हैं और बाकी लोग केवल सह भोज के लिए लालायित रहते हैं।"[2] क्योंकि विवाह मनुष्य-जाति को आगे चलाते रहने का साधन है, इसलिए हमें सुसंतति विज्ञान (यूजेनिक्स) के नियमों को भी ध्यान में रखना चाहिए। जो आदमी पौधे लगाता है वह भी मिट्टी और जल-वायु का ध्यान रखता है और अपने मन की मौज से ही सब कुछ नहीं कर डालता तो विवाह भी प्रगतिशील जीवन के साधन बनने चाहिए। हमें न केवल मनुष्य जाति को चलाए रखना है अपितु उसे उन्नत भी करना है। साधारणतया विवाह ऐसे परिवारों के सदस्यों के बीच ही होने चाहिए जो सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एक

---

१ प्राप्त लग्न प्रेम।—कालिदास

२. कन्या वरयते रूप माता वित्त पिता श्रुतम्
बान्धवा कुलमिच्छन्ति, मिष्टान्न इतरे जना

बहुत से निबन्ध है कि विवाहों का व्यक्तिगत भावनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है अपितु वे तो केवल लोकिक व्यवहार द्वारा नियमित होते हैं।

से स्तर के हों।[1] अत्यधिक अन्तःप्रजनन (एक ही रक्त के सम्बन्धियों में विवाह) अनुचित है परन्तु हिन्दू विवाह के नियामक वर्तमान कानून बहुत कठोर हैं। उनमें इस बात का आग्रह है कि विवाह व्यक्ति की अपनी जाति में ही होना चाहिए (ऐंडोगैमी) अपनी सीधी पैतृक परम्परा से बाहर होना चाहिए (गोत्र बाह्य विवाह) और पितृपक्ष तथा मातृपक्ष दोनों ओर की रक्त-सम्बन्ध की कुछ बताई हुई श्रेणियों से बाहर होना चाहिए (सपिण्ड बाह्य विवाह)। एक गोत्र की सदस्यता का अर्थ यह नहीं है कि वे दोनों व्यक्ति सम-रक्तीय हैं। सम्भव है कि ऐसा सम्बन्ध प्रारम्भ में रहा हो किन्तु मूल संस्थापक के अनन्तर कई पीढ़ियां बीत जाने के बाद ऐसे सम्बन्ध में कुछ जान नहीं रहती। सगोत्र लोगों में विवाह के निषेध का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता और इस आशय का एक कानून बनाकर इसे समाप्त हो जाने देना चाहिए कि हिन्दुओं में हुआ कोई विवाह केवल इस कारण अवैध नहीं माना जाएगा कि वर और वधू एक ही गोत्र के हैं भले ही हिन्दू शास्त्रों के नियम प्रथाएं या रिवाज इसके विरोध में ही क्यों न हों। सपिण्ड सम्बन्धवाले व्यक्तियों में विवाह के निषेध को समाप्त करने के प्रश्न को अभी उठाने की आवश्यकता नहीं है। चचेरे, फुफेरे, ममेरे और मौसेरे भाई-बहनों में विवाह को अधार्मिक या अहिन्दू नहीं माना जाना चाहिए। अर्जुन ने सुभद्रा से विवाह किया था जो उसके मामा की पुत्री थी। कृष्ण ने मित्रविन्दा और भद्रा से विवाह किया था जो दोनों उसकी बुआओं की लड़कियां थीं। राजकुमार सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) ने गोपी (यशोधरा) से विवाह किया था जो उसके मामा की लड़की थी। 'संस्कार कौस्तुभ' का कथन है कि महान मनु, पराशर अंगिरस और यम पितृपक्ष और मातृपक्ष दोनों के तीसरी पीढ़ी के वंशजों में विवाह की अनुमति देते हैं।[2] सपिण्ड सम्बन्ध के नियमों का उल्लंघन बहुत प्राचीन काल में भी होता रहा है। वैद्यनाथ अपने 'स्मृति मुक्ताफल' में कहता है, 'आन्ध्र लोगों में अच्छे व्यक्ति जो वेदों में भली भांति निष्णात हैं मातुल-सुता-परिणय (ममेरी बहन से विवाह) की प्रथा का पालन करते हैं और द्रविड़ों में प्रतिष्ठित लोग भी पुत्र का विवाह ऐसी कन्या से होने देते हैं जो दोनों के एक ही समान पूर्वज की चौथी पीढ़ी की वंशज है।

क्योंकि विवाह का उद्देश्य यौन आकर्षण और बच्चों के प्रति प्रेम पर आधारित पारस्परिक सम्बन्ध के विकास द्वारा व्यक्तित्व को समृद्ध करना है इसलिए यह स्पष्ट है कि इसे सफल बनाने के लिए जो गुण आवश्यक हैं उनका निर्णय वे लोग अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं जो स्वयं इस मामले में लिप्त हैं और

१ ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ।—महाभारत १ १३१ १
२ तृतीं मातृ- पक्षात् तृतीयां पितृपक्षतः
विवाहयेत् मनुः प्राह पाराशराङ्गिरा यम ।

जिनके मनोवेग पहले ही बने हुए नहीं हैं। हमे सावधान रहना चाहिए कि विवाह उससे ही न कर लिया जाए, जिसके नयन-युगल सुन्दर हों या जिसका शरीर भोग के लिए आकर्षक हो।[1]

अनुलोम विवाह जिनमे उच्चतर वर्ण का पुरुष निम्नतर वर्ण की स्त्री से विवाह करता है लोगो द्वारा अनुमत थे। इस प्रकार के विवाहो से उत्पन्न बच्चों को माता और पिता के वर्णों के बीच के वर्ग मे रखा जाता था। भिन्न वर्णवाली *पत्नियो से उत्पन्न पुत्रो को उत्तराधिकार मे हिस्से के विषय मे नियम धर्मशास्त्रो* मे दिए गए हैं। हिन्दू-इतिहास मे अनुलोम विवाहो के उदाहरण बडी संख्या मे मिलते हैं परन्तु ईसा की दसवी शताब्दी के बाद इन्हे निरुत्साहित किया जाने लगा। प्रतिलोम विवाह जिनमे उच्चतर वर्ण की स्त्री निम्नतर वर्ण के पुरुष से विवाह करती है निषिद्ध थे और इस प्रकार के विवाहो से उत्पन्न सन्तान को चारो वर्णों मे सम्मिलित नही किया जाता था और वे चाण्डाल या निषाद कहलाते थे। क्योंकि कुछ जातियो का मूल इस प्रकार के निषिद्ध विवाह ही समझे जाते हैं इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के विवाह बहुत असाधारण नही थे। पर ऋग्वेद मे हमे अन्तर्जातीय विवाहो के अनेक उदाहरण मिलते हैं। वर्णों के बीच सांस्कृतिक अन्तर धीरे-धीरे घटते जा रहे हैं अन्तर्जातीय विवाह फिर अधिक संख्या मे होने लगेंगे और यह नही कहा जा सकता कि इनसे हिन्दू धर्म की आत्मा को चोट पहुचती है। चाणक्य कहता है कि वधू किसी भी जाति या सम्प्रदाय म से चाहे वह नीचा ही क्यो न हो चुनी जा सकती है। कुछ शिलालेखो म लिखा है कि हिन्दू राजाओं ने विदेशी राजकुमारियो से विवाह किया था।[2] मनु यह अनुमति देता है कि यदि कन्या स्त्रियो मे रत्न के समान हो तो पुरुष को उसे नीच और बुरे कुल मे से भी ग्रहण कर लेना चाहिए।[3] 'महानिर्वाणतन्त्र' मे शैव विवाह' का उल्लेख है और इस विवाह के लिए केवल दो शर्तें बताई गई हैं एक तो स्त्री विवाह के लिए निषिद्ध श्रेणियो मे से (सपिण्ड) न हो और दूसरे उसका कोई पति

---

१ जब एक अपरिचित महिला ने बर्नार्ड शा के सामने प्रस्ताव रखा 'आपमें संसार में सबसे अधिक बुद्धि है और मेरा शरीर सबसे अधिक सुन्दर है इसलिए हमें मिलकर सबसे अधिक खूब सन्तान उत्पन्न करनी चाहिए' तो शा ने उत्तर दिया 'पर यदि सन्तान में मेरा शरीर आया और तुम्हारा बुद्धि तो क्या होगा ?'

२ देखिए काणे 'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र' खण्ड २ भाग (१९४१) पृष्ठ ६ ६

३ विषादप्यमृत ग्राह्य मेध्यादपि च काञ्चनम्
नीचादप्युत्तमा विद्या स्त्रीरत्न दुष्कुलादपि।

४ वयोजातिविचारोऽत्र शैवोद्वाहे न विद्यते
असपिण्डा भर्तृहीना उद्वहेच्छम्भुशासनात्।

न हो। आयु और जाति के विषय में कुछ सोचने की आवश्यकता नहीं है।[1] इस प्रकार के नियम से अन्तर्जातीय विवाहों और विधवा-विवाहों का औचित्य सिद्ध होता है। वर्तमान व्यवस्था में सिविल विवाह अधिनियम का विस्तार इस प्रकार कर दिया जाना चाहिए, जिससे विभिन्न धर्मोंवाले स्त्री-पुरुषों के विवाह भी उसके अन्तर्गत आ जाए, और उनसे औपचारिक रूप से धर्म-त्याग की माग की जाए, जैसी कि इस समय की जाती है।

बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व

पत्नी को पत्नी इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसे पति के समान अधिकार प्राप्त रहते हैं।[1] दम्पति का अर्थ यह है कि पति और पत्नी दोनों परिवार के संयुक्त रूप से मालिक हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उनके बीच में कोई तीसरा नहीं हो सकता। एक विवाह आदर्श है और नैतिकता के दो असम प्रमाप नहीं हो सकते। शिव और पार्वती, राम और सीता, नल और दमयन्ती, सत्यवान और सावित्री के उदाहरणों की भारतीय जनता के मन पर गहरी छाप लगी है।

बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व दोनों निषिद्ध थे फिर भी कुछ विशेष दशाओं में दोनों की ही अनुमति थी। बहुपतित्व की प्रथा कुछ खास जातियों में ही प्रचलित थी।[2] इस विषय में प्रसिद्ध उदाहरण द्रौपदी का है जिसका विवाह पाच पाडव भाइयों से हुआ था। उसका पिता इस प्रस्ताव को सुनकर स्तब्ध रह गया था और उसने कहा था कि यह धर्म विरुद्ध है (लोकधर्म विरुद्ध) परन्तु युधिष्ठिर ने कहा था कि यह पारिवारिक परम्पराओं के अनुकूल है और सब मामलों में यह जान पाना कठिन होता है कि उचित क्या है।[3] इसे उचित सिद्ध करने के लिए अनेक युक्तियां प्रस्तुत की गई हैं और 'तन्त्रवार्तिक' तो इस सीमा तक जाता है कि यह इस विवाह के होने से ही इनकार करता है और इसे इस आलंकारिक रूप में ग्रहण

---

१ ३ ११
स्वस्थो तद्विकारात् ।
तुलना कीजिए
नाध्यात्मे स्मृतिकर्मे च पूर्वकर्मैश्च सूरिभिः
दारार्थं स्मृता भार्या पुरुषानुवर्तने सदा,
यस्य मोक्षणे भार्या देवार्थं तस्य दीयते
न समर्थेतरादि तु धर्मेण स्मृत्यानुसार ।

२ ... का कहना है कि कुछ जातियों में एक स्त्री का विवाह पूरे परिवार के साथ कर दिया जाता था। (...) विवाह दो परिवारों के बीच हुआ अनुबन्ध (कॉन्ट्रैक्ट) है। (...) । ... ने इस प्राचीन प्रथा का उल्लेख करते हुए कहा है कि यह ... से मिलता है।

सूक्ष्मो धर्मो महाराज नास्य विद्मो वयं गतिम्
पूर्वेषामानुपूर्व्येण यातं वर्त्मानुयामहे ।—महाभारत १ १९५-२९

पति के प्रति स्त्री की एक प्रकार की दासता हुई। इस प्रकार की अतिरंजित शिक्षा द्वारा वह पतिव्रत धर्म की उच्चता स्थापित करने का प्रयत्न करता है। यह भी ठीक है कि जो पति अपनी पत्नियों के प्रति निष्ठाशील नहीं हैं उनकी भी कठोर भर्त्सना की गई है। आपस्तम्ब का कथन है कि उन्हें गधे की खाल उढ़ाकर उनसे भिक्षा मंगवानी चाहिए। परन्तु व्यवहार की परम्परा स्त्रियों के प्रति निष्ठुर रही है। विधुरों और विधवाओं के साथ होनेवाले व्यवहार में भी अन्तर है। पत्नी के मर जाने पर पुरुष को इस आधार पर फिर विवाह करने की अनुमति मिल जाती थी कि वह दुबारा विवाह किए बिना धार्मिक कर्तव्य पूरे नहीं कर सकता हालांकि धार्मिक कर्तव्यों को करने के लिए पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि विधुर पत्नी के न होने की दशा में भी यज्ञ कर सकता है। श्रद्धा या भक्ति उसकी पत्नी का कार्य करेगी।[1] विष्णु का मत है कि मृत पत्नी की प्रतिमाओं को काम में लाया जा सकता है। रामायण में बताया गया है कि राम ने सीता की मूर्ति पास रखकर यज्ञ पूरा किया था।

विधवाओं की स्थिति

ऋग्वेद के समय से जिसमें हम विधवाओं के पुनर्विवाह का उल्लेख मिलता है, बाद में विधवाओं की स्थिति में काफी अन्तर पड़ गया है। किसी स्त्री के एक ही समय में दो पति होना अकल्पनीय है। याज्ञवल्क्य ने जो यह सलाह दी है कि उस स्त्री से विवाह करना चाहिए "जो उस समय तक किसी पुरुष की न रही हो" उसके मूल में पूर्व परिणीता स्त्री से विवाह करने की अनिच्छा की भावना ही है। परन्तु महाकाव्यों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहां यह भावना सक्रिय नहीं हुई। जयद्रथ द्रौपदी को अपनी पत्नी बनाना चाहता था। विष्णु ने एक राजा को मारकर उसकी पत्नी से विवाह किया था जिससे उसका एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था। दमयन्ती के दूसरे स्वयंवर में राजा ऋतुपर्ण उससे विवाह करने

साथ ही तुलना कीजिए,

दु:शील: कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जित:
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पति: ।—रामायण २.११७-२४

१ ७-९-२

२. [illegible] ६.१.४१ [illegible] १.१२। एक स्त्री अप्सराओं से पूछकर कहती है "मुझे [illegible] पर कौन [illegible] है जैसे [illegible] अपने [illegible] को [illegible] है?" (कोई [illegible])। साथ ही [illegible] से तुलना कीजिए, "जब कोई पूर्वपरिणीता फिर दूसरे पति से विवाह करती है तब यदि वह [illegible] और [illegible] का दान करे तो वे [illegible] कभी [illegible] नहीं होते। दूसरा पति जब अपनी [illegible] के साथ साथ [illegible] और [illegible] का दान करता है तब वह अपनी पूर्वपरिणीता पत्नी के साथ उसी लोक में पहुंचता है।"—१ [illegible]

३ -२१

को उत्सुक था जबकि उसे यह मालूम था कि वह नल की पत्नी थी। सत्यवती के पति की मृत्यु के कुछ ही समय बाद राजा उग्रायुध ने उससे विवाह करना चाहा था। अर्जुन ने नाग राजा ऐरावत की विधवा कन्या से विवाह किया था उससे उसका एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था। जातकों में भी इस प्रथा के कई संकेत मिलते हैं। कोशल के राजा ने बनारस के राजा को मार डाला और उसकी विधवा रानी को जो पहले से ही मा थी अपनी पत्नी बना लिया।[1] उन्म जातक मे एक स्त्री अपने भाई को जिसे उसके पति और पुत्र के साथ मृत्युदण्ड का आदेश हुआ था, छुड़ाने के लिए प्रार्थना करते हुए कहती है कि इन तीनो मे से उसे नया पति मिल सकता है और नया पुत्र भी मिल सकता है, परन्तु नया भाई उसे किसी प्रकार नही मिल सकता। कौटिल्य अपने 'अर्थशास्त्र' मे लिखता है 'पति की मृत्यु के बाद जो स्त्री धार्मिक जीवन बिताना चाहे, उसे तुरन्त म केवल उसकी स्थायी निधि धनराशि और आभूषण दे दी जाएगी अपितु यदि उसका दहेज का कोई अंश अभी उसे मिलना शेष होगा वह भी दे दिया जाएगा यदि वह दुबारा विवाह करना चाहे तो विवाह के अवसर पर उसे वह सब कुछ दे दिया जाएगा जो उसके ससुर या पति या दोनो ने उसे दिया होगा। यदि कोई विधवा किसी ऐसे पुरुष से विवाह करना चाहे जो उसके ससुर द्वारा चुने हुए पुरुष से भिन्न हो तो स्त्री को अपने ससुर और पति द्वारा दी गई वस्तुए पाने का अधिकार न होगा।'[2]

स्मृति ग्रन्थो मे हमे विधवाओ के पुनर्विवाह का विरोध बढ़ता दिखाई पड़ता है। आपस्तम्ब नियम बनाता है कि "यदि कोई पुरुष एक बार पहले विवाहित स्त्री के साथ या अपने से भिन्न जाति की स्त्री के साथ रहेगा तो वे दोनो पाप के भागी होंगे।"[3] स्पष्ट है कि उस समय अन्तर्जातीय विवाह और विधवाओ के विवाह दोनो ही हुआ करते थे। मनु को इस प्रकार के विवाहों का ज्ञान था क्योकि वह इस बात का उल्लेख करता है कि पुन विवाहित विधवा से उत्पन्न (पुनर्भव) ब्राह्मण पिता का पुत्र अब्राह्मण नही हो जाता यद्यपि उसे व्यापारजीवी ब्राह्मण के समकक्ष माना जाएगा। गौतम विधवा विवाहो के अस्तित्व को स्वीकार करता है क्योकि वह विधवा के पुत्र को, जो दूसरे पति से उत्पन्न हुआ हो वैध उत्तराधिकारियो के अभाव मे अपने पिता की एक चौथाई सम्पत्ति उत्तराधिकार

१ 'मध्यकाल भारत' लाल दा 'कुणाल जातक' की टिप्पणी।

२ 'कुणाल स्मारक ग्रन्थ' (१६४) मा पेज के दत्त ने अपने लेख 'प्राचीन भारत में विवाह' में अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

३ १ २

४ २-६ ११-४

५ ३-१ १

मे पाने का अधिकार देता है।[1] वसिष्ठ और विष्णु[2] की दृष्टि मे विवाहित विधवा के दूसरे पति से उत्पन्न पुत्र का उत्तराधिकार दृष्टि से स्थान बारह प्रकार के पुत्रो मे प्राथमिकता की दृष्टि से चौथा है और वह गोद लिए हुए पुत्र की अपेक्षा अच्छा माना गया है। थोड़ी-सी अवधि के लिए विधवाओ को कठोर जीवन बिताने का आदेश दिया गया है। 'मृत पुरुष की विधवा पत्नी छः महीने तक जमीन पर सोए और धार्मिक कृत्य करती रहे ... 'उसके बाद उसका पिता उसको मृत पति के लिए सन्तान उत्पन्न करने के कार्य मे नियुक्त करेगा।'[3] स्त्रियो के पुनर्विवाह के विषय मे वसिष्ठ ने बहुत उदार नियम बनाए है। यदि किसी कन्या का बल पूर्वक हरण किया गया हो और उसका धार्मिक विधि से विवाह सस्कार न हुआ हो तो उसका विवाह वैध रूप से दूसरे व्यक्ति के साथ किया जा सकता है वह ठीक कुमारी कन्या की तरह है। यदि किसी कन्या का अपने मृत पति के साथ केवल मन्त्र-पाठ द्वारा विवाह हुआ हो और यौन सम्भोग द्वारा विवाह निष्पन्न न हुआ हो तो उसका दुबारा विवाह किया जा सकता है।[4] अमितगति अपनी 'धर्म परीक्षा' (१ १४ ईस्वी) मे विधवा-विवाहों का उल्लेख करता है। 'यदि एक बार स्त्री का विवाह हो भी गया हो और दुर्भाग्य से उसका पति मर जाए, तो उसका दुबारा विवाह-सस्कार कर देना चाहिए बशर्ते कि मृत पति से उसका यौन सयोग न हुआ हो। जब पति घर से बाहर चला गया हो तब साध्वी स्त्री को यदि उसके पहले ही कोई सन्तान हो चुकी हो तो आठ साल उसकी प्रतीक्षा करनी चाहिए और यदि सन्तान न हुई हो तो चार साल। यदि इस प्रकार उचित कारण होने पर स्त्री पाच बार नये पति स्वीकार करे, तो उसे पाप नही लगता। यह बात व्यास आदि ने कही है।'[5] जहा विधवाओ को विवाह की अनुमति दी गई है, वहा मनु आदि का विचार है कि तपस्या का जीवन विधवाओ के लिए आदर्श जीवन है। यहा तक कि पराशर भी जो विधवाओ के पुनर्विवाह को वैध मानता है

१ १६-८
२ १७ १
३ १७-७
४ वसिष्ठ १७-२१ ५६। साथ ही देखिए बौधायन ४-२ ४-७—६
५ १७ साथ ही देखिए बौधायन' ४ १ १७—१
६ सकृत परिणीतापि विपन्ने दैवयोगत
भर्तर्यक्षतयोनि स्त्री पुन सस्कारमर्हति
प्रतीक्ष्याष्ट वर्षाणि प्रसूता वनिता सति
अप्रसूता च चत्वारि प्रोषिते सति भर्तरि
पचस्वेषु गृहीतेषु कारणे सति भर्तृषु
न दोषो विद्यते स्त्रीणा व्यासादिवचन यथा
देखिए, आर जी भण्डारकर के सकलित ग्रन्थ खण्ड २ (१६१) पृष्ठ ११२
७ कालत्रय १ अ। पराशर ४ ३१ और ३२ १४

विधवा नहीं हैं जिनके पति अच्छे हैं अपनी आंखों में अंजन लगाए हुए प्रविष्ट हों अश्रुहीन रोगहीन और आभूषणों से भूषित वे मकान में पहले (अग्रे) प्रवेश करें।"[1] यह ऋचा विधवाओं को संबोधित करके कही गई नहीं हो सकती अपितु एकत्रित हुई स्त्रियों को संबोधित करके कही गई है और अग्रे (पहले) के स्थान पर अग्ने (आग में) शब्द रख देने से इसका अर्थ विकृत हो गया है। सम्भवत यह प्रथा इंडो-जर्मनिक जाति में प्रचलित थी और वहां से इंडो-आर्यन जाति में आ गई। पर यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद की दृष्टि में यह अनुचित थी। यह प्रथा भारत में प्रचलित थी इस विषय में यूनानी प्रमाण उपलब्ध हैं और 'विष्णु स्मृति' इसकी प्रशंसा करती है। यह प्रथा केवल राजा लोगों में ही प्रचलित थी। महाभारत में सती प्रथा के दो उदाहरणों का उल्लेख है। माद्री अपने पति पाण्डु की चिता पर उसके साथ ही जलकर सती हो गई थी।[2] वसुदेव की पत्नियां अपने पति के शव के साथ जल मरी थीं। राजाओं में भी सती-प्रथा साधारण बात नहीं थी। कुरु वंश की विधवाओं ने अपने पतियों के शवों का दाह-संस्कार करने के बाद यथोचित रीति से श्राद्धकर्म किया था। ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में जब शकों ने इस देश पर आक्रमण किया और भीषण उत्पात मचाया तब राज परिवारों ने अपनी स्त्रियों के सम्मान की रक्षा के लिए इस प्रथा का अवलम्बन किया। हिन्दू आचार संहिताओं में विभिन्न जातियों के व्यवहारों और उनकी जीवन पद्धतियों का सङ्कलन है जिनमें से सभी ब्राह्मण संहिताओं को अपनाने की अभिलाषा रखती हैं। निरामिष भोजन और विधवाओं का विवाह न करने के विषय में निम्नतम जातियां भी उच्चतम जातियों का अनुकरण करती हैं। मध्य काल में वृद्धि होने के साथ-साथ सती प्रथा की घटनाओं में भी वृद्धि हुई पर सारे समय बीच-बीच में प्रतिवाद भी किए ही जाते रहे। बाणभट्ट अपनी

१ इमा नारीरविधवा सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवा सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे।

इसे अथर्ववेद से एक ऐसा वैदिक काल से पूर्व की प्रथा का संकेत मिलता है जिसके अनुसार पत्नी का मृत पति के शव के साथ दाह-संस्कार कर दिया जाता था।

इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतं धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं च धेहि ।—? १ ?

यह स्त्री अपने पति के लोक को चुनकर तेरे पास लेटी है तू मर चुका है, जो सर्व पुराने धर्म का पालन करती हुई। इसे सन्तति और धन दो। बाद में इस के स्थान पर एक नया रूप आने लगा। स्त्री को अर्पित रहने दिया जाता था और वह दूसरा साथी चुन सकती थी। इसे केवल यह थी कि वह मृत पति की चिता पर लेटे जा कर। वैदिक अथर्ववेद १८-३-१

२ १ १२५ २९ ३१ १

३ अथर्ववेद १८-३-१८-२४

४ वही १७ सो वर्ष

के साथ विधवा का हाथ पकड़ लेता है : 'ओ नारी! उठ, तू उसके पास पड़ी है जिसका जीवन जा चुका है। अपने पति को छोड़कर जीवितों के संसार में लौट आ और उसकी पत्नी बन, जो तेरा हाथ पकड़े खड़ा है और प्रेमपूर्वक तुझे अपनाना चाहता है।'[1] इस प्रथा का संकेत महाभारत में भी मिलता है : 'जैसे स्त्री पति के मरने पर उसके भाई (देवर) से विवाह कर लेती है वैसे ही जब ब्राह्मण पृथ्वी की रक्षा करने में असमर्थ रहा तब पृथ्वी ने क्षत्रिय को अपना पति बना लिया।'[2] पति के भाई या किसी अन्य निकट सम्बन्धी के साथ संयोग द्वारा जो पुत्र अपने मृत पति के लिए उत्पन्न किया जाता है वह क्षेत्रज कहलाता है। नियोग का मुख्य प्रयोजन सन्तानोत्पादन था और पुत्र उत्पन्न होने के साथ ही इसकी अनुमति समाप्त हो जाती थी। जब विधवा का कोई पुत्र विद्यमान हो तो उसे पारिवारिक सम्पत्ति में से हिस्सा मिलता है। महाभारत में पाण्डु, धृतराष्ट्र और पांचों पाण्डव नियोग द्वारा ही उत्पन्न हुए थे।

क्योंकि यह प्रथा पवित्रता और यौन सम्बन्धों में स्थिरता के आदर्शों के साथ असंगत थी, इसलिए आपस्तम्ब और बौधायन ने इसका विरोध किया। मनु ने तो इसे पाशविक कहकर इसकी निन्दा की। यह उन प्रथाओं में से एक है जो हमारे युग में निन्दनीय मानी गई है। यद्यपि आर्यसमाज के प्रवर्तक दयानन्द सरस्वती ने नियोग की अनुमति दी, परन्तु उनके अनुयायियों ने विधवा-विवाह का सीधा मार्ग ही अपनाया।

सती-प्रथा या आत्म-बलि के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में कोई सीधा संकेत नहीं मिलता। गृह्य सूत्र, जिनमें घरेलू जीवन के महत्त्वपूर्ण संस्कारों (विधियों) का अन्त्येष्टि संस्कार समेत बहुत विस्तार से वर्णन है, इस विषय में बिलकुल मौन हैं। परवर्ती टीकाकारों और विधान-निर्माताओं ने सती-प्रथा के समर्थन में ऋग्वेद की एक ऋचा को उद्धृत किया है। उसका अर्थ इस प्रकार है : 'ये स्त्रियाँ जो

---

१ ऋग्वेद १०-१८-८; साथ ही देखिए १०-४०-२।

२ शान्ति पर्व ७२.११

३ वशिष्ठ धर्म १.६६

४ कलिवर्ज्य। पराशर द्वारा दी गई विधवाओं के पुनर्विवाह की अनुमति इस आधार पर व्यर्थ हो गई कि यह कलियुग है और कलियुग में ऐसा विवाह निषिद्ध है। लोकप्रिय पुस्तकों 'धर्म-सिन्धु' आदि में कलिवर्ज्य विषयक सम्बन्ध में यह मूल पाठ उद्धृत है :

अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्,
देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पंच विवर्जयेत्।

निरन्तर अग्नि रखनी, गोवध, संन्यास, श्राद्ध का [illegible] के अवसर पर मांस-भोजन और नियोग, ये पांच बातें कलियुग में निषिद्ध हैं। संन्यास पर से प्रतिबन्ध तत्पश्चात् में हटा दिया।

५ १०-१८-७ देखिए ऋग्वेद १०-१८-११; तैत्तिरीय-आरण्यक ६.१०-२

विधवा नहीं है, जिनके पति अच्छे है, अपनी आखों म अजन लगाए हुए प्रविष्ट हो अश्रुहीन रोगहीन और आभूषणों से भूषित ये मकान म पहले (अग्रे) प्रवेश करें।[१] यह ऋचा विधवाओं को सबोधित करके कही गई नहीं हो सकती अपितु एकत्रित हुई[२] स्त्रिया को सबोधित करके कही गई है और अग्रे (पहले) के स्थान पर 'अग्ने' (आग म) शब्द रख देने से इसका अर्थ विकृत हो गया है। सभवत यह प्रथा इण्डो जर्मनिक जाति म प्रचलित थी और वहा से इण्डो-आर्यन जाति म आ गई। पर यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद की दृष्टि म यह अनुचित थी। यह प्रथा भारत म प्रचलित थी इस विषय म यूनानी प्रमाण उपलब्ध हैं और 'विष्णु स्मृति' इसकी प्रशसा करती है। यह प्रथा केवल राजा लोगो म ही प्रचलित थी। महाभारत म सती प्रथा के दो उदाहरणों का उल्लेख है। माद्री अपने पति पाण्डु की चिता पर उनके साथ ही जलकर सती हो गई थी। वसुदेव की पत्निया अपने पति के शव के साथ जल मरी थी। राजाओ म भी सती प्रथा साधारण बात नहीं थी। कुरु कुल की विधवाओ ने अपने पतियो के शवो का दाह-सस्कार करने के बाद यथोचित रीति से श्राद्धकर्म किया था। ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियो म जब शको ने इस देश पर आक्रमण किया और भीषण उत्पात मचाया तब राज परिवारो ने अपनी स्त्रियो के सम्मान की रक्षा के लिए इस प्रथा का अवलम्बन किया। हिन्दू आचार सहिताओ म विभिन्न जातियो के व्यवहारो और उनकी जीवन पद्धतियो का सकलन है जिनमे से सभी ब्राह्मण सहिताओ को अपनाने की अभिलाषा रखती हैं। निरामिष भोजन और विधवाओ का विवाह न करने के विषय म निम्नतम जातिया भी उच्चतम जातियो का अनुकरण करती हैं। अव्य वस्था म वृद्धि होने के साथ-साथ सती प्रथा की घटनाओ मे भी वृद्धि हुई पर सारे समय बीच-बीच म प्रतिकार भी किए ही जाते रहे। बाणभट्ट अपनी

इमा नारीरविधवा सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सविशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवा सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे।

इसे अथर्ववेद में एक ऐसी वैदिक प्रथा से पूर्व की दशा का सकेत मिलता है, जिसके अनुसार पत्नी का मृत पति के साथ दाह-सस्कार कर दिया जाता था।

इय नारी पतिलोक वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्। धर्म पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजा द्रविण च धेहि। —१८-३-१

'यह स्त्री अपने पति के लोक को चुनकर तेरे पास लेटी हुई है, तू मिलकर चुका है, जो धर्म पुराने धर्म का पालन करती हुई। इसे सम्पत्ति और सन्तान दे।' बाद में सती के स्थान पर एक नया रूप आने लगा। स्त्री को जीवित रहने दिया जाता था और वह दूसरा साथी चुन सकती थी। शर्त केवल यह थी कि वह मृत पति की विधवा बन कर हो देखा जाए। वैदिक अथर्ववेद १८ २७-२८

२ १ १४६ ११ ११

३ अथर्ववेद १८ ३-१८-१

४ वही २० की व्य

की अविच्छेद्यता के सिद्धान्त के कारण समाप्त हो गई, जो संभवतः इसलिए बनाया गया था कि लोग बौद्ध धर्म द्वारा प्रसारित भिक्षु-जीवन की ओर आकर्षित न हों। जिस समय उच्चतर वर्णों में तलाक निषिद्ध भी था, उस समय भी अन्य वर्णों को तलाक का विशेषाधिकार प्राप्त था। ईसा से पूर्व के काल में समाज के सभी वर्गों में तलाक और पुनर्विवाह होते थे। वात्स्यायन जब यह कहता है कि "निम्नतर जाति की स्त्री या दुबारा विवाहित स्त्री से संयोग न तो वांछनीय है और न निषिद्ध ही है"[1] तब वह स्त्रियों के पुनर्विवाह को स्वीकार कर रहा होता है। दूसरे शब्दों में, यद्यपि मानवीय संस्था के रूप में विवाह एक पवित्र वस्तु है परन्तु ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं जिनमें पति-पत्नी को निरन्तर कष्ट से बचाने का एकमात्र उपाय विवाह-विच्छेद ही हो। दो व्यक्तियों का केवल इस कारण साथ रहकर दुखी रहना कि वे एक ऐसे बन्धन में बंध गए हैं जिसे मृत्यु ही तोड़ सकती है, हमारे सर्वोत्तम मन के प्रति पाप है। कभी-कभी यह धारणा पर गहरी चोट करता है। बच्चों की दृष्टि से भी यह भला है कि भिन्न माता-पिता साथ न रहें। हमारे कानून उन धर्म-सिद्धान्तों के प्रति आदर दिखाते हुए, जिन्हें कि अब हम नहीं मानते, हमारी बेरोक अभिलाषाओं के साथ भयंकर उत्पात करते हैं। दूसरे तौर पर तलाक की अनुमति देने से सामाजिक स्थिरता को क्षति पहुँचेगी। यह एक प्रश्न ही है कि पश्चिमी देशों में तलाक की अधिक सुविधाओं ने मानवीय आनन्द की कुल मात्रा में उल्लेखनीय वृद्धि की है या कम से कम मानवीय निरानन्द में कुछ कमी की है या नहीं। विवाह की पवित्रता पर गृहस्थ धर्म का व्यवहार, परिवार की प्रसन्नता और बच्चों का पालन-पोषण निर्भर है। यदि विवाह एक संस्कार है और केवल एक अनुबन्ध (ठेका समझौता) नहीं तो बहुत हस्तक्षेप से नहीं कर डालना चाहिए। यदि हम विवाह को एक संस्कार की दृष्टि से न, तो इसको सफल बना पाने का अवसर कहीं अधिक है। हिन्दू समाज में शताब्दियों से चला आ रहा मनोभाव स्त्रियों के पुनर्विवाह के विरोध में है।

कुछ हिन्दू जातियों में तलाक और पुनर्विवाह की अनुमति है। इन जातियों में तलाक के लिए आधार दुर्व्यवहार, निरन्तर कलह, पति की नपुंसकता या पहले विवाह ही में हुई कोई अनियमितता हैं। विधवाओं के दुबारा विवाह की और तलाक के बाद स्त्रियों के दुबारा विवाह की अनुमति देने में हम अपने प्राचीन शास्त्रकारों की भावना के अनुकूल ही कार्य कर रहे हैं। वे डी. मैन लिखता है

1. न शिष्टो न प्रतिषिद्ध ।—कामसूत्र १-५ ३

2. मिल्टन से तुलना कीजिए : जो भी कोई विवाह को या अन्य किसी भी विवाह को मनुष्य की भलाई से ऊंचा स्थान देता है, वह चाहे अपने-आपको रोमन कैथोलिक कहे चाहे प्रोटेस्टेंट या कुछ और, पर वह फरीसी से अधिक कुछ नहीं है

"तलाक के बाद या विधवा होने के बाद स्त्रियों के पुनर्विवाह के निषेध के लिए प्राचीन हिन्दू कानूनों या प्रथाओं में कोई आधार नहीं मिलता। प्राचीन लेखकों ने उन स्त्रियों के जो किसी उचित कारण से अपने पतियों को छोड़ चुकी हैं, या जिन्हें उनके पतियों ने त्याग दिया है या जिनके पति मर गए हैं पुनर्विवाह की बहुत स्पष्ट रूप से अनुमति दी है।[1]

आज तो स्थिति यह है कि पति को तो एक के बाद एक अनेक विवाह करने की स्वतंत्रता है परन्तु स्त्री को उस दशा में भी दूसरा विवाह करने की स्वाधीनता नहीं है जबकि वह पति द्वारा त्याग दी गई हो। जब पति पत्नी के मर जाने पर और कई बार उसके जीते जी पुनर्विवाह कर सकता हो तब विवाह के बन्धन को अविच्छेद्य नहीं माना जा सकता। प्रेमहीन विवाह और विवाह के बोझे अभिनय जिन्हें रूढ़िवादी परम्परा सहन करती आती है सच्ची आत्माओं को चोट पहुंचाते हैं। ऐसी अनेक परित्यक्ता पत्नियां हैं जिनके लिए दुख से छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं है। इनमें से अनेक को दूसरा विवाह करने के लिए, विवश होकर धर्म-परिवर्तन करना पड़ता है। यदि वे चाहें तो उन्हें पुनर्विवाह की अनुमति मिलनी चाहिए। तलाक के लिए उदारतापूर्ण कानून बना देना ही अपने आपमें काफी नहीं है। कुछ एक अप्रिय प्रसंग चुभने हुए कुछ शब्द वास्तविक या काल्पनिक अत्याचारों का लगातार चिन्तन स्वभाव का असामंजस्य इत्यादि का परिणाम भी पृथक्करण हो सकता है। परन्तु इन बातों को थोड़े-से त्याग और समझौता (बैठ-बिठाव) द्वारा ठीक किया जा सकता है जिसे तलाक के आसान कानून प्रोत्साहन नहीं देते। बोल्शेविक क्रांति के प्रारम्भिक दिनों में विवाह जैसी बातें बाकी अस्तित्व नहीं रह गए थे क्योंकि पहले के तलाक के लिए केवल पृथक होने के इरादे को प्रकाशित (प्रकट) कर देना ही काफी था। फिर भी पति-पत्नी को इस बात की छूट थी कि फिर समझौता कर पाने की आशा में वे एक-दूसरे के साथ रहते रहें। एक युगल एक ही रजिस्ट्री दफ्तर में एक दिन में विवाह कर सकता था और उसी दिन तलाक भी ले सकता था। परन्तु अल्पकालीन विवाह के आंकड़े इतने चिन्ताजनक हो उठे कि हाल में ही एक नया नियम लागू किया गया है जिसके अनुसार विवाह के पश्चात् एक निश्चित अवधि के बाद ही तलाक लिया जा सकता है—जहां तक मेरा ख्याल है कुछ सप्ताह बाद। विवाह की रजिस्ट्री

---

१ हिन्दू लॉ इन इट्स सोर्सेज [illegible] पृष्ठ १०२

२ [illegible] — [illegible]

'कादम्बरी' में कहता है कि "यह अविचारितों द्वारा अपनाया जानेवाला मार्ग है, यह मूढ़ता का प्रदर्शन है, अज्ञान का पथ है, मूर्खता और अदूरदर्शिता का कार्य है और मन्द बुद्धि में भटकना है कि माता पिता भाई मित्र या पति के मरने पर एक जीवन को समाप्त कर दिया जाए। यदि ठीक प्रकार सोचा जाए, तो यह आत्महत्या एक स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से की जा रही होती है, क्योंकि इसका उद्देश्य शोक के असह्य कष्ट को पकड़ने से ही रोक देना होता है।" मनु का टीकाकार मेधातिथि सती प्रथा की निन्दा करते हुए कहता है कि यह तो आत्महत्या है, धर्म नहीं।[1] शिवा के प्राचीन ग्रन्थ में लिखा है 'गो मातम' में सतियां नहीं हैं जो आग में जल मरती हैं, सतियां तो वे हैं जो टूटा हुआ दिल लेकर भी जीवित रहती हैं। जब प्रेमी बाला रहे तो सम्भव है कि गहरा प्रेम आत्मस कम्पित हो जाए, और ऐसे मामलों में व्यक्ति मरने पर उतर आ सकता है। परन्तु यह बात किसी एक देश या जाति की ही विशेषता नहीं है। पश्चिमी विचारों द्वारा लाई गई सामाजिक चेतना के जागरण का ही यह सुपरिणाम था कि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और राजा राम मोहन राय ने सन् १८५६ में एक आवश्यक कानून पास करवाया, जिसके द्वारा कुछ विशेष दशाओं में विधवाओं के पुनर्विवाह की अनुमति दी गई। यह बात वैदिक परम्परा और व्यवहार की भावना के अनुकूल है।

तलाक (विवाह विच्छेद)

हम पत्नी के जीते जी पुरुषों के पुनर्विवाह की व्यवस्था का उल्लेख पहले कर आए हैं। ऋग्वेद में कहा गया है कि एक पुरुष कई पत्नियां रख सकता है, परन्तु एक स्त्री के कई पति नहीं हो सकते। दूसरे शब्दों में, पुरुष एक ही समय में एक से अधिक पत्नियां रख सकता है, परन्तु स्त्री एक समय में एक से अधिक पति नहीं कर सकती, यद्यपि वह अलग-अलग समयों में एक से अधिक पति कर सकती है। कुछ खास दशाओं में स्त्री को पुनर्विवाह की भी अनुमति दी गई है। "प्रवास में गए पति के लिए स्त्री पांच वर्ष तक प्रतीक्षा करे। पांच वर्ष बीत जाने के बाद वह दूसरा

१ [illegible]
[illegible] मुदित [illegible]
[illegible] ।
[illegible] है कि यह [illegible] के वर्णन का केवल [illegible] रूप ही था।
२ [illegible] के विद्रोह में [illegible] और [illegible] हो गया था तब वह विद्रोही [illegible] और [illegible] से [illegible] था [illegible] "मुझे भी [illegible] दो [illegible] मर चुका है [illegible] [illegible] और [illegible] की [illegible] की तुलना में [illegible] भी गई है।
३ [illegible] ।

पति कर सकती है।[1] नारद स्मृति में कहा गया है "जब पति भाग जाए, या मर जाए, या सन्यासी हो जाए, या नपुंसक हो या जाति-भ्रष्ट हो गया हो, इन पांच दशाओं में स्त्री दूसरा पति कर सकती है। ब्राह्मण स्त्री विदेश गए पति के लिए आठ वर्ष तक प्रतीक्षा करे। यदि अब तक उस स्त्री की कोई सन्तान न हुई हो तो वह केवल चार साल प्रतीक्षा करे। इस अवधि के बाद वह दूसरे पुरुष से विवाह कर सकती है। क्षत्रिय स्त्री यदि सन्तानवती हो तो छः मास और यदि सन्तान वती न हो तो तीन साल प्रतीक्षा करे। सन्तानवती वैश्य स्त्री चार साल और सन्तानहीन दो साल प्रतीक्षा करे। शूद्र स्त्रियों के लिए प्रतीक्षा करने के विषय में कोई नियम नहीं है। यदि यह सुनने में आए कि विदेश में पति जीवित है तो प्रतीक्षा की अवधि दुगुनी होगी। यह प्रजापति का आदेश है।"[2] यदि पांच साल बाद पति के लौटने पर स्त्री उसके पास न जाना चाहे तो वह उसके किसी निकट सम्बन्धी से विवाह कर सकती है। धर्मसूत्र तो ब्राह्मण स्त्री को पांच वर्ष तक प्रतीक्षा करने को कहते हैं पर कौटिल्य ने इस प्रतीक्षा की अवधि को घटाकर केवल दस महीने कर दिया है। वशिष्ठ और नारद का अनुकरण करते हुए कात्यायन का यह मत है कि 'यदि वर भिन्न जाति का हो, जाति से बहिष्कृत हो, नपुंसक हो, दुराचारी हो, समान गोत्र का हो, दास हो, चिर-पंगु (रोगी) हो तो वधू का भले ही उसका विवाह हो भी चुका हो दूसरे पुरुष से विवाह कर दिया जाना चाहिए। अत्यन्त परिचित श्लोक

> नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ
> पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।[3]

में कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में पुनर्विवाह की अनुमति दी गई है। कौटिल्य लिखता है कि यदि पति दुश्चरित्र हो या बहुत समय से विदेश गया हुआ हो या राजद्रोह का अपराधी या अपनी पत्नी के लिए खतरनाक हो या जाति से बहिष्कृत कर दिया गया हो या पुंसत्व शक्ति खो चुका हो तो उसकी पत्नी उसे त्याग सकती है।[4] जो पति-पत्नी एक-दूसरे के साथ रह पाना असम्भव समझते हैं उनके पृथक्करण के लिए उसने विस्तृत अनुदेश (हिदायतें) दिए हैं पर उसने यह विवाहाधिकार केवल उन्हीं लोगों को दिया है जिनका विवाह आसुर, गान्धर्व, राक्षस या पैशाच रीति से हुआ हो। पृथक्करण और तलाक की अनुमति विवाह

---

१ वशिष्ठ ७
  वही १९ ११
३ वही १०-१७
  १ ४
५ भारत के [illegible] [illegible]
६ पराशर ४ [illegible] १ ७-२ [illegible] ११-२। नारद १२-९७
७ अर्थशास्त्र ३ २

"चाहे तलाक के बाद या विधवा होने के बाद स्त्रियों के पुनर्विवाह के निषेध के लिए प्राचीन हिन्दू कानूनों या प्रथाओं में कोई आधार नहीं मिलता। प्राचीन लेखकों ने उन स्त्रियों को, जो किसी उचित कारण से अपने पतियों को छोड़ चुकी हैं, या जिन्हें उनके पतियों ने त्याग दिया है, या जिनके पति मर गए हैं पुनर्विवाह की बहुत स्पष्ट रूप से अनुमति दी है।"[1]

आज तो स्थिति यह है कि पति को तो एक के बाद एक अनेक विवाह करने की स्वतंत्रता है परन्तु स्त्री को उस दशा में भी दूसरा विवाह करने की स्वाधीनता नहीं है जबकि वह पति द्वारा त्याग दी गई हो। जब पति पत्नी के मर जाने पर और कई बार उसके जीते जी पुनर्विवाह कर सकता हो तब विवाह के बन्धन को अविच्छेद्य नहीं माना जा सकता। प्रेमहीन विवाह और विवाह के थोथे अभिनय जिन्हें रूढ़िवादी परम्परा सहन करती आती है सच्ची आत्माओं को चोट पहुंचाते हैं। ऐसी अनेक परित्यक्ता पत्नियां हैं जिनके लिए दुःख से छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं है। इनमें से अनेक को दूसरा विवाह करने के लिए, विवश होकर धर्म-परिवर्तन करना पड़ता है। यदि वे चाहें तो उन्हें पुनर्विवाह की अनुमति मिलनी चाहिए। तलाक के लिए उदारतापूर्ण कानून बना देना ही अपने आपमें काफी नहीं है। कुछ एक अप्रिय प्रसंग चुभते हुए कुछ शब्द वास्तविक या काल्पनिक अन्याय या अत्याचार विभ्रम स्वभाव का असामंजस्य इत्यादि का परिणाम भी पृथक्करण हो सकता है। परन्तु इन बातों को थोड़े-से त्याग और समझ (मेल-मिलाप) द्वारा ठीक किया जा सकता है जिसे तलाक के आसान कानून प्रोत्साहन नहीं देते। बोल्शेविक क्रांति के प्रारम्भिक दिनों में विवाह वैसी बाधक वस्तु नहीं रह गए थे क्योंकि पहले थे तलाक के लिए केवल पृथक् होने के इरादे को प्रख्यापित (प्रकट) कर देना ही काफी था। फिर भी पति-पत्नी को इस बात की छूट थी कि फिर समझौता कर पाने की आशा में वे एक-दूसरे के साथ रहते रहें। एक पुरुष एक ही रजिस्ट्री दफ्तर में एक दिन में विवाह कर सकता था और उसी दिन तलाक भी दे सकता था। परन्तु अस्थायी विवाह के भावके इतने विनाशजनक हो उठे कि हाल में ही एक नया नियम लागू किया गया है जिसके अनुसार विवाह के पश्चात् एक नियत अवधि के बाद ही तलाक दिया जा सकता है—जहां तक मेरा ध्यान है कुछ सप्ताह बाद। विवाह की रजिस्ट्री

---

1. हिन्दू लॉ एंड यूसेज [illegible] (११६)। पृष्ठ १८७

2. [illegible] "पुरुष और स्त्री का कोई अधिकार नहीं [illegible] एक प्रकार का [illegible] है। [illegible] एक-दूसरे का [illegible] कोई [illegible] है।" — १९१

कराने और तलाक के लिए व्यय भी थोड़ा ही होता है, केवल लगभग पाँच डालर।"[1]

सामान्यतया विवाह-सम्बन्ध को स्थायी समझा जाना चाहिए।[2] तलाक का आश्रय केवल उन अपवादिक कठिन मामलों में लिया जाना चाहिए, जहाँ विवाहित जीवन बिलकुल असम्भव हो गया हो। तलाक एक ऐसी उग्र औषध है जो व्यक्ति के अपने जीवन को तो जड़ से हिला ही देती है साथ ही दूसरों के जीवनों पर भी प्रभाव डालती है। हम बच्चों को विभक्त जीवन और विभक्त निष्ठा के दुष्प्रभावों के सम्मुख खुला छोड़ देते हैं। बच्चों के हित को दृष्टि में रखकर विवाह के बन्धन को स्थायी समझना चाहिए। विवेकशील माता पिता स्वयं काफी कष्ट सहकर भी अपने बच्चों को मनोवैज्ञानिक दबाव और स्नायु-क्षति से बचाने का यत्न करेंगे। जहाँ विवाह के बाद सन्तान न भी हुई हो, वहाँ भी तलाक बेरोक-टोक नहीं दे दिया जाना चाहिए। विवाह एक जुआखेल (द्यूत) भर नहीं है; यह आत्मा के जीवन का अंग है। जोखिम और कठिनाइयाँ मानव-जीवन का अंग हैं और हमें उन सबका सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए। हमें दो ऐसे मानव प्राणियों की भाँति और साथियों की भाँति मिलना चाहिए, जिनमें दोनों में ही अपने-अपने दोष हैं, दुर्बलताएँ हैं और एक-सी इच्छाएँ हैं और समंजन (मेल बिठाना) एक लम्बी प्रक्रिया है। कैथोलिक धर्म में विवाह के समय वर-वधू एक-दूसरे की ओर मुड़ते हैं और उनके सिर पर ताज और तलवार रखी जाती है। ताज इस मानवीय व्यवस्था की अपेक्षा एक उच्चतर व्यवस्था में उनके परम साहसपूर्ण विश्वास का प्रतीक है और तलवार इस बात की प्रतीक है कि ताज के कानून के प्रत्येक उल्लंघन का दण्ड उन्हें अनिवार्य रूप से भुगतना पड़ेगा। विवाह का संस्कार वाला दृष्टिकोण इस विश्वास के द्वारा कि प्रेम ही उस परम आधार की प्रेम योग्यता का चिह्न और प्रमाण है जिससे सब वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, हमसे यह माँग करता है कि हम जोखिमों का सामना करें और महान कार्य में हार कदापि न मानें। हम विवाह-सम्बन्ध में व्यक्ति की सम्पूर्णता के विकास के लिए, और इस

---

१ ब्रूस्टर हुक्स पेन टरिला। पृष्ठ १९५

२ विवाह की अविच्छेद्यता का उपदेश ईसा ने इन महान शब्दों में दिया है। "और फैरिसी (पाखण्डी यहूदी) लोग उसके पास आए और उसे फन्दे में फँसाने के लिए पूछने लगे कि क्या पुरुष के लिए अपनी स्त्री को त्याग देना उचित है? और उसने उत्तर में कहा, 'मूसा ने तुम्हें क्या आदेश दिया है?' और उन्होंने कहा, 'मूसा ने तो तलाक का और उसे छोड़ देने का कानून बनाया है।' और ईसा ने उत्तर दिया, 'तुम्हारे हृदय की कठोरता के कारण उसने तुम्हें ऐसा आदेश दिया है। परन्तु सृष्टि के आरम्भ से ही परमात्मा ने उन्हें नर और नारी बनाया है। इस कारण पुरुष अपने पिता और माता से अलग होकर पत्नी के साथ रहने लगता है, वे दोनों मिलकर एकशरीर हो जाते हैं, इसलिए वे दो नहीं रहते बल्कि एकशरीर हो जाते हैं। जिन्हें परमात्मा ने मिलाकर एक किया है, मनुष्य को उन्हें पृथक् नहीं करना चाहिए।' —सेंट मार्क, १०-११

वास्तविकता को अपनाने के लिए दीक्षित होते हैं जिसके अभाव में व्यक्ति या समाज दोनों के लिए ही कोई आनन्द नहीं है। इस परम्परागत दृष्टिकोण की भारतीयों पर अब भी मजबूत पकड़ है जिसमें सम्भवत संसार के अन्य किसी भी देश की अपेक्षा चिरस्थायी विवाह अधिक संख्या में होते हैं और पारिवारिक प्रेम कहीं अधिक सबल होता है। इसका श्रेय मुख्यतया भारतीय महिलाओं के जो गौरव दयालुता और शान्ति का चामत्कारिक स्वरूप हैं चरित्र को है। उनमें से अधिकांश का जीवन का उद्देश्य जीवन को सहन करना मात्र है। सर्वोच्च सत्ता में विश्वास के कारण नर-नारियों के मन में यह आशा रहती है कि सहिष्णुता का पुरस्कार अवश्य मिलेगा और विनम्रतापूर्वक कष्ट सहते जाने से पत्थर से पत्थर दिल भी पसीज जाता है। तलाक को सहन करना पुरुषों के लिए स्त्रियों की अपेक्षा कहीं अधिक सरल है क्योंकि पुरुष तो अपने-आपको कार्य में व्यस्त रखकर किसी सीमा तक घरेलू जीवन के उजड़ जाने को भूल सकता है परन्तु स्त्री के लिए तो यह सूनापन ही सूनापन है। बेड़ियों को उतार फेंकने से ही हमें उड़ने को पंख तो नहीं मिल जाते।

विवाह की अविच्छेद्यता का धर्म-सिद्धान्त अन्तिम प्रमाण नहीं है फिर भी यह आदर्श अवश्य है। इसका उल्लंघन केवल अत्यधिक अपवादरूप परिस्थितियों में ही होना चाहिए। बहुत-से नियम और प्रथाएं, जो किसी समय बहुत महत्त्वपूर्ण और आवश्यक थी आज अपना अर्थ खो चुकी हैं और अब वे केवल थोथा खोल ही खोल बन रह गई हैं। उनमें से कुछ को जो आत्मा का दम घोटनेवाली हैं समाप्त ही होना। हिन्दुओं में एकविवाह की स्थापना करने के लिए कानून कभी का बन चुकना चाहिए था। इस प्रकार का कानून केवल तभी न्यायोचित हो सकता है जबकि कुछ विशिष्ट दशाओं में विवाह को रद्द करने की अनुमति देनेवाला कानून भी स्वीकार कर लिया जाए। परित्याग स्वाभाविक क्रूरता व्यभिचार, पागलपन और असाध्य रोग केवल इनको ही विवाह को रद्द करने के लिए आधार माना जाना चाहिए पति या पत्नी दोनों में से कोई भी इन आधारों पर विवाह को रद्द करने की मांग कर सके। इस प्रकार का कानून एक स्वच्छ, स्वस्थ और सुखी जीवन स्थापित करने में जहां तक कानूनों द्वारा ऐसा हो पाना सम्भव है, सहायक होगा और ऐसा कानून हिन्दू-परम्परा की साधारण भावना से असंगत न होगा।

समाज-सुधार

हमारे सामाजिक विधान में कुछ अनियमितताएं (असंगतताएं) हैं। हिन्दू पुरुष जिसकी एक से अधिक पत्नियां हों ईसाई बनने के बाद भी यदि पत्नियां एतराज न करें तो उन्हें अपने पास रख सकता है हालांकि किसी ईसाई के लिए

इस समय में एक से अधिक पत्नियां रखना अपराध है। जब कोई हिन्दू मुसलमान बन जाता है तो उत्तराधिकार के विषय में उसपर मुस्लिम कानून लागू होता है या फिर वह यह प्रमाणित कर दे कि उसमें वहां कोई ऐसी प्रथा प्रचलित है जिससे यह प्रकट होता है कि उत्तराधिकार विषयक मुसलमानी कानून विभिन्न प्रकार का है तब मुस्लिम कानून उसपर लागू नहीं होगा। यदि कोई मुसलमान पति धर्म-परिवर्तन कर ले तो उसका विवाह रद्द हुआ समझा जाता है। यदि कोई हिन्दू ईसाई बन जाए, तो उसकी पत्नी उसके पास रहती है। यदि कोई ईसाई मुसलमान बन जाए तो वह अपनी पत्नी के जीते जी किसी अन्य स्त्री से विवाह कर सकता है जबकि यदि वह ईसाई रहते हुए दूसरा विवाह कर लेता तो द्विविवाह का दोषी होता। कोई हिन्दू अपनी पत्नी को तलाक नहीं दे सकता परन्तु यदि वह मुसलमान बन जाए तो तलाक दे सकता है। फिर, अनुलोम विवाहों को ४९ बम्बई और ८०१ तथा २५ बम्बई १ के मुकदमे में वैध और प्रामाणिकता माना गया था। परन्तु इस दृष्टिकोण को आल इंडिया रिपोर्टर १९४१ तथा मद्रास २११ में अस्वीकृत कर दिया गया। फिर विधवा-पुनर्विवाह-अधिनियम (१८५६ का १५वां अधिनियम) की धारा २ में कहा गया है कि विधवा के पुनर्विवाह के बाद पहले पति की जायदाद में उसका हिस्सा नहीं रहेगा। जब यह प्रश्न उठाया गया कि जिन विधवाओं को अपनी जाति में प्रचलित प्रथाओं द्वारा पुनर्विवाह की पहले से ही अनुमति है उनपर यह धारा लागू होती है या नहीं तो इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि यह लागू नहीं होती परन्तु दूसरे उच्च न्यायालयों का मत यह रहा कि यह लागू होती है। इसी प्रकार 'हिन्दू स्त्रियों को जायदाद का अधिकार-अधिनियम' के बारे में भी कुछ कठिनाइयां हैं। आवश्यकता इस बात की है कि स्वतन्त्रता और समानता की आधुनिक भावना के अनुकूल कानून की एक विधिबद्ध सामान्य प्रणाली तैयार की जाए, जो सारे समाज पर लागू होती हो। हिन्दू-विधि-समिति उत्तराधिकार और विवाह के कानूनों को विधिबद्ध करने का प्रयत्न कर रही है।

स्त्री को अबला अर्थात् दुर्बल कहा जाता है। जिस सभ्यता में शारीरिक बल ही निर्णायक तत्त्व था उसमें स्त्री की दुर्बल समझी की सबल पुरुषों के अत्याचार से रक्षा की आवश्यकता थी। अभी हाल तक भी यह माना जाता था कि स्त्रियां अपेक्षाकृत दुर्बल और सुकुमारी हैं और इसलिए उन्हें रक्षा की आवश्यकता है उनको जीविकोपार्जन करने की भी आवश्यकता नहीं थी क्योंकि वे जो काम घर पर करती थीं वह अन्य कार्यों की भांति ही महत्त्वपूर्ण होता था। जब तक घर मानव-जीवन का केन्द्र है तब तक स्त्री परिवार का सबसे महत्त्वपूर्ण सदस्य बनी

---

१ साथ ही देखिए ४१ मद्रास १९

२ १२ इलाहाबाद, १

रहेगी। परन्तु घर का स्थान धर्म -धर्मे होटल ले रहा है किसान की कुटिया का स्थान होटल के कमरो के घेट बते जा रहे हैं। हम एक आवारा जीवन बिता रहे हैं परन्तु हिन्दू आदर्श यह है कि परिवार को अटूट बनाए रखा जाए। मनुष्य की जड़ अपने देश में ही जमी होती है। भारतीय नारी माता है। यही वह बन्धा है जिसके लिए वह बचपन से ही लालायित रहती है। हाल के दिनों में स्त्रियो की आर्थिक स्वाधीनता पर बहुत काफी बल दिया गया है। हम मानना ही होगा कि आज भी विवाह और आश्रय देनेवाला घर सारे ससार की अधिकाश स्त्रियो के लक्ष्य हैं। यदि स्त्रिया नौकरी करके पैसा कमाने लगें तो उससे कोई बड़ा लाभ होने की सम्भावना नहीं है। घर के काम काफी भारी होते हैं इतने भारी कि स्त्रिया घर के कामो का नुकसान किए बिना कोई दूसरा धन्धा कर ही नहीं सकती। स्त्रियो को आर्थिक स्वाधीनता घर म ही मिल सके ऐसा उपाय खोजना होगा। इस बात के लिए यत्न होना चाहिए कि स्त्रियो को जायदाद के बारे में स्वामित्व उत्तराधिकार और जायदाद के निस्तारण के स्थावर और निजी दोनो प्रकार की जायदाद के वही अधिकार दिए जाने चाहिए, जो पुरुषो को है। स्त्रियों को जाय दाद के अधिकार देने के सम्बन्ध में कानून तुरन्त बनना चाहिए। हिन्दू धम म निराश्रितों और आश्रिता विशेष रूप स बच्चो बूढो और बूढ़ाओं की देखभाल पर विशेष ध्यान दिया गया है। आश्रित स्त्री का दायित्व पहले उसके परिवार पर है और फिर उसकी बिरादरी (कुल) पर। कौटिल्य म स्त्रियो के लिए काम धामाए खोलने का सुझाव रखा है और उनके भरण पोषण की जिम्मेदारी पुरुष सम्बन्धियो पर डाली है। पति की चल और अचल दोना प्रकार की सम्पत्ति म पत्नी का अधिकार उदारपूर्वक स्वीकार किया जाना चाहिए। शास्त्रों म कहा गया है कि पत्नी पति का आधा भाग है और जीवन के उद्देश्यो की साधना म उसकी सहचारिणी है। जब तक वह जीवित रहे तब तक उस अपने मृत पति की जायदाद पर अधिकार प्राप्त है। बृहस्पति के मतानुसार सन्तानहीन विधवाओ को पितृपक्ष के सम्बन्धियो से पहले पति की जायदाद पर उत्तराधिकार प्राप्त है। माता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार, यदि उसके कोई पुत्र न हो तो पुत्री को न होकर दौहित्र (पुत्री के पुत्र) को है इसम कुछ सशोधन किया जाना आवश्यक है। दौहित्र पिण्डदान करेगा क्योकि पुत्री नहीं कर सकती यह कोई बड़ी बाधा नहीं है। उत्तराधिकार म पुत्रो के साथ-साथ पुत्रियो का हक भी स्वीकार करना ही होगा।

विवाह के बारे में चाहे जो भी तर्क क्यो न हो विष्णु मानुत्व की रक्षा हर

---

१ २१

देखिए के वी रामस्वामी भारतार राजधर्म (१६ १), पृष्ठ २१

हालत में की जानी चाहिए।[1] माता पिता के दोषों के लिए बच्चों को दण्डित करना उचित नहीं है। सब बच्चे वैध हैं और कानून की दृष्टि में समान हैं।

पुराने समय में स्मृतिकार और उनके टीकाकार प्राचीन मूल ग्रन्थों में से यथोचित चुनाव और व्याख्या की प्रक्रिया द्वारा कानून को बदलते हुए समय की आवश्यकताओं के अनुसार ढालते रहते थे। अब उनका स्थान न्यायालयों और विधान बनानेवाले निकायों ने ले लिया है। न्यायालयों को व्याख्या करने की वैसी स्वतन्त्रता नहीं है, जैसी प्राचीन टीकाकारों को थी। अतः यदि कानून के विकास को रोकना अभीष्ट नहीं है तो विधानमण्डल (लेजिस्लेचर) को इसमें हस्तक्षेप करना ही होगा।[2]

---

१ हाल में जर्मनी में सैनिकों की ओर से ऐसे विज्ञापनों को प्रोत्साहन दिया जाता है जिनमें वे जर्मन स्त्रियों और लड़कियों से अनुरोध करते हैं कि वे उनके मोर्चे के लिए प्रस्थान से पहले उन सैनिकों के द्वारा मां बन जाएं। यद्यपि इस प्रकार के विज्ञापनों से अनियन्त्रित यौन सम्बन्ध बढ़ते हैं, परन्तु राज्य की दिलचस्पी इस बात में है कि जनसंख्या बढ़े।—'न्यू स्टेट्समैन' ६ मार्च १९४ पृष्ठ ८

२ १९५२ का विधेयक संख्या २१ अनिर्वसीयत-उत्तराधिकार और स्त्री-धन के सम्बन्ध में है और १९५२ का विधेयक संख्या २० विवाह के सम्बन्ध में है। इनमें से पहले विधेयक की धाराओं के अनुसार विधवा, पुत्र और पुत्री एकसमान उत्तराधिकारी माने गए हैं। विधवा और पुत्र को बराबर भाग मिलेगा परन्तु पुत्री को, चाहे वह विवाहित हो या अविवाहित चाहे उसके सन्तान हो या न हो उसका आधा भाग मिलेगा। जहां तक पूर्व-मृत पुत्र का प्रश्न है, यह व्यवस्था रखी गई है कि उसके पुत्र को उसके स्थान में पुत्र के पुत्र को उतना भाग मिलेगा जितना कि पूर्वमृत पुत्र को, यदि वह जीवित होता तो मिलता। परन्तु इसमें एक बड़ी गम्भीर चूक रह गई है कि पुत्रवधू का कोई ध्यान नहीं रखा गया जिसे सम्भवतः इस आधार पर वंचित रखा गया कि उसे अपने पिता की सम्पत्ति में हिस्सा दे दिया गया है। पूर्वमृत पुत्र की पुत्री का भी कोई ध्यान नहीं रखा गया है।

स्त्रियों को 'उत्तराधिकार या बंटवारे में मिली या विभाजन या निर्वाह-व्यय के लिए मिली या विवाह के पहले या बाद किसी सम्बन्धी या अपरिचित व्यक्ति से उपहार में मिली या अपने कौशल या श्रम द्वारा अर्जित या खरीदकर प्राप्त की हुई या किसी परम्परागत अधिकार से मिली या अन्य किसी भी ढंग से मिली हुई सम्पत्ति पर स्वामित्व का पूरा अधिकार, जिसमें निवर्तन (डिस्पोज़ल) का अधिकार भी सम्मिलित है, दिया गया है।

स्त्री-धन की परिभाषा ऐसी की गई है कि उसमें स्त्री की सब प्रकार की सम्पत्ति आ जाए। और यह व्यवस्था की गई है कि स्त्री-धन पर उत्तराधिकार में सबसे पहला हक पुत्री और उसके बच्चों का होगा। उनके अभाव में पुत्र और उसके बच्चों को उत्तराधिकार का हक होगा और उनके अभाव में पति का। स्त्री उत्तराधिकारियों को प्राथमिकता उस समय प्रचलित थी, जब पुरुषों की सम्पत्ति का उत्तराधिकार केवल पुरुषों को ही प्राप्त होता था। अब क्योंकि पुरुषों की सम्पत्ति में भी स्त्रियों को उत्तराधिकार दिलाने का यत्न किया जा रहा है, इसलिए स्त्री-धन के उत्तराधिकार के नियम भी पुरुषों की सम्पत्ति के अधिकार के नियमों से भिन्न न होने चाहिए।

विधेयक संख्या २० में विवाह के दो भेद किए गए हैं: संस्कार द्वारा किया गया विवाह और सिविल विवाह। इनमें से पहले प्रकार के विवाह में दोनों पक्ष हिन्दू होने चाहिए और विवाह के

देवदासियों या मन्दिर-कन्याओं का मूल चाहे कुछ भी क्यों न रहा हो किन्तु प्रथा के कारण जो वेश्यावृत्ति की प्रणाली शुरू हो गई है वह सरासर दूषित है और उसे समाप्त किया जाना चाहिए। सामाजिक पवित्रता के सभी समर्थकों ने इस प्रथा का विरोध किया है और मद्रास राज्य में तो यह कानून द्वारा निषिद्ध भी कर दी गई है। मिस्र, यूनान और रोम की प्राचीन सभ्यताओं में देवताओं के सम्मान में कुमारियों को समर्पित करने की प्रथा प्रचलित थी। ये लड़कियाँ बहुत असंयत जीवन बिताती हैं और यह संस्था एकाएक आकस्मिक रूप से नहीं उत्पन्न हुई, अपितु यह हमारे सामाजिक आचार नियमों और विवाह के कानूनों का आवश्यक अंग है। भारत में प्रत्येक मन्दिर में मध्यवर्ती पवित्रतम स्थान (गर्भगृह) के अतिरिक्त एक नाट्य मन्दिर, नृत्यशाला होती है। शिव पुराण में शिव मन्दिर के निर्माण के सम्बन्ध में नियम बताते हुए लिखा है कि उसमें नृत्य और गीत की कलाओं में प्रवीण हजारों उत्तम कन्याएं होनी चाहिए और उनके साथ बहुत-से तार वाद्यों (वीणा, सितार आदि) को बजाने में कुशल पुरुष संगीतज्ञ रहने चाहिए।[1]

कुछ लोग युक्ति देते हैं कि कुछ मामलों में तो विवाह भी वेश्यावृत्ति का ही एक रूप होता है पैसा लेकर यौन सामग्री प्रदान करने का धामद एक अपेक्षाकृत

समय किसीका भी जीवित पति या पत्नी नहीं होनी चाहिए। वे एक ही जाति के होने चाहिए; पर एक ही गोत्र या प्रवर के नहीं होने चाहिए। वे एक दूसरे के सपिण्ड भी न हों। यदि वधू की आयु पूरे सोलह वर्ष की न हुई हो, तो उसके अभिभावक पिता, माता, दादा, भाई या पितृपक्ष के किसी अन्य सम्बन्धी की या मामा की विवाह के लिए स्वीकृति मिलनी आवश्यक है। वर निषिद्ध कोटियों (डिग्री) में से न होना चाहिए। संस्कारात्मक विवाह की वैधता के लिए दो विधियाँ अनिवार्य हैं: अग्नि के सम्मुख मन्त्रपाठ और सप्तपदी—पति-पत्नी का अग्नि के सम्मुख साथ साथ सात कदम चलना। ज्यों ही सातवाँ कदम रखा या पूरा होता है, विवाह पूर्ण हो जाता है। यौन सम्भोग होना इसके लिए आवश्यक नहीं है।

सिविल विवाह में एक ही पक्ष हिन्दू हो, दूसरा पक्ष हिन्दू, बौद्ध, सिख या जैन हो सकता है। दोनों में से किसीके भी विवाह के समय जीवित पति या पत्नी न होनी चाहिए। पुरुष की आयु के १८ वर्ष पूरे हो चुके हों और स्त्री के १[illegible] वर्ष। यदि कोई भी पक्ष २१ वर्ष से कम आयु का हो, तो उसे विवाह के लिए अपने अभिभावक की स्वीकृति प्राप्त करनी चाहिए। दोनों पक्ष परस्पर निषिद्ध कोटियों के न हों। इस प्रकार के विवाहों पर भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम (१९२५) लागू होगा।

दोनों प्रकार के विवाहों में एकविवाह का सिद्धान्त लागू किया गया है। क्योंकि संस्कारात्मक विवाह में तलाक की अनुमति नहीं है इसलिए सम्भावना है कि सिविल विवाहों को अधिक अपनाया जाएगा।

1. [illegible] स्त्रीगणम् [illegible] नृत्यं [illegible] निवेदये
   [illegible] पुष्पैर्[illegible] तम्।

—'[illegible] संहिता' [illegible] १ [illegible]

यद्यपि लोकाचारसम्मत रूप — ऐसा रूप जिसे कानून, प्रथा और धर्म द्वारा पवित्र बना दिया गया है। अन्तर केवल यह है कि वेश्या जरा निम्न कोटि की है जो अपनी सेवाओं के लिए मजदूरी की बाजार दर—अर्थात् विवाह—से कम लेने को तैयार हो जाती है। आर्थिक आश्रय के लाभ के लिए स्त्री अपना यह काम छोड़ देती है और अपने उस निजी व्यक्तित्व का त्याग देती है जिसका वह अविवाहित व्यक्ति के रूप में आनन्द अनुभव करती थी। एक बार अपने शरीर और अपने गुणों को अधिकतम प्राप्त होने योग्य कीमत के बदले बेचने के बाद वे बिना कुछ शिकायत किए उस सौदे पर टिकी रहती हैं, भले ही वे मन में चुपचुप कितनी ही व्यथा क्यों न अनुभव करती हों। बहुत-से लोग अपनी पुत्रियों को जो शिक्षा देते हैं, वह इसीलिए कि जिससे वे अपने यौवन के रहते किसी पुरुष को अपनी ओर आकर्षित कर सकें और अपने साधनों का उपयोग अपने-आपको परिवार का एक मूल्यवान सदस्य बनाने के लिए कर सकें। विवाह का उद्देश्य किसी पुरुष को फंसाना है कि वह किसी तरह लड़की के भरण-पोषण का ठेका ले ले।

यह विवाह के प्रति अन्यायपूर्ण दृष्टिकोण है, क्योंकि विवाह की संस्था में निष्ठा और पारिवारिक जीवन के विकसित होने की सम्भावनाएं गहराई तक समाई हुई हैं। यह युक्ति देना कि वेश्यावृत्ति की प्रथा भद्र महिलाओं की रक्षा करती है, सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा का उपाय है और बदनामियों को रोकती है, अन्याय पर पर्दा डालना है। पुरुष की भ्रष्टता के लिए स्त्री को नीचे गिराना गलत काम है। जब स्त्रियों का इस प्रकार दुरुपयोग किया जाता है, तब आत्मा की उमंग मुश्किल से ही कोई चमक शेष रह पाती है। व्यक्तिगत दुर्बलताएं एक बात है और पशुता को अधिकृत रूप से मान्यता प्रदान कर देना बिलकुल दूसरी बात। स्त्रियों के साथ ऐसा बर्ताव नहीं किया जाना चाहिए कि मानो वे कोई सामग्री हैं। यदि हम स्त्रियों को व्यक्तिगत रूप में देखें, तो वेश्यावृत्ति उनके व्यक्तित्व के प्रति अपराध है।

सन्तति निरोध

माल्थस ने जनसंख्या पर एक निबन्ध[1] लिखा था। उसमें उसने लिखा था कि यदि हमने मनुष्य की रेखागणितीय अनुपात में बढ़ते जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोकने के लिए कुछ न किया तो बहुत शीघ्र मानव-जाति पर भयानक विपत्ति आ जाएगी, क्योंकि भूमि की उपज, जोकि मनुष्य के जीवन का आधार है, अधिक से अधिक अंकगणितीय अनुपात में बढ़ती है और यह अंकगणितीय वृद्धि भी बहुत सीमित समय तक ही रहती है। उसने वे उपाय सुझाए थे, जिनके द्वारा इस महा विपत्ति को रोका जा सकता है: देर से विवाह (विवाह से पहले पूर्ण आत्मसंयम के साथ) और उसके बाद भी केवल तभी सम्भोग जब सन्तान उत्पादन करना

अभीष्ट हो। परन्तु माल्थस ने जो बहुत-सी बातें मान ली थीं उनमें से कई गलत हैं। यह बात प्रमाणित नहीं हो पाई कि गरीबी का कारण अति-जनसंख्या है। साथ ही यह बात भी गलत है कि प्रकृति के साधन तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या का भरण पोषण करने के लिए अपर्याप्त हैं।

महात्मा गांधी यद्यपि बहू स्त्रियों को अत्यधिक सन्तानोत्पादन से छुटकारा दिलाने के लिए चिन्तित हैं फिर भी यह अनुभव करते हैं कि गर्भ-निरोधकों का उपयोग समाज के स्नायवीय (स्नायु-सम्बन्धी) और नैतिक स्वास्थ्य के लिए घातक है। वे नहीं चाहते कि हम सन्तानोत्पादन की पुरानी अपव्ययात्मक प्रणाली को अपनाए रहें जिसमें हम बारह बच्चे उत्पन्न करते हैं और उनमें से केवल छः ही जीवित रह पाते हैं। उनकी दृष्टि में बार-बार के शिशु-जन्म को रोकने का उपाय यौन संयम है। गर्भ-निरोधकों के प्रयोग का अर्थ है कि हम यौन आनन्द को अपने-आपमें एक लक्ष्य समझते हैं और उसके साथ जुड़ी हुई जिम्मेदारियों से बच जाना चाहते हैं। हम सुखोपभोग को अपने-आपमें कोई लक्ष्य नहीं मान सकते। गर्भ-निरोधकों के प्रयोग द्वारा हम यौन संयोग के लक्ष्य को दूषित कर रहे होते हैं। जाति को निरन्तर बनाए रखने का लक्ष्य विस्मृत हो जाता है और आनन्द अपने-आपमें एक उद्देश्य बन जाता है। धर्मोपदेश क्रिया के क्लीमैंट ने कहा था "सन्तान उत्पन्न करने के सिवाय संभोग करना प्रकृति को चोट पहुंचाना है।"

अन्य मामलों की भांति यहां भी आदर्श स्थिति उससे कुछ भिन्न है जिसकी कि नारी को छूट दी जानी चाहिए। विवाह की अविच्छेद्यता आदर्श है परन्तु कुछ खास परिस्थितियों में तलाक की छूट देनी ही होगी। इसी प्रकार संयम द्वारा सन्तति-निरोध आदर्श है[1] फिर भी गर्भ-निरोधकों के प्रयोग का एकदम निषेध नहीं किया जा सकता। यह सोचना ठीक नहीं है कि पुरुष और स्त्री को एक-दूसरे के साथ केवल आनन्द के लिए शारीरिक आनन्द नहीं लेना चाहिए और केवल सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही ऐसा आनन्द लेना चाहिए। यह सोचना गलत है कि यौन कामना अपने-आपमें कोई बुरी वस्तु है और यह कि सिद्धान्ततः इसे वश में रखना या इसका दमन करना ही धर्म है। विवाह केवल शारीरिक प्रजनन के लिए नहीं किया जाता अपितु मानसिक विकास के लिए भी किया जाता है। पुरुष

---

१ यह जानना मनोरंजक होगा कि प्राचीन हिन्दू शास्त्रकारों ने कुछ विशिष्ट अवसरों पर यौन सम्बन्ध से दूर रहने का आदेश दिया है। स्मृतिकार ने अपना एक श्लोक उद्धृत किया है जिसका अर्थ यह है "पुरुष को अपनी पत्नी से जब वह वृद्धा हो या बन्ध्या हो या दुराचारिणी हो या जब उसके बच्चे मर जाते हों या जब पत्नी का रजोधर्म बन्द हो गया हो या जब वह पुत्रियों ही पुत्रियों को जन्म देती हो या जब उससे अनेक पुत्र हो चुके हों, समागम नहीं करना चाहिए।

(वृद्धां वन्ध्याम् असद्वृत्तां मृतापत्याम् अपुष्पिणीम्
कन्याप्रसूं बहुपुत्रां च वर्जयन् मुच्यते भयात्)

और स्त्री एक-दूसरे को भी उतना ही चाहते हैं जितना कि सन्तान को। नर-नारियों के समुदाय के जीवन से उनके एक आनन्द को हटा देना विशाल मात्रा में शारीरिक मानसिक और नैतिक कष्ट उत्पन्न कर देना होगा। लार्ड कीयन लिखता है "परिवार के आकार को सीमित करना मान लो कि चार बच्चों तक विवाहित युगल पर संयम की इतनी बड़ी मात्रा थोप देना होगा जो लम्बी प्रक्रिया के लिए ब्रह्मचर्य (अविवाहित जीवन) के बराबर होगा और जब इस बात को याद रखा जाए कि प्राकृतिक कारणों से इस अनुपभोग को विवाहित जीवन के प्रारम्भिक दिनों में जबकि इच्छाएं तीव्रतम होती हैं अपेक्षाकृत अधिक कठोर रखना होगा तब मेरा यह मत है कि लोगों से एक ऐसी मांग की जा रही है जिसका पूरा किया जा सकना असम्भव है कि इसे पूरा करने के प्रयत्नों से एक ऐसा समाज उत्पन्न होगा जो स्वास्थ्य और आनन्द के लिए क्षतिकर होगा और ऐसे प्रयत्नों से नैतिक सिद्धांतों और आचरणों के लिए गम्भीर खतरा उत्पन्न हो जाएगा। यह बात बिलकुल ही निरर्थक है। यह ऐसा ही है कि आप एक तृषार्त व्यक्ति के पास पानी रख दें और उसे कह दें कि वह उस पानी को पिए नहीं। नहीं अनुपभोग (संयम) द्वारा सन्तति निरोध या तो प्रभावी नहीं होगा और यदि प्रभावी होगा तो हानिकारक होगा।

कभी-कभी यह युक्ति दी जाती है कि सन्तति निरोध प्रकृति की प्रक्रिया में अप्राकृतिक हस्तक्षेप है। परन्तु हमने अनुसन्धानों और आविष्कारों द्वारा भी तो प्रकृति की प्रक्रिया में हस्तक्षेप किया है। हमारी आदतें असभ्य जंगली लोगों के व्यवहारों से भिन्न हैं और यह इसीलिए कि हमने प्रकृति के कामों में हस्तक्षेप किया है। यदि यह कहा जाए कि प्राचीन बातें आधुनिक बातों की अपेक्षा अधिक प्राकृतिक थीं तो बहुविवाह और स्वैराचार को अधिक प्राकृतिक मानना होगा। कुछ देशों में सन्तति-निरोध धार्मिक अधुरता से भरे वर्तमान सामाजिक वातावरण और माता-पिता की अपने बच्चों का जीवन अच्छे ढंग से प्रारम्भ करने की इच्छा के कारण वैसा ही स्वाभाविक होता जा रहा है जैसा कि वस्त्र पहनना।

सन्तति-निरोध के व्यवहार पर एतराज इस कारण किए जाते हैं कि इसका दुरुपयोग किया जाता है। जो स्त्रियां गर्भावस्था सन्तान-जन्म और बच्चों के पालन पोषण के कष्टों से बचना चाहती हैं और जो पुरुष अपने कार्यों के उत्तरदायित्व से बचना चाहते हैं वे इसका प्रयोग करते हैं। किसी वस्तु के दुरुपयोग के कारण उसके उचित उपयोग को भी त्याज्य नहीं माना जा सकता। यदि सन्तति-निरोध की पद्धतियों का अवलम्बन वे लोग करते हैं जो बच्चों का पालन-पोषण करने में असमर्थ हैं तो हम उन्हें दोषी नहीं ठहरा सकते। गरीब लोगों को बच्चे होना नहीं अखरता पर वे उन्हें कष्ट और दरिद्रता की दशा में नहीं पालना चाहते। उचित इलाज तो यह है कि उनके लिए वे साधन जुटाए जाएं, जिनसे वे बच्चों का पालन-पोषण उचित परिस्थितियों में कर सकें। हम परिस्थितियों को सुधारने

का यत्न करना चाहिए। यह नहीं मान लेना चाहिए कि ये परिस्थितियाँ स्थायी हैं। हम पशु नहीं हैं। यौन सम्बन्धों का नियमन उत्तरदायी व्यक्तियों के रूप में दोनों पक्षों की सहमति से होना चाहिए। यदि बच्चों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए आत्मसंयम की ज़रूरत हो तो वह किया जाना चाहिए। यदि माता-पिता यह अनुभव करें कि अपने पारस्परिक आनन्द को बनाए रखने के लिए वे भविष्य का जोखिम उठा सकते हैं तो उन्हें जोखिम उठाने से रोकने की कोई आवश्यकता नहीं है। हम इस बात से इन्कार नहीं करते कि यौन वासना का संयम सन्तति-निरोध से अधिक अच्छा है पर सब मनुष्य जब ही वे सन्त बनना चाहते हों सन्त नहीं हैं। वर्तमान परिस्थितियों में सामाजिक अर्थ-व्यवस्था के हित में सन्तति-निरोध की सुविधाएँ उपलब्ध रहनी चाहिएँ, यह भी विशेष रूप से गरीब लोगों को।

विफलताओं के प्रति रुख

किसी भी सभ्यता की परख इस बात से होती है कि मानव-प्राणियों की कमज़ोरियों और दुर्बलताओं के प्रति उसका रुख क्या है। विवाह के सम्बन्ध में हम चाहे कुछ भी नियम क्यों न बना लें, विवाहेतर (विवाह के बाहर) सम्बन्ध भी होते ही रहेंगे। निश्चित हिन्दू ऋषियों में मानवीय दुर्बलताओं और पराजेयता के प्रति असीम सहिष्णुता थी। प्रायः जिसे अपराध कहा जाता है वह एक पतित और पाप-लिप्त मन की अभिव्यक्ति नहीं होता, अपितु अनुभूतिशील और प्रेमपूर्ण प्रकृति का प्रकटन होता है। कानून के प्रति अवज्ञा वास्तविक दुष्टता नहीं है। आजकल की नैतिकता का काफी बड़ा भाग अस्थायी और रूढ़िगत है। हमारे आचार के नियम जीवन शक्ति के क्षीण हो जाने के कारण अपाहिज होकर यांत्रिक आदतों में बदल गए हैं। रूढ़ि समाज की सामान्य रुचि की वस्तु है। कानून या परम्परा की नैतिकता यद्यपि वह सामाजिक व्यवस्था और मर्यादा के लिए अत्यावश्यक है, उच्च कोटि की नैतिकता नहीं है। इसके नियम नैतिक अन्तर्दृष्टि को जागृत करने के निमित्त होते हैं, किसी की आत्मा को कुण्ठित कर देने के निमित्त नहीं। परन्तु जीवन नैतिक सिद्धान्तों का यांत्रिक पालन करना-मात्र नहीं है। जब कोई पुरुष और कोई स्त्री आत्मा और मन की गहरी एकता में बंध जाते हैं, जब भी वह पुरुष या वह स्त्री एक-दूसरे की आँखों में देखते हुए उस एक व्यक्ति को प्रतिबिम्बित देखते हैं जिसमें सम्पूर्ण वह पुरुष या स्त्री उसकी आराधना, आदर्श और स्वप्न में लीन हो जाती है, जब भी कभी उनके शरीरों का मेल होता है, उससे पहले उनकी आत्माओं का मेल हो चुका होता है, तब वे एक-दूसरे के साथ जो कुछ भी करते हैं, वह सब पवित्र होता है। ऐसे प्रेम को पवित्रता के विरुद्ध जो कोई भी कुछ कहता है, उसका मन ठीक रूप में नहीं है। आगस्टाइन की यह उक्ति "परमात्मा से प्रेम

और असंस्कृत रूप कभी प्रेम और आनन्द के जीवन में बाधा डालते हों तो उनका उल्लंघन किया जा सकता है। विवाह के नियमों का उद्देश्य व्यक्ति की प्रकृति को अनुशासन में रखना और शरीर रचनात्मक जातीय सामाजिक मानवीय और धार्मिक तत्वों में समस्वरता उत्पन्न करना है। इसके लिए नियन्त्रण और अनुशासन की आवश्यकता होती है। असफलताएं किसी भी स्तर पर, शरीर रचनात्मक मानवीय या धार्मिक स्तर पर, उत्पन्न हो सकती हैं। हम यह मान लेते हैं कि एक विवाह स्वाभाविक है। परन्तु यह बात इतनी सीधी-सादी नहीं है। हमारे अन्दर वासनाएं हैं। निष्ठा बनाए रखना यद्यपि अत्यन्त आवश्यक है पर सरल नहीं है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो निष्ठा को एक बहुत और क्रूर सत्कार, पूर्णरूप से वश पाने की असमर्थता का परिणाम रूढ़ियों के प्रति भावनाहीन रुचि कुण्ठित कामरता और सूझ-बूझ का अभाव मानते हैं। बहुत बार हम समझते हैं कि यदि स्त्री को पति और सम्मान मिल जाए तो जो कुछ वह चाहती है वह सब उसे मिल गया। सम्भव है वह प्रवंचना से मुक्त होने से या एक मिथ्या मोह से छुटकारा पाने से डरती हो सम्मानित होने का भाव परन्तु अनुराग और कर्तव्य की एक यह कठोर भावना कि सामाजिक जीवन रूढ़ियों के चाहे वे कितनी ही दोषयुक्त क्यों न हों पालन करने पर ही निर्भर है उसे सीधे रास्ते पर चलाते रह सकते हैं पर फिर भी सम्भव है कि उसकी सम्पूर्ण प्रकृति पूरी तरह पल्लवित और पुष्पित न हो पाए। सम्भव है कि उसकी इच्छा यद्यपि तो हो चुकी हो पर शान्त न हुई हो। यह तनाव विवाह की 'समस्या' का कारण है। प्रेम की व्यथाएं सुन्दर तो मानी जाती हैं परन्तु नैतिक नहीं। यदि हम दुर्बलता के प्रति सहिष्णु न हों तो हम पर्याप्त रूप से मानवीय नहीं हैं। गुनाह का महत्व निर्लेप की अपेक्षा जो केवल नैतिक व्यक्ति का नहीं अधिक है। ईसा में फेरिसी की अपेक्षा जो केवल विधि पालन की दृष्टि से सही था कहीं अधिक अच्छाई थी। यदि विवाह के बिना प्रेम अवैध है, तो प्रेम के बिना विवाह अनैतिक है। कठोर और अपूर्ण सामाजिक नियमों के परिणामस्वरूप अनेक महत्वाकांक्षाएं कुचली जाती हैं और अनेक जीवन नष्ट हो

वहां विचार का स्रोत (उपादान) हो है। यदि और सब कुछ नष्ट हो जाए और वह बचा रहे तो मेरा अस्तित्व भी बना रहेगा परन्तु यदि और सब कुछ बना रहे और वह समाप्त हो जाए तो यह संसार एकदम अपरिचित हो उठेगा मैं इसका कोई अंग प्रतीत न होऊंगा। लिंटन के प्रति मेरा प्रेम जंगल की हरियाली की भांति है मैं भली भांति जानती हूं कि जैसे शिशिर पत्तों को बदल देता है वैसे ही समय इस प्रेम को बदल देगा परन्तु हीथक्लिफ के प्रति मेरा प्रेम नीचे की स्थायी चट्टानों की भांति है जिन्हें देखकर कोई विशेष हर्ष तो नहीं होता पर वे आवश्यक हैं। नेली, मैं ही हीथक्लिफ हूं। वह सदा सदा मेरे मन में रहता है एक आनन्द के रूप में नहीं जितना आनन्द मैं अपने लिए हूं उससे अधिक नहीं अपितु मेरे अपने अस्तित्व के रूप में। इसलिए हमारे बिछुड़ने की बात फिर मत कहना वह असम्भव है।

जाते हैं। हम शरीर की परम निष्ठा को आत्मा की विकसित आस्था की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। एक बार एक युवक रास्ते के किनारे बैठा था और उसने एक कोपी स्त्री से कहा था "मैं तुम्हें कोपीभी नहीं ठहराता। जाओ! अब आगे पाप मत करना। विशुद्धिवादी (प्योरिटन) बनकर हम प्राय: अमानवीय ढंग से काम करने लगते हैं। नैतिकता दो प्रकार की होती है : एक तो परम जो औचित्य की होती है और दूसरी सापेक्ष जो सामाजिक रूढ़ियों की होती है और जिसे प्रत्येक समाज अपने-अपने ढंग से अलग हो रच लेता है। नैतिक नियमों का पालन करने के द्वारा हमें उस आदर्श के निकटतम पहुंचने का यत्न करना चाहिए, जो नैतिक की अपेक्षा पवित्र अधिक है जो सही की अपेक्षा सुन्दर अधिक है जो अभीष्ट की अपेक्षा पूर्ण अधिक है और जो कानून की अपेक्षा प्रेम अधिक है।

कभी-कभी तो रामायण तक भी गलत आदर्श प्रस्तुत कर बैठती है। रावण की पराजय के पश्चात् राम सीता को फिर ग्रहण करने से इसलिए इनकार कर देते हैं क्योंकि वह इतने लम्बे समय तक रावण के घर रही।[1] सीता प्रतिवाद करते हुए कहती है कि कैद में रहते हुए उसका अपने शरीर पर कोई वश नहीं था। मन पर अवश्य उसका अपना वश था और वह सदा उसके प्रति निष्ठावान रहा।[2] स्मृतिकारों ने इस कठोर विधान को नहीं अपनाया। यजुर्वेद में यज्ञ में एक विशिष्ट स्थल पर स्त्री से प्रश्न किया गया है "तेरा प्रेमी (जार) कौन ?" (कस्ते जारः) और जब वह अपने प्रेमी का नाम बता देती है अर्थात् अपने दुराचार को स्वीकार कर लेती है तो वह पाप से मुक्त हो जाती है। मनु ने विभिन्न प्रकार के पुत्रों का परिगणन करते हुए प्रेमी से उत्पन्न पुत्र (जारज) का उल्लेख किया है। यदि स्त्रियों को कोई कैदी बना ले और उनके साथ बलात्कार कर ले तो उन स्त्रियों के प्रति सहानुभूति का बर्ताव होना चाहिए, और प्रायश्चित्त की कुछ विधियां पूरी करके उन्हें फिर ग्रहण कर लिया जाना चाहिए।[3] वसिष्ठ का मत है कि यदि कोई स्त्री शत्रु द्वारा कैद कर ली जाए, या डाकुओं द्वारा भगा ली जाए या उससे उसकी इच्छा के प्रतिकूल बलात्कार किया जाए, तो उसका परित्याग करना उचित नहीं। अभि

---

१ रावणाङ्कपरिक्लिष्टां दुष्टां दृष्टेन चक्षुषा
कथं त्वां पुनरादद्यां कुलं व्यपदिशन् महत्। —६ ११८-२
२ मदधीनं तु यत्तन्मे हृदयं त्वयि वर्तते
पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरा। —६ ११६-८
३ स्वयं विप्रतिपन्ना वा यदि वा विप्रवासिता
बलात्कारोपभुक्ता वा चोरहस्तगतापि वा
न त्याज्या दूषिता नारी नास्यास्त्यागो विधीयते
पुष्पकालमुपासीत ऋतुकालेन शुध्यति। —अत्रिसंहिता ५ ९-९ ५५ ११
साथ ही देखिए मनुस्मृति ११ ९—

का विचार यही है।[1] बलात्कार के ऐसे मामला पर भी विचार किया गया है जिनके बाद गर्भ रह गया हो और अत्रि तथा देवल के मतानुसार, सन्तान-जन्म के बाद स्त्री को फिर परिवार म ग्रहण कर लिया जाता है यद्यपि शिशु को त्याग देना होता है, क्योकि अनुचित है। तेरहवी शताब्दी के बाद आचार के नियम और सख्त हो गए और बलात्कार की शिकार हुई स्त्रियो को फिर परिवार म ग्रहण नही किया जाता था। इस घोर अन्याय के कारण हिंदू जाति को नुकसान उठाना पड़ा है और इसका बहुत भारी मूल्य चुकाना पड़ा है।

वैदिक काल मे जो स्त्रिया पथभ्रष्ट हो जाती थी वे यदि अपनी भूल स्वीकार कर लेती थी तो उन्हे फिर धार्मिक कार्यों म भाग लेने की अनुमति मिल जाती थी। वशिष्ठ तो उन स्त्रियो को भी जिन्होने व्यभिचार किया हो फिर ग्रहण कर लेने के पक्ष म है यदि उन स्त्रियो को अपने किए पर पश्चात्ताप हो और वे उसके लिए प्रायश्चित्त करें। पराशर का मत है कि व्यभिचारिणी स्त्रियो का परित्याग केवल उसी दशा म किया जाना चाहिए, जब वे पक्की पापिष्ठा बन गई हा।[2] व्यभिचार के लिए भी स्त्री की अपेक्षा पुरुष अधिक जिम्मेदार है।

अतीत के युग वास्तविक मानव-प्राणियो से भरे थे अमूर्त धारणाओ से नही ऐसे व्यक्तियो से जिनके अनुभूतिशील और सुकुमार हृदयो मे वासनाए भरी थी जो नवाचित प्रेम अधी वासना भावपूर्ण सुकुमारता सन्देह आशका अवहेलना विषाद और निराशा म से होकर गुजरते थे उनमे व्यक्ति जो अपने-आपको वासना के प्रवाह म छोड देते थे और जिन्हे नैतिक नियमो का उल्लघन करने म सकोच नही होता था। ऋग्वेद तक म हम पथभ्रष्ट हा जानेवाली स्त्रियो का असती पत्नियो का प्रेमियो के साथ भाग जाने का और अवैध सयोगो का उल्लेख मिलता है। हमारे महाकाव्य विश्वामित्र और मनका की सी कहानियो से भरे पडे है जिनमे बडे-बडे महान व्यक्ति भी कल्पित सतत्व के सकीर्ण मार्ग पर लडखडाते और ठोकरें खाते दिखाई पडते है। हमम से अधिकाश की अपेक्षा कही अधिक अच्छे आदमी भी जिन्होने ऐसे-ऐसे काम किए जिन्हे करने की हम कल्पना भी नही कर सकत हमारी सामान्य दुर्बलताओ के शिकार थे। व्यास का जन्म एक अविवाहित मत्स्यगन्धा कन्या से हुआ था जिसका कौमार्य तत्काल पराशर के लिए अक्षत रहा। भीष्म एक अविवाहित स्त्री का पुत्र था। पुरु शर्मिष्ठा का सबसे छोटा पुत्र था शर्मिष्ठा रानी की परिचारिका एक राजकुमारी थी और इसीलिए ठीक-ठीक रानी

१ ५ १२। सम की दैसिए पराशर, १ २६-७

२ 'शतपथ ब्राह्मण' २ ५ २-२

३ १ १२

४ तस्मात् पुरुषे दोषो ह्यधिको नास्त स्त्रियाः।—महाभारत १२-२८-२

५ १०-२६ १३ १०-३११ १४

ययाति की पत्नी नहीं थी फिर भी कामशास्त्र के कथनानुसार, कण्व ऋषि जब शकुन्तला को उसके पति के घर भेजने लगते हैं तो उसे वैसा ही बर्ताव करने को कहते हैं जैसाकि शर्मिष्ठा ने ययाति के साथ किया था।[1] हमारे सामने माधवी का भी उदाहरण है जो ययाति की पुत्री थी। वह एक तपस्वी गालव के आश्रम में रखी गई थी। गालव ने उसे एक के बाद एक चार राजाओं के पास इस शर्त पर रखा कि उन्हें उससे एक पुत्र का जन्म होने के बाद उसे छोड़ देना होगा। इस प्रकार वह चार पुत्रों की माता बनी। जब वह अपने माता-पिता को वापस लौटा दी गई तो गालव ने उसे विवाह करने को विवश किया और उसके लिए स्वयंवर का आयोजन किया। स्वयंवर में माधवी ने वरमाला एक पेड़ पर रख दी जो इस बात की सूचक थी कि उसने वन में रहकर तपस्वी जीवन बिताने का निश्चय कर लिया है। एक विधवा स्त्री उलूपी ने अर्जुन से याचना की और उससे अर्जुन का पुत्र इरावन उत्पन्न हुआ। महाकाव्य महाभारत स्पष्ट रूप से स्त्रियों के पक्ष में है। यौन दुराचरण अपनी परिस्थितियों से ही अपराध या पाप बनता है और आखिरकार शरीर के पाप आत्मा के पापों से अधिक बड़े नहीं हैं। हमें उन बातों को जो मानवीय हैं धर्म-परायणता की भावना से परखना चाहिए। यौन जीवन का सकारात्मक पक्ष (पॉज़िटिव साइड) एक नितांत व्यक्तिगत वस्तु है जिसका पथप्रदर्शन रुचि और स्वभाव द्वारा होता है यह बहुत कुछ आकांक्षा और लाचारी का सा मामला है। व्यक्तिगत (निजी) आचरण पर ये सब निषेध और प्रतिबन्ध केवल उनको छोड़कर, जो समाज के हित में विशेष रूप से दुर्बल और अल्पवयस्कों के हित में लगाए हैं हटा लिए जाने चाहिए। महाभारत में सुनिश्चित रूप से उस बात की ओर सामाजिक झुकाव दिखाई पड़ता है जिसे पुरुषों और स्त्रियों के बीच विवाह-भिन्न या परीक्षणात्मक सम्बन्ध कहा जा सकता है। इस प्रकार के सम्बन्धों पर मुख्य एतराज यह है कि उनसे यौन गैरजिम्मेदारी की आदत बढ़ने या मनमौजी यौन स्वैराचारिता बढ़ने की ओर झुकाव रहता है। परन्तु हम स्वैराचरण के ढंग की वस्तु के विषय में विचार नहीं कर रहे जिसे किसी भी उपाय से किसी दूसरी चीज में बदला ही नहीं जा सकता। स्वैराचरण तो एक रोग है, जिसकी चिकित्सा की जानी चाहिए। अनुभूतिशील नर-नारियों के पतित होकर स्वैराचारी व्यक्ति बन जाने की कोई आशंका नहीं है।

कुछ बहुत ही अपवादरूप मामलों में कुछ लोगों के लिए विवाह-भिन्न सम्बन्ध ही एकमात्र उपाय होते हैं जिनके द्वारा वे अपने यौन जीवन को तृप्तिजनक, बहुमूल्य और यहां तक कि स्थायी बना सकते हैं। वह समय कभी का बीत चुका, जब कि पुरुषों और स्त्रियों को इस उपाय से निष्ठाशील बनाए रखा जा सकता था कि उनके लिए निष्ठाहीन बन पाना कठिन कर दिया जाए। हमारे पास सबसे बड़ा

१ ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।

उपहार अपना सच्चा आत्म (सैल्फ) है। इस ईमानदारी के बिना किसी भी व्यक्ति का किसी के लिए कोई मूल्य नहीं है, यहां तक कि स्वयं उसके अपने लिए भी नहीं।

पति द्वारा किया गया व्यभिचार साधारणतया पत्नी द्वारा किए गए व्यभिचार की अपेक्षा अधिक क्षम्य समझा जाता है। इसका कारण यह है कि पिछली इन सब शताब्दियों में पुरुषों का ही बोलबाला रहा है। वे अपनी पत्नियों को यह कह कर टालते रहे हैं कि उनकी चूक का कोई खास महत्त्व नहीं है, क्योंकि इससे मूल सम्बन्धों में कोई परिवर्तन नहीं होता। यह तो क्षणिक मामला है, एक ऐसा कार्य जिसका बाद में कोई परिणाम नहीं होगा। यदि पत्नी रुष्ट हो और शिकायत करे तो पुरुष जोर-जबरदस्ती का रुख अपनाता है कि इस प्रकार का कार्य उसके लिए अत्यावश्यक है और यह कि हमारे छोटे-छोटे नैतिक नियमों की अपेक्षा उसका सुख कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह दुहरा प्रमाप (मानक) अंशत स्वामित्व की भावना के कारण भी है। स्त्री सम्पत्ति है। व्यभिचार सम्पत्ति के प्रति अपराध है। यह उन अनन्य अधिकारों का अवैध उपभोग है, जो पति को अपनी पत्नी के ऊपर प्राप्त हैं।[1] शास्त्रकारों ने स्त्री को एक सम्पत्ति के रूप में, जोकि पिता द्वारा प्रस्तुत धारणा के सम्बन्ध में बहुत बढ़िया लिखा है।[2] विवाह के नाम पर हम स्त्री की देह पर निश्चित अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। स्त्री भी अपने पुरुष पर सम्पत्ति का सा अधिकार अनुभव करती है। यदि कोई पुरुष विवाह-सम्बन्ध की निष्ठा को भंग करता है, तो वह अपने परिवार में कोई नया रक्त नहीं ला रहा होता, जबकि पत्नी के असतीत्व से परिवार में नया रक्त प्रविष्ट हो रहा है, इसलिए पत्नी का व्यभिचार अधिक पापपूर्ण माना जाता है।[3] पर हम यह नहीं कह सकते कि इन यौन प्रतिबन्धों के मूल में सम्पत्ति की धारणा ही काम कर रही है। यौन ईर्ष्या व्यक्ति की निजी सम्पत्ति का उल्लंघन होने की अपेक्षा कुछ और अधिक वस्तु की द्योतक है। यह यौन की अनुभूति है। यह एक विचार भी काम करता है कि सतीत्व और पवित्रता साथ ही रहती है।

अनुशासन या अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों को मर्यादाओं में बांधना मानवीय गौरव के लिए अनिवार्य है। प्लेटो अपने 'फिलबस' में कहता है, "प्यारे फिलबस, जब मर्यादाओं की देवी ने उद्दण्डता और तृप्ति, पेटूपन और लोभ के मामले में सब प्रकार की दुष्टता को सीमा का उल्लंघन करते देखा, तो उसने मर्यादित होने का कानून या व्यवस्था बनाई, और तुम कहते हो कि यह प्रतिबन्ध आनन्द की मृत्यु था, और मैं कहता हूं, यह प्रतिबन्ध ही आनन्द का बचाव था। यदि हमारी

१ सेंट पाल कहता है, "पुरुष परमात्मा की प्रतिमूर्ति और महिमा है, परन्तु स्त्री पुरुष की महिमा है। क्योंकि पुरुष स्त्री का नहीं है, परन्तु स्त्री पुरुष की है। पुरुष का सृजन भी स्त्री के लिए नहीं हुआ; परन्तु स्त्री का सृजन पुरुष के लिए हुआ है।" —१ कोरिन्थियन्स ११—७-९

२ "अर्थो हि कन्या" —कालिदास, 'शाकुन्तला' ४

३ मनु से तुलना कीजिए: पुरुष को किसी दूसरे के खेत में बीज नहीं बोना चाहिए।

महत्त्वाकांक्षा सत्य शिव और सुन्दर जीवन तक पहुंचने की है तो हमें अनुशासित जीवन बिताना होगा। वासनाओं की उमड़ती हुई उग्रता इस बात की मांग करती है। यदि ऐसा न होगा तो हम प्रेम के नाम पर उस सबको उचित ठहराने लगेंगे जो कुत्सित, दु:खमय और लज्जाजनक है। मलिनता हमें पवित्र नहीं बना सकती। यह स्पष्ट है कि साधारण मनुष्यों के लिए लक्ष्य तक पहुंचने का सरलतम मार्ग स्वीकृत नियमों का पालन करना है। केवल उन लोगों को जो भली भांति अनुशासित हैं और जिनमें ज्ञान ग्रहण की सूक्ष्मता विकसित हो चुकी है जैसीकि संत लोगों में स्पष्ट दिखाई पड़ती है, इन नियमों से आगे जाने का अधिकार है।

लोगों में एक ऐसी धारणा फैली हुई है कि रूस में ममत अर्थों में स्वतन्त्र प्रेम का समर्थन किया जाता है। इसे मिथ्या सिद्ध करने के लिए लेनिन ने १९२ में जो कुछ क्लारा जेटकिन को लिखा था उसे उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा। "हमारे युवक-युवतियों का यौन समस्याओं के प्रति बदला हुआ रुख एक 'सिद्धान्त का प्रश्न' है और यह एक उपसिद्धान्त (थ्योरी) पर निर्भर है। कुछ लोग अपने इस रुख को क्रान्तिकारी और 'कम्युनिस्ट' (साम्यवादी) रुख बताते हैं। वे सच मुच विश्वास करते हैं कि बात ऐसी ही है। पर मुझे यह बात जरा भी नहीं जचती। यद्यपि मैं किसी तरह भी अतिसंयमी तपस्वी नहीं हूं। फिर भी अपने युवक लोगों का और कभी-कभी प्रौढ़तर लोगों का भी यह तथाकथित 'नया यौन जीवन' मुझे बहुधा केवल बूर्जुआ (मध्यमवर्ग के) लोगों का अच्छा बूर्जुआ वेश्यागार का विस्तार-मात्र प्रतीत होता है। हम कम्युनिस्ट लोगों के मन में प्रेम की स्वतन्त्रता की जो धारणा है उससे इसका कोई वास्ता नहीं है। तुम्हें वह बदनाम उपसिद्धान्त मालूम ही होगा कि कम्युनिस्ट समाज में यौन वासना की तृप्ति "उतना ही सीधा-सादा और मामूली काम है जितना कि एक गिलास पानी पी लेना। इस 'पानी के गिलास' के सिद्धान्त ने हमारे युवक-युवतियों को बिलकुल सनकी बना दिया है। यह सिद्धान्त अपने जवान लड़कों और लड़कियों के विनाश का कारण बना है। जो लोग इसका समर्थन करते हैं वे अपने-आपको मार्क्सवादी कहते हैं। उनका धन्यवाद! किन्तु मार्क्सवाद यह नहीं है। ये बातें एकदम उतनी (पानी के गिलास जितनी) सरल नहीं हैं। यौन जीवन में जो कुछ वस्तु पूर्ण होती है वह सबकी सब केवल प्राकृतिक ही नहीं होती अपितु कुछ वस्तु ऐसी भी होती है जिसे हमने संस्कृति द्वारा प्रविमत किया है भले ही वह कितनी ही उच्च या कितनी ही निम्न क्यों न हो। यह ठीक है कि प्यास अवश्य बुझाई जानी चाहिए। पर क्या कोई ऐसा सामान्य व्यक्ति होगा जो सामान्य परिस्थितियों में कीचड़ में लोटने लगे और छोटे-से जोहड़ में से पानी पीने लगे? या फिर ऐसे गिलास में पानी पिए, जिसके किनारे लोगों के होठों को छू-छूकर चीकटे हो गए हों? और सबसे महत्त्व पूर्ण तथ्य इस समस्या का सामाजिक पहलू है। पानी पीना एक वैयक्तिक कार्य है।

दूसरी ओर, प्रेम म दो व्यक्ति फसे होते हैं। और तीसरा एक नया जीवन और प्रकट हो सकता है। यही वह बिन्दु है यह तथ्य कि यहा पहुचकर समाज के हितो का सम्बन्ध उपस्थित होता है। समाज के प्रति भी कुछ कर्तव्य है। क्रान्ति के लिए जनता और व्यक्ति दोनो से एकाग्रता की और शक्ति बढाने की अपेक्षा है। वह ऐसी स्वच्छन्दताओ को सहन नही कर सकती जो डैनुन्जियो के नायकों और नायिकाओ के लिए साधारण हो सकती है। यौन उच्छृंखलता बुर्जुआ जगत् की वस्तु है। यह जीर्णता का प्रमाण है। परन्तु श्रमिक-वर्ग तो उन्नति की ओर बढता हुआ वर्ग है। उसे नीद लाने के लिए या उत्तेजना पाने के लिए मादक वस्तुओ की कोई आवश्यकता नही है। आत्म-सयम आत्म-अनुशासन दासता नही है। नही प्रेम मे भी आत्म-सयम दासता नही कहा जा सकता।"[1] हमे अपने-आपको इस भ्रम से मुक्त कर लेना चाहिए कि आदिमकालीन कामुकताए उन्नत विचार का नवीन रूप है। सभ्यता मनुष्य द्वारा असस्कृत प्रकृति पर क्रमश प्राप्त आधिपत्य का नाम है। जिस राष्ट्र मे यौन मामलो मे ब्रह्मचर्य और आत्म-सयम का पालन अधिक विस्तृत रूप से किया जाएगा वह बलवान और सृजनशील राष्ट्र बनेगा।[2]

जीवन के केवल दो ही मार्ग हैं एक तो आत्म-उपभोग का सरल और विस्तृत मार्ग दूसरा आत्म-सयम का कठिन और सकीर्ण मार्ग। इनमे से पिछले मार्ग पर चलने के लिए जोखिम वीरता अपसरण (डैशन) और असतपस्विनियो की पूजा रह रहती है परन्तु पुरुष की आत्मा के योग्य यही मार्ग है। जीवन सरल होने के लिए नही है। इसका उद्देश्य आवेशपूर्ण आनन्द या कौतुक नही है अपितु आत्मा की मुक्ति है। विवाह इस मुक्ति के लिए एक साधन है। प्रत्येक पीढी मे भारत मे ऐसी करोडो स्त्रिया होती रही हैं जिन्हे यद्यपि कोई यश नही मिला फिर भी जिनके दैनिक अस्तित्व मे जाति को सभ्य बनाने मे सहायता दी है जिनके हृदय का जोश आत्म-बलिदानी उत्साह आडम्बरहीन निष्ठा और जबकि उन्हे कठिनतम परीक्षाओ म से गुजरना पडा तब भी कष्ट-सहन म सरलता हमारी इस प्राचीन जाति के गौरव की वस्तुओ मे से हैं। स्त्रिया माता के रूप मे वर्तमान व्यवस्था के अत्याचार और अन्याय के प्रति और भी अधिक सचेत होती हैं और आत्मा मे एक गहरा और दूर-परिणामी परिवर्तन कर सकती हैं और उसे एक नई जीवन-शैली का रूप दे सकती हैं। तभी एक 'नवीन मानव' का जन्म होगा।

---

१ क्लेरा जैटकिन मे उद्धृत 'यूथ इन सोवियत रशिया' डेविडसन द्वारा सम्पादित, पृष्ठ १७

२ जेम्स [illegible] से तुलना कीजिए "किसी भी समाज की सांस्कृतिक दशा ठीक उन स्त्रियों के अनुपात में उन्नत होती है जो या विवाह से पूर्व और विवाह के बाद यौन संयम के लिए [illegible] । — [illegible]

एक स्थिति ऐसी भी आ जाती है, जब आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की साधना में पारिवारिक बन्धन भी टूट जाते हैं। सामाजिक बन्धनों को स्वीकार करके हम उनसे ऊपर उठ जाते हैं। विवाहित जीवन मुक्ति के लिए आवश्यक नहीं है। मनुष्य की नैतिक उन्नति में एक स्थिति ऐसी आती है जब हम अपनी यौन इच्छाओं पर विजय पा लेते हैं मन और शरीर के ब्रह्मचर्य की साधना करते हैं और सम्पूर्ण विश्व के कल्याण के साथ अपना एकात्म्य स्थापित कर लेते हैं।

५ | युद्ध और अहिंसा

युद्ध का उत्कृष्ट वस्तु के रूप में वर्णन—हिन्दू दृष्टिकोण—ईसाई-दृष्टिकोण—युद्ध की भ्रान्तियाँ—आदर्श समाज—जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध में शिक्षण—गांधी जी

युद्ध का उत्कृष्ट वस्तु के रूप में वर्णन

आइए, इस अन्तिम भाषण में हम समाज में शक्ति या बलप्रयोग के प्रश्न पर विचार कर लें। महात्मा गांधी के अहिंसा पर आग्रह और युद्ध के कारण यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हो उठा है और यह आवश्यक है कि हम इस विषय में यथासम्भव स्पष्ट विचार बना लें। शताब्दियों से युद्ध को, जो एक-दूसरे को मारने का संगठित प्रयत्न है, स्वाभाविक और राष्ट्रीय जीवन का एक स्वस्थ काम बताया जाता रहा है; इसमें तर्क-बुद्धि और सूझ-बूझ है, जिसका उपयोग हम अपने कार्यों को उचित सिद्ध करने के लिए करते हैं। कहा जाता है कि युद्ध अच्छे उद्देश्यों को पूरा करने के साधन हैं। यहां कुछ उद्धरण दिए जाते हैं, जिनसे यह बात स्पष्ट हो जाएगी। नीत्शे का कथन है: "जो राष्ट्र दुर्बल और दयनीय होते जा रहे हैं, उनके लिए, यदि वे सचमुच जीवित रहना चाहते हैं, युद्ध को औषधि के रूप में सुझाया जा सकता है।" उसने कहा: "पुरुषों को युद्ध का प्रशिक्षण दिया जाए और स्त्रियों को वीर सन्तान उत्पन्न करने का; बाकी सब बातें बेहूदा हैं।" "तुम कहते हो कि यदि उद्देश्य अच्छा हो तो उसके कारण युद्ध तक को भला समझा जा सकता है? मैं तुमसे कहता हूं कि अच्छे युद्ध के कारण किसी भी उद्देश्य को भला समझा जा सकता है।" रस्किन का कथन है: "संक्षेप में मेरा विचार है कि सब महान राष्ट्रों ने अपने विचारों की सच्चाई और क्षमता को युद्धों में ही पहचाना है; युद्धों द्वारा वे राष्ट्र पनपे और शान्ति द्वारा नष्ट हो गए; युद्ध में उन्होंने शिक्षा ली और शान्ति द्वारा धोखा खा गए; एक शब्द में, युद्ध में उनका जन्म हुआ और शान्ति में वे मर गए।" मोल्टके ने कहा: "युद्ध परमात्मा के संसार का एक आन्तरिक अंग है, जो मनुष्य के सर्वोत्तम गुणों का विकास करता है।" वह सिखाता है कि स्थायी शान्ति केवल एक स्वप्न है और साथ ही

'और यह भी कोई सुन्दर स्वप्न नहीं। धर्महार्डी ने घोषणा की: युद्ध एक प्राणिशास्त्रीय आवश्यकता है। यह मानव-जाति के जीवन में एक अनिवार्य नियामक वस्तु है जिसके अभाव में विकास का एक ऐसा क्रम चलता जो मनुष्यों की विभिन्न जातियों के लिए हानिकारक होता और जो साथ ही सारी संस्कृति के पूर्णतया प्रतिकूल होता। 'युद्ध के अभाव में घटिया और चरित्रहीन जातियाँ स्वस्थ और सशक्त जातियों पर हावी हो जातीं और परिणामस्वरूप सब क्षेत्रों में पतन ही होता। युद्ध नैतिकता का एक अनिवार्य उपकरण है। यदि परिस्थितियों के कारण आवश्यकता हो तो युद्ध करवाना न केवल उचित है अपितु राजनीतिज्ञों का नैतिक और राजनीतिक कर्तव्य भी है।" ओस्वाल्ड स्पेंगलर लिखता है "युद्ध उच्चतर मानवीय अस्तित्व का शाश्वत रूप है, राष्ट्रों का अस्तित्व ही केवल युद्ध करने के लिए है। मुसोलिनी का दावा है: केवल युद्ध ही मानवीय ऊर्जा को तनाव की उच्चतम सीमा तक उभार सकता है और यह उन लोगों पर श्रेष्ठता की छाप लगा देता है जिनमें उसका सामना करने का साहस है। सर आर्थर कीथ ने १९३१ में एबर्डीन विश्वविद्यालय के छात्रों के सम्मुख रेक्टर पद से भाषण देते हुए कहा था: "प्रकृति अपने मानवीय उद्यान को छंटाई द्वारा स्वस्थ बनाए रखती है, युद्ध उसकी कतरनी है। हम उसकी सेवाओं के बिना काम नहीं चला सकते। सभी राष्ट्रों में ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने युद्ध की शक्ति प्रदान करनेवाले के रूप में, समर्थ के बच रहने में सहायक के रूप में और दुर्बलता को समाप्त करनेवाले के रूप में स्तुति की है। कहा जाता है कि युद्ध से साहस, स्वाभिमान, निष्ठा और वीरता जैसे उच्च गुणों का विकास होता है।

वातावरण में शिक्षा के सब उपकरणों का प्रयोग इस युद्ध की भावना को जगाने के लिए किया जा रहा है। हमारे किंडरगार्टनों में हत्या के यंत्रों की गतिविधियों का प्रदर्शन रहता है: तोपों का छूटना, टारपीडो और सुरंगों का विस्फोट, टैंक और विमान। हम बर्बर रूप से भरे हृदय और वैज्ञानिक कौशल से सम्पन्न मस्तिष्क के साथ शत्रु से युद्ध करते हैं।

परन्तु धर्मों ने अहिंसा को सर्वोच्च गुण का आसन प्रदान किया है और हिंसा को मनुष्य की अपूर्णता के रूप में ही स्वीकार किया है। इस अपूर्ण संसार में अच्छाई (गुड) कभी विशुद्ध रूप में प्राप्त नहीं होती, उसके विशुद्ध रूप में दर्शन के लिए हमें एक ऐसे संसार में पहुंचना होगा जो अच्छाई और बुराई से परे है। यदि संसार में आदर्श उतने पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है, जितना कि हम चाहते हैं तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि आदर्श को छोड़ दिया जाए। पूर्ण सिद्धान्तों का सम्बन्ध हमें इस भौतिक जगत् से जोड़ना है जो परिवर्तनशील है और जिसपर मानवीय मूर्खता और स्वार्थों का प्रभाव भी पड़ता रहता है। हम सामाजिक स्थिति में ऐसे परिवर्तन लाने के लिए प्रयास करना चाहिए, जिनसे आदर्श की अपेक्षाकृत अधिक यथेष्ट उपलब्धि में सहायता मिले। इस प्रश्न पर धर्मों का यही रुख रहा है। उदाहरण के रूप में मैं हिन्दू और ईसाई धर्म को लेता हूं।

हिन्दू-दृष्टिकोण

हिन्दू शास्त्र अहिंसा को परम धर्म मानते हैं। अहिंसा का अर्थ है—हिंसा न करना। सब जीवों को, मनुष्यों और पशुओं को दुःख देना या सताना हिंसा है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि यज्ञों में बलि नैतिक गुणों की ही दी जानी चाहिए।[1] आश्रमों में मनुष्यों और पशुओं के प्रति मित्रता की भावना व्याप्त रहती थी। परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि हिन्दू-शास्त्रों में बल के प्रयोग का एकदम निषेध कर दिया गया है। हिन्दू-दृष्टिकोण में ऐसे सुदूर आदर्श की कठोरतापूर्वक स्थापना नहीं की गई है जिसके सम्बन्ध में कोई छूट ही न दी जा सकती हो। दिव्यता सामान्य जीवन से पृथक होकर कहीं न मिलेगी। प्रत्येक विशिष्ट

बात नहीं है कि हम शान्ति का निर्माण किस प्रकार कर सकते हैं, अपितु यह है कि हम [illegible] में वह शान्ति किस प्रकार उत्पन्न कर सकते हैं जो [illegible] है। [illegible]

1 [illegible] —३ [illegible]

[illegible]

परिस्थिति की सुनिश्चित आवश्यकताओं का अध्ययन किया जाता है और उनके अनुरूप सिद्धान्त बनाए जाते हैं। दूरस्थ आदर्श व्यावहारिक कार्यक्रम से भिन्न होता है। बल का अनावश्यक और अनुचित प्रयोग हिंसा है। जब आश्रमवासियों को अनार्य यातिया सताती थीं तो वे बिना बदला लिए अत्याचारों को सहते रहते थे परन्तु वे आशा करते थे कि क्षत्रिय लोग शत्रुओं के आक्रमण से उनकी रक्षा करें। ऋग्वेद¹ में कहा गया है 'जो ब्राह्मणों को कष्ट देते हैं उन शत्रुओं के विनाश के लिए मैं रुद्र के धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाता हूं। मैं धर्मात्माओं की रक्षा के लिए लड़ता हूं और मैं स्वर्ग तथा पृथ्वी में व्याप्त हूं।' जहां एक ओर हमसे कहा जाता है कि हम भौतिक पाप पर आध्यात्मिक बल द्वारा विजय पाने का यत्न करें जैसा कि वसिष्ठ विश्वामित्र संघर्ष से स्पष्ट है वहां पाप का भौतिक रूप से प्रतिरोध करने की भी अनुमति दी गई है। यद्यपि सारे समय जोर इस बात पर दिया गया है कि शत्रु को जीतने के लिए आत्मिक बल का प्रयोग किया जाए, फिर भी बल प्रयोग का एकदम निषेध नहीं कर दिया गया है। साधु और तपस्वी लोग जो संसार से विरक्त हो चुके हैं और इसलिए जिनका सुसंगठित समाजों के कल्याण से कोई सीधा सरोकार नहीं है भले ही व्यक्तियों या समुदायों की रक्षा के लिए शस्त्र न उठाएं, परन्तु नागरिकों पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि वे यदि आवश्यकता हो और समर्थ हों तो आक्रमण का शस्त्रों द्वारा प्रतिरोध न करें। जब एक योद्धा सेनापति सिंह ने बुद्ध से पूछा कि क्या अपने घर-बार की रक्षा के लिए युद्ध करना बुरा है तो बुद्ध ने उत्तर दिया "जो दण्ड का पात्र है उसे दण्ड दिया ही जाना चाहिए। तथागत की शिक्षा यह नहीं कि जो लोग शान्ति बनाए रखने का कोई उपाय शेष न रहने पर धर्म के लिए युद्ध करते हैं वे दोषी हैं।' 'भगवद् गीता' में भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया गया है। इसमें अर्जुन को जो अपने कर्तव्य का पालन करने से हिचक रहा था 'स्वधर्म' का उपदेश दिया गया है। अहिंसा जीवन के अन्तिम दो सोपानों वानप्रस्थ और सन्यास के लिए है। अर्जुन क्षत्रिय गृहस्थ होते हुए सन्यासी के आदर्श पर नहीं चल सकता। कृष्ण ने न्याय के लिए सब शान्तिपूर्ण उपायों को आजमा देखा पर जब उनमें सफलता न मिली तो उसने अर्जुन को सलाह दी कि वह स्वार्थी और पापी शोषकों के विरुद्ध न्याय के लिए कर्तव्य भावना से युद्ध करे। कृष्ण अपने शान्तिपूर्ण दौत्यकर्म में असफल वापस लौटा उसने कहा 'जो कुछ सत्य उचित और लाभदायक था वह सब दुर्योधन को बताया गया पर वह मूढ़ माननेवाला नहीं है। इसलिए मेरे विचार में उन पापियों के लिए अब चौथा उपाय युद्ध द्वारा दण्ड देना ही उचित है। अन्य किसी उपाय से उन्हें सही रास्ते पर नहीं लाया जा सकता।' फिर यदि कोई मनुष्य अपने हित के लिए दूसरे मनुष्य को मारता है तो वह गलत काम

¹ १ १ १०–१५

करता है परन्तु यदि वह सामान्य हित के लिए किसीको मारता है, तो उसे दोष नही दिया जा सकता। इसके अतिरिक्त अर्जुन की मनोवृत्ति दुर्बलताजनित थी शक्तिजनित नही। उसे मारकाट करने में इसलिए एतराज नहीं था कि मारकाट अपने-आपमे बुरी चीज है उसे तो केवल अपने सम्बन्धियो को मारने में एतराज था। अब उसे उपदेश दिया गया कि वह रोष भय और द्वेष को त्याग कर युद्ध करे। प्रेम का विलोम घृणा है, बल नही। ऐसे भी अनेक अवसर होते है, जब प्रेम बल का प्रयोग करता है। प्रेम केवल भावुकता नहीं है। वह असत् (बुराई) का निवारण करने और सत् (अच्छाई) की रक्षा के लिए बल का प्रयोग कर सकता है। कृष्ण अर्जुन को वस्तुओ की सारी योजना समझाता है और उसे प्रेरणा देता है कि वह ससार के कल्याण के लिए कार्य करनेवाले लोगों मे अपना स्थान ग्रहण करे। वह कहता है कि ससार म प्रत्येक व्यक्ति को अपना कर्तव्य करना चाहिए और उसमे अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए। जिस मानवता और प्रेम के नाम पर अर्जुन लड़ने से इनकार कर रहा था अब उसी मानवता और प्रेम के नाम पर उसे युद्ध करने को कहा जाता है। अहिंसा कोई शारीरिक दशा नही है अपितु यह तो मन की प्रेममयी वृत्ति है।[1] मानसिक स्थिति के रूप मे अहिंसा अ-प्रतिरोध से भिन्न वस्तु है। यह वैमनस्य और द्वेष का अभाव है। कई बार, प्रेम की भावना के कारण बुराई का प्रतिरोध करने की वस्तुत आवश्यकता पड़ती है। हम लड़ते है किन्तु आन्तरिक शान्ति से भरे हुए। हमे स्वय बिना बुरा बने बुराई का विनाश करना चाहिए। मानव-कल्याण सबसे बड़ी अच्छाई है शान्ति और युद्ध केवल उसी सीमा तक अच्छे है, जहा तक वे मानव-कल्याण मे साधक है। हम यह नही कह सकते कि हिंसा अपने-आपम बुरी है। पुलिस द्वारा की गई हिंसा का उद्देश्य सामाजिक शान्ति होता है। इसका उद्देश्य है आततायी को रोकना। सब मामलो मे युद्ध का उद्देश्य विनाश नही होता। जब युद्ध का उद्देश्य मानव-कल्याण हो जब युद्ध व्यक्तित्व के प्रति आदरशील हो तब वह सम्य है। यदि हम यह कहें कि अपराधी के व्यक्तित्व पर भी आच नही आनी चाहिए तब भी जबकि वह दूसरे लोगो के व्यक्तित्व का अतिक्रमण करता हो यदि हम गुडे के जीवन को भी पुनीत मानकर व्यवहार करें, जबकि वह अपने से कही अधिक मूल्यवान जीवनो को नष्ट कर रहा हो तो हम बुराई के सामने घुटने टेक रहे होते है। हम बल प्रयोग को परिस्थितिया मे पृथक करके अच्छा या बुरा नहीं कह सकते। डाक्टरी आपरेशन म भी रोगी को कष्ट दिया जाता है परन्तु वह रोगी की जान बचा सकने के लिए दिया जाता है। चाहे चिकित्सक हो है या हत्यारे का

---

1. देखो 'योगसूत्र' २.३५
अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।

इसीमे सारा अन्तर है।[1]

इस अपूर्ण संसार में जहा सब मनुष्य सन्त नही है संसार का काम चलाते रहने के लिए बल का प्रयोग करना ही पडेगा। सत्य युग में बल-प्रयोग की आवश्यकता नही थी परन्तु कलियुग में जबकि लोग धर्म से पतित हो गए है बल का प्रयोग आवश्यक है। राजा दण्ड को धारण करनेवाला है—दण्डधर। क्षत्रिय वर्ण को मान्यता देने से बल प्रयोग का औचित्य स्पष्ट हो जाता है। मनु और याज्ञवल्क्य स्वीकार करते है कि धर्म या कर्तव्य का पालन करने में कभी-कभी दण्ड की भी आवश्यकता पडती है।[2] वर्तमान परिस्थितियो में उच्छृंखलो को नियन्त्रण में रखने के लिए, असहायो की रक्षा के लिए और मनुष्य मनुष्य तथा समुदाय समुदाय में व्यवस्था बनाए रखने के लिए बल का प्रयोग आवश्यक है। परन्तु इस रूप का बल का प्रयोग विनाश के इरादे से नही किया जाता। जिनपर इसका प्रयोग किया जाता है अन्ततोगत्वा उनका इससे भला ही होता है। यदि हमे अराजकता से बचना है तो इस प्रकार की न्यायसगत पुलिस (आरक्षक) कार्रवाई आवश्यक है।

हिंसा या सताना दण्ड या सजा से भिन्न वस्तु है। हिंसा से निर्दोष व्यक्ति को चोट पहुचती है दण्ड अपराधियो की वैध रूप से रोकथाम करता है। बल कानून बनानेवाला नहीं है अपितु कानून का सेवक है। शासन करनेवाला सिद्धान्त है धर्म या औचित्य और बल तो केवल उनके आदेशो का पालन करवाता है। महाभारत में विद्यार्थी का आदर्श इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है "आगे चारो वेद हो पीछे बाण समेत धनुष हो एक ओर आत्मा अपने आत्मिक बल से अपनी लक्ष्य-प्राप्ति में लगी हो और दूसरी ओर सैनिक बल अपना उद्देश्य पूरा कर रहा हो "[3] परन्तु जैसा रामायण में कहा गया है 'योद्धा का बल घृणित बल है ऋषि का बल ही सच्ची शक्ति है।'[4] । जहा अहिंसा सम्भव न हो, वहा हिंसा की अनुमति दी गई है। यह कहा गया है कि "यदि कोई ग्राम के कल्याण के लिए, स्वामी के प्रति निष्ठा के कारण या असहायो की रक्षा के लिए किसीको मारे, कैद करे या कष्ट दे तो उसे पाप नही लगता।"[5] फिर, 'यदि गुरु शिष्य को दण्ड दे स्वामी

१ विक्रियमाण तु यानि बलम् हितमाप्नुयात्।—अनुशासन पर्व ११०-२
२ ब्रह्मतेजोमय दण्ड असृजत् पूर्वमीश्वर।—मनु ७-१४
फिर
धर्मो हि दण्डरूपेण ब्रह्मणा निर्मित पुरा।—याज्ञवल्क्य १-३५४
३ अग्रतश्चतुरो वेदा पृष्ठत सशर धनु
इद ब्राह्मम् इद क्षात्र, शापादपि शरादपि।
४ धिग्बल क्षत्रियबल ब्रह्मतेजोबल बलम्।
५ ग्रामार्थे भर्तृपिण्डार्थं दीनानुग्रह कारणात्,
वध बन्ध परिक्लेशान् कुर्वन् पापात् प्रमुच्यते।—अनुशासन पर्व, १११ ११

सेवकों को दण्ड दे और राजा अपराधी को दण्ड दे तो उसे धर्म का फल (पुण्य) मिलता है।[१] मनु का कथन है आततायी को चाहे वह गुरु हो, बूढ़ा हो या बालक हो या चाहे विद्वान् ब्राह्मण ही क्यों न हो, बिना हिचक मार डालना चाहिए।"[२] वेदों में युद्धों और लड़ाइयों का वर्णन है, और उनमें अपनी विजय और शत्रु की पराजय के लिए प्रार्थनाएँ हैं। महाकाव्यों के नायक देवताओं के शत्रु असुरों से युद्ध करते कभी नहीं हिचकते। यहाँ तक कि ब्राह्मण भी शस्त्र धारण करते थे, जैसा कि परशुराम, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा जैसे ब्राह्मण योद्धाओं के उदाहरण से स्पष्ट है।[३] कौटिल्य ने तो ब्राह्मण सेनाओं तक का उल्लेख किया है जो शरणागत या दीन हुए शत्रु पर दया करने के लिए प्रसिद्ध थी। महाभारत में प्रश्न किया गया है "ऐसा कौन है, जो हिंसा नहीं करता? अहिंसा-व्रती तपस्वी लोग तक हिंसा करते हैं, किन्तु बहुत प्रयत्न करके वे उसे न्यूनतम करते हैं।" आत्मरक्षा के लिए और आहार पाने के लिए हमें जीवन का कुछ न कुछ नाश करना ही पड़ता है, परन्तु उसके लिए हमें खेद होना चाहिए, उसके विषय में प्रसन्न नहीं होना चाहिए। जितनी नितान्त आवश्यक है, उससे अधिक हत्या या हिंसा हमें कदापि न करनी चाहिए।

पूर्ण अच्छाई की आकांक्षा और पूर्ण आदर्श को दूषित करनेवाले धार्मिक कार्यों को करने की आवश्यकता में कुछ विरोध है, फिर भी कार्यों को आगे बढ़ाने का यह विरोध ही एकमात्र मार्ग है। सारे मानवीय प्रयत्न का मूल यह विरोध ही है। हमें पूर्ण अहिंसा के सर्वोच्च आदर्श और उन वास्तविक परिस्थितियों के बीच में से, जिनमें कि हमें अपूर्ण साधनों के सहारे उच्चतम आदर्श तक पहुँचना है, मार्ग निकालना होगा। धर्म के ये नियम सामाजिक दशाओं के सापेक्ष हैं और हो सकता

---

१ गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।—मनुस्मृति ८. ३५०

२२

३ यद्यपि अनेक स्थलों पर यह कहा गया है कि ब्राह्मणों के लिए अहिंसा ही परम धर्म है, फिर भी मनु शास्त्रकार देश और धर्म की रक्षा के लिए ब्राह्मणों को शस्त्र उठाने की अनुमति देते हैं। मनु । देखिए

अहिंसा परमो धर्म सर्वप्राणभृतां वर
[illegible]
अहिंसा सत्यवचनं [illegible]
[illegible] —महाभारत, [illegible]

४ [illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ।—[illegible]

५ [illegible] (कौन ऐसा है जो हिंसा नहीं करता है।)—महाभारत

है कि इनका पूर्ण भलाई के सिद्धांतों से विरोध हो परन्तु इनके अभाव में समाज में कोई कानून हो न रहेगा और अराजकता मच जाएगी। परम आदर्श का विद्यमान सामाजिक परिस्थितियों के साथ मेल बिठाया जाना चाहिए और इन दोनों की पारस्परिक क्रिया से समाज का विकास निश्चित रूप से होता रह सकता है।

सामाजिक उन्नति एक निरन्तर विकसित होती हुई सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें पूर्ण प्रेम के आदर्श के प्रति निष्ठा और जिन सुनिर्दिष्ट दशाओं में हम काम करते हैं उनके प्रति संवेदनशीलता दोनों की ही आवश्यकता होती है। निःसन्देह आदर्श तो पूर्ण अहिंसा ही है। प्रेम और न्याय द्वारा शासित संसार में बल प्रयोग की कोई आवश्यकता न होगी। शास्त्रकार नारद ने कहा है, 'जब लोग स्वभावतः धार्मिक थे और सदा सत्यपरायण रहते थे तब न कोई 'व्यवहार' (कानूनी झगड़ा-मुकदमेबाजी) था न द्वेष था न स्वार्थपरता थी।'[1] संसार भर के सन्तों का विश्वास पूर्ण अहिंसा में रहा है। वे बुराई का विरोध मनाने समझाने और निष्क्रिय प्रतिरोध द्वारा करते हैं। वे सहिष्णुता स्वेच्छा से कष्ट सहन अर्थात् तप विश्वास करते हैं। हिंसा भय द्वेष और निष्ठुरता को जन्म देती है और केवल उन्हीं लोगों के लिए सम्भव है जो आध्यात्मिक दृष्टि से अपरिपक्व या विकृत हैं। सन्त लोग शान्तिपूर्ण बर्ताव की सबके प्रति न्यायपूर्ण व्यवहार की और दुर्बलों के प्रति दया की परम्पराएं स्थापित करते हैं। भीष्म ने युधिष्ठिर को बताया था कि अहिंसा सर्वोच्च धर्म है सर्वोच्च तप है और सर्वोच्च सत्य है और इसीसे बाकी सब गुणों का जन्म होता है। सन्त आत्माएं बल का प्रयोग नहीं कर सकतीं क्योंकि उनकी सब वासनाएं मर चुकी होती हैं फिर भी वे बुराई पर विजय पाने में समर्थ होती हैं। 'कठोर को मृदु से जीता जाता है अकठोर को भी मृदु जीत लेता है मृदु के लिए असाध्य कुछ नहीं है इसलिए मृदु अधिक शक्तिशाली है।'[2]

---

१ छान्दोग्य उपनिषद् ५ ११ ५ जहां अश्वपति कैकेय यह दावा करता है कि उसने अपने राज्य से चोरों शराबियों अशिक्षितों और व्यभिचारियों को साफ कर दिया है :

न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो न मद्यप
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुत ।
अहिंसा परमो धर्म अहिंसा परम तप
अहिंसा परम सत्य ततो धर्म प्रवर्तते ।—अनुशासन पर्व ५ २५
साथ ही देखिए आदिपर्व ११६, २८

२ मृदुना दारुण हन्ति, मृदुना हन्त्यदारुणम्
नासाध्य मृदुना किञ्चित्, तस्मात्तीव्रतर मृदु ।
अक्रोधेन जिने क्रोधम् असाधु साधुना जिने
जिने कदर्य दानेन सत्येनालीकवादिनम् ।
अक्रोधेन जयेत् क्रोधम् असाधु साधुना जयेत्
जयेत् कदर्य दानेन सत्येनालीकवादिनम् ।—महाभारत

जो लोग पूर्णता का आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते हैं वे संसार को त्याग कर मठों में चले जाते हैं या किसी धार्मिक सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाते हैं। इन संन्यासियों से आशा की जाती है कि वे अहिंसक रहेंगे। "सबको समान दृष्टि से देखता हुआ वह सब प्राणियों के प्रति मित्र भाव रखे। और भक्त होने के कारण उसे किसी भी प्राणी को चाहे वह मनुष्य हो या पशु, मन वचन या कर्म से कष्ट नहीं पहुंचाना चाहिए और उसे सब प्रकार के लगाव (राग) का त्याग कर देना चाहिए।"[1] बुद्ध ने अपने शिष्यों को सावधान किया था कि वे किसी भी प्राणी को चोट न पहुंचाएं और न सताएं। पार्श्वनाथ ने अपने शिष्यों से चार महाव्रत ग्रहण करवाए : प्राणियों को न सताना (अहिंसा), सत्यपरायण रहना, चोरी न करना (अस्तेय) और धन-सम्पत्ति का संग्रह न करना (अपरिग्रह)। ये संन्यासी लोग समाज के उन बाह्य रूपों के अन्तर्गत नहीं आते जो अपने किसी विशिष्ट कृत्य को कर रहे होते हैं और जब उनका वह कृत्य समाप्त हो जाता है तो वे स्वयं भी लुप्त हो जाते हैं। ये बाह्य रूप तो आन्तरिक संगठन का आकस्मिक प्रकटन मात्र हैं। ये संन्यासी यद्यपि सामाजिक संघर्षों में कोई भाग नहीं लेते फिर भी वे प्रभावी रूप से सामाजिक उन्नति में सहायक होते हैं। वे सामाजिक आन्दोलन के सच्चे निदेशक हैं भले ही वे उस आन्दोलन में स्वयं भाग न ले रहे हों। इन्हें देखकर हमें अरस्तू की 'गतिहीन प्रेरकशक्ति' (मोटर इम्मोबिलिस) याद आ जाती है।

हिन्दू शास्त्र अहिंसा को सर्वोच्च कर्तव्य मानते हैं, परन्तु वे ऐसे अवसरों का भी संकेत करते हैं जब अहिंसा के इस सिद्धान्त से विचलित होने की भी अनुमति दी जा सकती है। हम ऐसे समाज में रहते हैं जिसके कुछ कानून, परिपाटियां और प्रथाएं हैं जो आदर्श नहीं हैं, बल्कि उनमें कुछ बीच का समझौते का सा मार्ग निकाला गया है, जिसमें सेना का, पुलिस का और जेलों का प्रयोग होता है। इस समाज में भी हम सब मनुष्यों के प्रति प्रेम भाव से पूर्ण जीवन बिता सकते हैं। आदर्श को सम्मुख रखते हुए और उस ओर का सतत प्रयत्न करते हुए भी हिन्दू दृष्टिकोण कानूनों और संस्थाओं के औचित्य को इसलिए स्वीकार करता है क्योंकि मनुष्यों के हृदय इतने कठोर हैं। 'बुद्धिमान लोग जानते हैं कि धर्म और अधर्म दोनों दूसरे को कष्ट देने से मिश्रित हैं।' परन्तु ये सब संस्थाएं तो और अच्छी व्यवस्था तक पहुंचने की सीढ़ियां भर हैं। यह ठीक है कि असम्भव पूर्णता की खोज में हमें अपने-आपको खो बैठने की आवश्यकता नहीं है, फिर भी हमें अपूर्णता को हटाने और आदर्श की ओर बढ़ने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए। सभ्यता में प्रगति की परख इस बात से की जाती है कि ऐसे अवसर कितने आए और वे कितने कम थे जिनपर नियम का अपवाद करने की अनुमति दी गई।

१ विष्णु पुराण ३, ८

शासकों के अध्यापन की पाशविक पद्धतियों को और अपराधियों को दिए जाने वाले बर्बरतापूर्ण दंडों को समाप्त किया जाना चाहिए। अहिंसा के आदर्श को हमें एक श्रेष्ठ सत्य मानकर चलना चाहिए और इससे हुए विचलनों को खेद के साथ ही अंगीकार करना चाहिए। ईसा और उसके शिष्यों के उपदेशों में भी इससे बहुत कुछ मिलता-जुलता दृष्टिकोण प्राप्त होता है।

ईसाई-दृष्टिकोण

ओल्ड टैस्टामेंट (ईसाइयों की प्राचीन धर्म पुस्तक) में दो विचारधाराएं हैं, एक शान्तिपूर्ण और दूसरी जो अधिक प्रमुख है निश्चित रूप से सैन्यवादी। 'ओल्ड टैस्टामेंट' का परमात्मा युद्ध और नरसंहार की अनुमति देता है। इस सैन्यवादी मनोवृत्ति को अपनाने के कारण ही राष्ट्र नष्ट हो गया।

ईसा की शिक्षा क्या थी यह प्रश्न ऐसा नहीं है जिसका निर्णय युद्ध की वैधता से असंगत वक्तव्यों या दूसरी ओर बल-प्रयोग की अनुमति देनेवाले वक्तव्यों के आधार पर किया जा सके। इसका पता तो ईसा के चरित्र और *आचरण से ही* लगाना होगा। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि ईसा सब प्रकार की हिंसा का निषेध करता है और राष्ट्रों की इच्छा को दूसरों पर लादने के लिए युद्ध की मनाही करता है। जब ईसा 'ओल्ड टैस्टामेंट' के इस आदेश को उद्धृत करता है 'तू हत्या न करेगा' तो वह इसे और भी विस्तृत महत्त्व प्रदान करता है। वह कहता है 'जो कोई अपने भाई से नाराज होता है वह इस खतरे में है कि *फैसला उसके* विरुद्ध हो जाए।' 'न्यू टैस्टामेंट' में एक प्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा सैन्यवादियों के अवेक्षण पर प्रकाश डाला गया है 'जब एक बलवान और सशस्त्र पुरुष अपने महल की रक्षा करता है तब उसकी चीजें शान्ति से पड़ी रहती हैं, पर जब कोई उससे भी शक्तिशाली पुरुष उसपर आक्रमण करता है और उसे हरा देता है तो वह उससे वे कवच और अस्त्रशस्त्र छीन लेता है *जिनपर उसे भरोसा था और लूट के* माल को लोगों में बांट देता है।'[1]

ईसा के इस इलहाम (दैवीय ज्ञान की स्फुरणा) के कि परमात्मा हम सबका पिता है क्रान्तिकारी निहितार्थ उन जातियों के व्यवहारों के कारण ढक-से गए जिन्होंने ईसाइमत को अपनाया। 'सर्मन ऑन दि माउंट' (ईसा द्वारा एक पहाड़ी *पर दिया गया उपदेश*) को बड़ा निराशा भरा उपदेश समझा गया जो व्यक्तियों पर भले ही लागू हो सके परन्तु राष्ट्रों पर लागू नहीं होता। ईसा की इन उक्तियों को 'जो कोई तुम्हारे दायें गाल पर थप्पड़ मारे, उसके सामने अपना बायां गाल भी कर दो' 'बुराई का प्रतिरोध मत करो' 'जो तलवार उठाते हैं वे तलवार

१ देखिए मैथ्यू, ५.२१-२२ ल्यूक, ६-२१-२८
२ ल्यूक ११.२१-२२

से ही नष्ट हो जाएँगे। "यदि मेरा राज्य इस संसार में होता, तो मेरे अनुयायी लड़ते; परन्तु अब मेरा राज्य यहाँ नहीं है।" केवल व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों में सम्बद्ध बताया गया, जिनमें क्रोधपूर्ण प्रतिशोध की अपेक्षा विशाल-हृदयता अधिक सफल सिद्ध होती है। ईसा कोई विधान-निर्माता नहीं था और उसका अ-प्रतिरोध का सिद्धान्त अपने उन थोड़े-से अनुयायियों के लिए था, जो प्रतिकूल परिस्थितियों से घिरे थे। ईसा ने इस सार्वजनिक कानून की प्रणाली को समाप्त कर देने को नहीं कहा। कोई भी संगठित समाज बल प्रयोग किए बिना नहीं रह सकता। यहाँ तक कि ईसाई राज्यों को भी अपराधियों के गिरोह का दमन करना होगा और आक्रमणकारियों से अपनी रक्षा करनी पड़ेगी। सशस्त्र प्रतिरोध ईसा की शिक्षाओं के प्रतिकूल नहीं है। ईसा ने स्वयं बड़े उग्र शब्दों में कोरेजिन, बेथ सेदा और केपरनौम नगरों की निन्दा की थी। वह स्क्राइब्ज (जाति-विशेष) और फरीसियों पर बहुत कुपित था। उसने पैसे का लेन-देन करनेवालों को कोड़े मार मारकर मन्दिर से निकाल दिया था। "और ईसा परमात्मा के मन्दिर में गया और उसने महाजनों की मेजें और पंडुकिया (फाख्ता) बेचनेवालों की कुर्सियाँ उलट दीं।" यह आचरण, जो ईसा के प्रेमपूर्ण और मृदु स्वभाव से बिलकुल असंगत है और जिसकी बुद्ध या गांधी के मामले में कल्पना भी नहीं की जा सकती, हिंसा को उचित ठहराने के लिए प्रस्तुत किया जाता रहा है। सैन्यवादियों ने ईसा के उस पक्ष पर जोर दिया है जिसमें वह कहता था कि मुक्ति सम्प्रदाय के आधार पर होगी, केवल यहूदियों की, समेरिटन (सामरी) लोगों तक की नहीं; जिसने हेरोड को 'फॉक्स' (लोमड़ी) कहा था; जिसने अंजीर के वृक्ष को शाप दिया था; जिसने सीरोफोनिशियन स्त्रियों को फटकारा था; और जिसने अनेक बार बड़े उग्र शब्दों में फेरिसियों को साँप, पाखण्डी, अन्धे और झूठे कहकर निन्दा की थी, हालाँकि वह उनका अतिथि बनकर रहा था। अपनी मृत्यु के बाद जिस राजनीतिक उथल-पुथल की उसने प्रत्याशा की थी, उसकी ओर संकेत करते हुए अपने अनुयायियों को चेतावनी देते हुए उसने कहा था कि जब उपयुक्त समय आ जाए तो वे अपने कपड़े तक बेचकर तलवारें खरीद लें। 'मैं शान्ति देने नहीं आया, बल्कि तलवार देने आया हूँ।' उसने घोषणा की थी कि "जो कोई इन नन्हे-मुन्नों को सताए, अच्छा है कि उसके गले में चक्की का पाट बाँधकर उसे गहरे समुद्र में डुबा दिया जाए।" वह बुरे मार्गों के विरुद्ध बहुत उग्र था और पश्चात्ताप न करनेवाले पापियों के प्रति अत्यन्त कठोर। मानव जीवन अन्तर्विरोधों से भरा है और हम दो बुराइयों में से उसे चुनना होता है जो कम बुरी हो। किसी सुनिर्दिष्ट परिस्थिति में हमें अच्छाई और बुराई को तोलकर देखना चाहिए और उस परिस्थिति में जिससे अधिकतम मानव-कल्याण हो, वही करना चाहिए। बहुत बार हमें दो बातों में से एक को चुनना होता है—बड़ा आपरेशन या रोगी की सुनिश्चित मृत्यु। ईसाई

धर्म की इसे सलाह है कि अहिंसा के सिद्धान्त का हल्के तौर पर पालन किया जाए और ईसाई धर्म अपने अनुयायियों से यह आग्रह भी नही करता कि वे 'सम्पत्ति या स्त्री या शस्त्रों' को पूर्ण रूप से त्याग दें।

प्रारम्भिक दिनो मे धर्म ने युद्धो का प्रतिवाद भी किया। जस्टिन मार्टियर मार्सियोन ओरिजेन टर्टूलियन साइप्रियन लैक्टेंटियस और यूसेबियस सभी ने युद्ध को ईसाइयत से बेमेल बताकर उसकी निन्दा की। क्लीमेंट आफ अलेक्जेंड्रिया (ईस्वी सन् १६ २२५) ने युद्ध की तैयारियो के विषय मे एतराज किया और ईसाई मरीचो की तुलना 'एक शस्त्रहीन युद्धहीन रक्तपातहीन क्रोधहीन और अपवित्रताहीन सेना' से की। टर्टूलियन (ईस्वी सन् १६ २ १) ने कहा है कि जब पीटर ने माल्कस का कान काट लिया "उसके बाद से ईसा ने सदा के लिए तलवार की करतूतो को शाप दे दिया। हिप्पोलाइटस (ईस्वी सन् २ १) रोमन साम्राज्य को ऐपोकलीप्स (प्रकाशित वाक्य) का चौथा हिंस्र पशु मानता था और युद्ध की सज्जा को इसका एक विशिष्ट अंग बताते हुए इसे ईसाई धर्म का शैतानी अनुकरण कहता था। साइप्रियन (ईस्वी सन् २५७) ने "शिविरो के रक्तपातमय आतंक के साथ सब ओर फैले हुए युद्धो की निन्दा की। प्रारम्भिक काल मे ईसाई धर्म ने प्रबलतम राजकीय शक्ति से अत्याचार-पीड़ित होने पर भी बल प्रयोग की निन्दा की किन्तु थियोडोसियस महान (ईस्वी सन् ३७९ ३९५) के समय से जब *ईसाइयत राज्य धर्म बनी और दूषित हो गई, ईसाई-धर्म अहिंसा का विरोध* करता रहा है। तब से लेकर धर्म और राज्य के बीच अनेक बार युद्ध हुए हैं और धर्म को हिंसा के औचित्य या अनौचित्य पर विचार करने का समय ही नही मिला। पहली तीन शताब्दियो तक ईसाई धर्म सुनिश्चित रूप से युद्ध का विरोधी रहा। फिर भी जब ईसाइयत राज्य-धर्म के रूप म प्रतिष्ठित हो गई तब युद्ध का प्रवेश ईसाई-व्यवस्था मे हुआ पहले तो युद्ध को केवल सह्य माना गया पर बाद म उसे धर्म का शुभाशीर्वाद भी प्राप्त हो गया। सैंतीसवें अनुच्छेद मे कहा गया है कि 'ईसाई लोगो के लिए यह वैध कार्य है कि वे मजिस्ट्रेट (शासक) के आदेश पर शस्त्र धारण करें और युद्धो मे भाग लें। इसम यह नही कहा गया कि न्यायोचित युद्ध मे राज्य की सहायता करना नैतिक कर्तव्य है बल्कि यह कि जो वैसा करते हैं वे ईसाई दृष्टिकोण से वैध आचरण कर रहे हैं। कैथोलिक का मन्तव्य है कि धर्मी या लोगो का 'तलवार उठाने का अधिकार' प्राप्त है यदि व उसका उपयोग किसी न्याय पक्ष के लिए और बिना व्यक्तिगत लाभ का विचार किए किया कर रहे हो। सेंट टामस एक्विनास ने पादरियो को प्रेरणा दी कि वे सैनिको को उत्साहित कर क्योंकि पादरी या का यह यह कर्तव्य है कि न्यायोचित युद्धो मे भाग लेने के लिए दूसरे लोगों को सलाह दें और प्रेरित कर। यदि आज पोप और आर्चबिशप हम यह बताते हैं कि युद्ध करना ईसाई कर्तव्य है तो यह केवल इसी

चर्च की शुभ सलाह है कि अहिंसा के सिद्धान्त का हल्के तौर पर पालन किया जाए और ईसाई चर्च अपने अनुयायियों से यह आग्रह भी नहीं करता कि वे 'सम्पत्ति या स्त्री या बच्चों' को पूर्ण रूप से त्याग दें।

प्रारम्भिक दिनों में चर्च ने युद्धों का प्रतिवाद भी किया। जस्टिन मार्टियर मार्सियोन ओरिजैन टर्टूलियन साइप्रियन लैक्टेंटियस और यूसेबियस सभी ने युद्ध को ईसाइयत से बेमेल बताकर उसकी निन्दा की। क्लीमेंट आफ अलेग्जेंड्रिया (ईस्वी सन् १६ -२२५) ने युद्ध की तैयारियों के विषय में एतराज किया और ईसाई मसीहों की तुलना 'एक शस्त्रहीन युद्धहीन रक्तपातहीन क्रोधहीन और भ्रष्टीकरणहीन सेना' से की। टर्टूलियन (ईस्वी सन् १६० २ १) ने कहा है कि जब पीटर ने माल्कस का कान काट लिया "उसके बाद से ईसा ने सदा के लिए तलवार को करतूतों को शाप दे दिया। हिप्पोलाइटस (ईस्वी सन् २ १) रोमन साम्राज्य को एपोकलीप्स (प्रकाशित वाक्य) का चौथा हिंस्र पशु मानता था और युद्ध की सज्जा को इसका एक विशिष्ट अंग बताते हुए इसे ईसाई चर्च का शैतानी अनुकरण कहता था। साइप्रियन (ईस्वी सन् २२७) ने शिविरों के रक्तपातमय घातक के साथ सब ओर फैले हुए युद्धों' की निन्दा की। प्रारम्भिक काल में ईसाई चर्च ने प्रबलतम राजकीय शक्ति से अत्याचार-पीड़ित होने पर भी बल प्रयोग की निन्दा की किन्तु थियोडोसियस महान (ईस्वी सन् ३७६ ३६५) के समय से जब ईसाइयत राज्य धर्म बनी और दूषित हो गई, ईसाई-धर्म अहिंसा का विरोध करता रहा है। तब से लेकर चर्च और राज्य के बीच अनेक बार युद्ध हुए हैं और चर्च को हिंसा के औचित्य या अनौचित्य पर विचार करने का समय ही नहीं मिला। पहली तीन शताब्दियों तक ईसाई चर्च सुनिश्चित रूप से युद्ध का विरोधी रहा। फिर भी जब ईसाइयत राज्य-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हो गई तब युद्ध का प्रवेश ईसाई-व्यवस्था में हुआ पहले तो युद्ध को केवल सह्य माना गया पर बाद में उसे चर्च का शुभाशीर्वाद भी प्राप्त हो गया। सैंतीसवें अनुच्छेद में कहा गया है कि 'ईसाई लोगों के लिए यह वैध काम है कि वे मजिस्ट्रेट (शासक) के आदेश पर शस्त्र धारण करें और युद्ध में भाग लें। इसमें यह नहीं कहा गया कि न्यायोचित युद्ध में राष्ट्र की सहायता करना नैतिक कर्तव्य है बल्कि यह कि जो ऐसा करते हैं वे ईसाई दृष्टिकोण से वैध आचरण कर रहे हैं। कैथोलिक का मन्तव्य है कि धर्मों या लोगों को तलवार उठाने का अधिकार' प्राप्त है यदि वे उसका उप *योग किसी न्याय पक्ष के लिए और किसी व्यक्तिगत लाभ का विचार किए बिना* कर रहे हों। सेंट टामस एक्वाइनास ने पादरियों को प्रेरणा दी कि वे सैनिकों को उत्साहित करें क्योंकि पादरियों का यह यह कर्तव्य है कि वे न्यायोचित युद्धों में भाग लेने के लिए दूसरे लोगों को सलाह दें और प्रेरित करें। यदि आज पोप और आर्कबिशप हमें यह बताते हैं कि बम बरसाना ईसाई कर्तव्य है, तो यह नयी नहीं

नाम की शिक्षा यह है कि हम संसार को युद्ध जैसी बुराई से तब तक मुक्त नहीं कर सकते जब तक हम उससे उत्पन्न होनेवाले कष्टों को सहन करने को उद्यत न हों। जहां तक सम्भव हो हम बर्बरता से और अपने आसपास के संसार की हत्या भरी वासनाओं से अलग रहने का प्रयत्न करना चाहिए और यह आशा करनी चाहिए कि किसी न किसी दिन स्वस्थतर सिद्धान्त के विकास का मौका आएगा। घृणा से उन्मत्त इस संसार में हम प्रेम के लिए एक ज्योति जलाते ही होंगे।

कहा जाता है कि बुराई को केवल बल द्वारा ही संयत रखा जा सकता है और इस संघर्ष और हिंसा से भरे संसार में यदि न्याय की रक्षा न की जाए, तो वह मर जाएगा। पर क्या प्रेम भावना पर दृढ़ रहने के परिणामों की चिन्ता करने का काम हमारा है? इसका ध्यान परमात्मा रखेगा कि बुराई पर अच्छाई की विजय हो। हमारा कर्तव्य यह है कि सर्वदा और सर्वत्र प्रेम के विधान को लागू करें और कभी भी कार्यसाधकता व्यावहारिकता प्रतिष्ठा सम्मान सुरक्षा आदि के झमेलों में जो सबके सब भय और अहंकार से उत्पन्न होते हैं, पड़कर राह न भूलें। एक सामान्य (साझे) पिता में विश्वास रखते हुए हम ऐसी प्रणाली के साथ कभी सहमत नहीं हो सकते जो नितान्त अविचार के साथ मनुष्यों के दलों को विनाश करती है। ईश्वर में विश्वास करनेवालों को युद्ध का बुद्धिमत्ता और प्रेम की भावना का विरोधी होने के कारण विरोध करना ही होगा। आप इसे चाहे किसी तरह क्यों न छिपाएं किन्तु युद्ध लोगों के एक समूह का लोगों के दूसरे समूह पर हत्या और विनाश द्वारा अपनी इच्छा लादने का प्रयत्न-मात्र है। युद्ध की जड़ें लोगों के हृदय में अभिमान और भय में ईर्ष्या और स्वार्थ में हैं, चाहे वे दुर्बलताएं राष्ट्रीय बाना भी धारण क्यों न कर लें।

क्या हम 'पवित्र' 'न्याय्य' या 'रक्षात्मक' युद्धों में भाग नहीं ले सकते? इस विषय में ईसा का उत्तर स्पष्ट और निश्चयात्मक है। जब ईसा के शिष्य शत्रुओं से उसे बचाना चाहते थे उनके उद्देश्य से बढ़कर तो और कोई पवित्र उद्देश्य हो नहीं सकता। वे केवल पृथ्वी के राज्य के लिए नहीं अपितु परमात्मा के राज्य के लिए लड़ना चाहते थे जिसके सामने देशभक्ति का बड़े से बड़ा दावा फीका पड़ जाता है। परन्तु इस संसार का उद्धार शस्त्रों के प्रयोग द्वारा नहीं हो सकता। इसका उद्धार केवल कष्ट सहनपूर्ण धैर्य और क्रास के बलिदानपूर्ण प्रेम द्वारा ही हो सकता है। कोई बदला नहीं कोई प्रतिशोध नहीं—न राष्ट्रीय न व्यक्तिगत। हम यह नहीं कह सकते कि प्रेम के सिद्धान्त को केवल व्यक्तिगत सम्बन्धों तक ही सीमित रखा जाए और उसका क्षेत्र सार्वजनिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तक न बढ़ाया जाए। ईसाई चेतना उन्नत हो रही है और इसीलिए पन्द्रह वर्ष पहले लैम्बेथ में हुए एक सम्मेलन में आर्कबिशपों और बिशपों ने घोषणा की थी कि युद्ध "ईसा के विचारों से बेमेल है। हम यह अनुभव करने लगे हैं कि यदि

हम सभ्य समझे जाना चाहते हैं तो हम युद्धों का आमूल उन्मूलन करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह मानवीय चेतना का विकास जैसी एक वस्तु है—सही और गलत के हमारे विवेक में वृद्धि।

युद्ध की भ्रान्तियाँ

जिन्हें हम गलत समझते हैं, उनके कारण इस संसार में इतनी बर्बरता क्रूरता नहीं रही जितनी कि जिन्हें हम ठीक समझते हैं उनके कारण। अपराधियों और गुंडों द्वारा संसार को दिया गया कष्ट भले आदमियों के कुकर्मों के परिणामस्वरूप मिले कष्ट की तुलना में बहुत कम है। धार्मिक युद्धों को ईसाई धर्म का आशीर्वाद प्राप्त था। न्यायोचित यन्त्रणा न केवल अपराधियों को दी जाती थी अपितु सत्य उद्घाटन के उपाय के रूप में साक्षियों को भी सहन करनी पड़ती थी। अल्प वेतन के लिए कठोर परिश्रम करवाने बाल-श्रम और दासता को न्यायोचित माना जाता था। सभ्य नागरिक युद्धों को भी सभ्य जीवन की स्वाभाविक और हानि रहित सत्ता मानते रहे हैं। परन्तु हमारे वंशज राष्ट्रों के रूप में हमारे सामाजिक व्यवहार को उसी प्रकार लज्जाजनक समझेंगे जैसे आज हम बलपूर्वक सती प्रथा और दास-व्यापार को समझते हैं और हम अपने वंशजों के दृष्टिकोण को जितना शीघ्र समझ सकें मानव-जाति के लिए उतना ही भला होगा। इन मामलों में हम कृत्रिम उपायों द्वारा बर्बरता की दशा में रखे जा रहे हैं। वास्तविक खतरा दुष्ट लोग नहीं हैं अपितु कानून का पालन करनेवाले दयालु और परिश्रमी साधारण नागरिक हैं जिनपर राष्ट्रीयता का उन्माद सवार है क्योंकि उचित और अनुचित के बारे में उनके विचारों को जान-बूझकर और सुयोजित ढंग से विकृत कर दिया गया है। कोई बुराई सामाजिक प्रणाली में जितनी अधिक गहरी पैठ जाती है उसके विरुद्ध मनुष्य की अन्तरात्मा को जगाना उतना ही अधिक कठिन हो जाता है। आधारभूत विचारों को और भावनाओं में सम्बद्ध जमी हुई आस्था को उखाड़ने की प्रक्रिया बहुत कष्टप्रद होती है। हमें निरन्तरतापूर्वक एक युद्धहीन संसार के लक्ष्य की ओर बढ़ना है। मानव-स्वभाव मूलतः सुखद है और इसके भविष्य की सम्भावनाओं की खोज भी जानी अभी शेष है। [illegible] को माथा पर अधिक ऊपर चढ़ जाने के बाद हम अनुभव करते हैं कि जितने ऊपर हम चढ़े हैं भविष्य में उससे भी अधिक ऊपर चढ़ सकते हैं। यद्यपि एक धर्म में परमात्मा का राज्य पृथ्वी पर कभी भी स्थापित नहीं होता फिर भी एक ओर पथ में यह सदा स्थापित हो रहा है। संसार कभी भी बिल्कुल अहिंसा शून्य नहीं रहा था। ही यह सदा न हो ऐसा उद्देश्य होना चाहिए। बुराई का सामना—अनुभव करना—जो मानव-स्वभाव और मानव-व्यवस्थाओं में विद्यमान है और जिसके कारण आज संसार में दोष गया है, आज प्रगति का तकाजा है। इस दृष्टि से के लिए हु

सबस्य को विकसित करता है और ऐसी परिस्थितियां स्थापित कर देती हैं जिनमे युद्ध का अभियान आकर्षक न रहे। मानव-स्वभाव सारत अनुदार है और उसे अकर्मण्य भी कहा जा सकता है। केवल तीव्रतम आवश्यकता ही उसे बनाकर उचित बना सकती है। यह केवल आन्तरिक और बाह्य आवश्यकताओं की प्रेरणा के अधीन ही परिवर्तित होता है परन्तु परिवर्तित यह अवश्य होता है। यदि वह परिवर्तित न होता तो मनुष्य कभी का एक लुप्त जाति बन चुका होता। मानव मन की भांति दुबद्य वस्तु और कुछ नही है। मनुष्य अभी भी निर्माण की दशा मे है उसका निर्माण पूर्ण नही हो चुका।

सभ्य राष्ट्र धीरे-धीरे यह समझने लगे है कि युद्ध विवादो का निर्णय कराने का पुराना पड गया तरीका है। आधुनिक युद्ध म उद्देश्यो के अनुपात मे इतनी अधिक हत्या होती है कि अतीत मे युद्ध को उचित ठहराने के लिए जो युक्तियां और मनोभाव प्रस्तुत किए जाते थे वे अब समर्थनीय नही रहे। हत्या करना और जीवन को असह्य बना देना मानव-स्वभाव का अनिवार्य अग बताया गया है। स्पेंगलर लिखता है 'मनुष्य शिकार-जीवी पशु है। मैं इस बात को बार-बार कहूगा। धर्म के सब आदर्श और सामाजिक नैतिकतावादी जो इससे कुछ आगे होना या जाना चाहते है ऐसे शिकार-जीवी पशु है जिनके दांत टूटे हुए है, और जो दूसरो से इसलिए घृणा करते हैं कि व आक्रमण करते हैं जिनसे वे बडी सतर्कता के साथ बचते रहते हैं। राष्ट्रीयता के विषय मे हाल म ही प्रकाशित एक पुस्तक मे वही लेखक लिखता है, 'युद्ध की आवश्यकता न तो राष्ट्रीयता मे निवास करती है न राष्ट्र मे अपितु इसका निवास तो मानव-स्वभाव मे ही है। ऐसे काल की प्रत्याशा करना जिसमे मनुष्य दूसरे मनुष्य-समूहो से सघर्ष करने के लिए अपने आपको समूहो के रूप मे सगठित करना छोड दवे केवल आदर्शलोक (यूटोपिया) की कल्पना प्रतीत होती है।[1] मनुष्य कोई शिकार-जीवी पशु नही है जो अपने निर्बलतर पडोसियो को खा जा ही जाता हो। मानव प्राणी हिंस्र पशुओ के समान नही है। फिर, मानवीय बर्ताव मुख्यतया अविगत है सहज प्रवृत्तिक नही। इस बर्ताव का निर्धारण जीवाणु-कोषो द्वारा नही होता जसे ततैया और चींटियो के बर्ताव का होता है। समुद्र पार जाने के लिए हमारे पख या मछलियो की तरह पर नही निकलते अपितु हम विमान और जहाज बनाते है। मनुष्य की इस विशेषता के कारण ही वह शष सृष्टि से उत्कृष्ट है। वह परिस्थितियो के अनुरूप अपना बर्ताव को ढाल सकता है। युद्ध-प्रेम कोई सहज प्रवृत्तिक मनोवृत्ति नही है अपितु अधिगत मानसिक आदत है। आज का समाज चाहता है कि हम युद्धक्षेत्र म जाकर कष्ट उठाए और मर जाए जैसे अन्य कालो म यह चाहता था कि लोग आत्मबलि द या जगन्नाथ क रथ के नीचे लटकर मर जाए। हमारे मन सामाजिक व्यवस्था

1 ऐटलांटिक्स पृष्ठ ११५

असम्भव होगी क्योंकि किसी भी व्यक्ति को इस बात के लिए तैयार नहीं किया जा सकेगा कि वह किसीको कोड़े मारे। परन्तु आज स्थिति यह है कि कोई भी भला जेल का सिपाही एक रुपया लेकर कोड़े मारने को तैयार हो जाता है सम्भवतः इसलिए नहीं कि वह इसे पसन्द करता है या वह शास्त्र की दृष्टि से वाञ्छनीय समझता है अपितु इसलिए कि उससे इस बात की प्रत्याशा की जाती है। यह सामाजिक प्रत्याशाओं के प्रति आज्ञापालन की भावना है। युद्ध की करुण और कुत्सित दशा इस बात में है कि हमसे कोई बुराई न होते हुए भी हम इसमें भाग लेते हैं इसलिए नहीं कि हम किसी प्रकार क्रूर हैं बल्कि इसलिए कि हम दयालु होना चाहते हैं। हम युद्धों में भाग लेते हैं प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए, संसार को स्वाधीन भला दिखाने के लिए, अपनी स्त्रियों और बच्चों की रक्षा करने के लिए और अपने घर-बार का बचाव करने के लिए। कम से कम हमारा विश्वास यही होता है।

जिस प्रकार नर-मांस-भक्षण नर-मुण्ड-संग्रह, जादूगरनियों को जीते जी जला देना और द्वन्द्वयुद्ध समाज-विरोधी कृत्य समझे जाते हैं, उसी प्रकार युद्ध को भी एक महा भयानक बुराई समझा जाना चाहिए। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि नैतिक प्रमाप (स्टैंडर्ड) राज्यों पर भी लागू होते हैं। जो कर्म व्यक्ति के लिए बुरे समझे जाते हैं वे ही राज्य द्वारा किए जाने पर उचित और ठीक नहीं बन सकते। युद्ध जो बड़ी संख्या में लोगों द्वारा की गई हत्या और चोरी है चाहे कितना भी आवश्यक क्यों न हो है बुराई ही।

यह युक्ति प्रस्तुत की जाती है कि साहस और त्याग कर्तव्य के प्रति निष्ठा और बलिदान के लिए उद्यतता इत्यादि कुछ सैनिक गुण हैं। सैनिक का सम्मान का दावा युद्ध-यन्त्र के प्रति उसकी स्वेच्छापूर्वक वश्यता स्वीकृति के कारण ही तो है। यह युद्ध के कल्पना-बहुल वर्णन उसकी महिमा और संकटों का महाकाव्यों की पद्धति पर वर्णन करने के कारण ही सम्भव हुआ है। युद्ध को सभ्यता और प्रगति का एक साधन माना जाता है सद्‌गुणों और आनन्द का एक स्रोत।[1] पुराने प्रारम्भिक दिनों में युद्ध अपेक्षाकृत निर्दोष वस्तु थे मुक्केबाजी की प्रतियोगिताओं की एक माला की भांति जिसमें योद्धा लोग एक-एक करके आपस में लड़ते थे। महा

१ ट्रू स्टर्के से तुलना कीजिए, 'ब्लोकेड रैक्युमेंस' में न्याय्य और पवित्र युद्ध के सर्वोच्च सौन्दर्य का किस उत्साह के साथ वर्णन किया गया है : सब की ओर से केवल कुछ और स्वप्नद्रष्टाओं ने अपनी आँखें मींच ली हैं जो मानो स्थायी शान्ति की मरीचिका सारा समय से चिपटी रहता है, पर अपने गौरवपूर्ण आकाश में छत पाकर नष्ट हो जाती है और उसके ऊपर अब भी कोई ध्यान नहीं रहता युद्ध संसार से कभी समाप्त कर दिया जाएगा यह धारणा न केवल बेहूदी है, अपितु अत्यन्त अनैतिक भी। कल्पना कीजिए इससे मानव आत्मा की अनेक आत्मत्याग और देव शक्तियाँ अनविकसित रह जाएँगी और सारा संसार अन्धकार के एक विशाल मन्दिर में जा पहुँचेगा। देखिए दस लेख जर्मनी एण्ड नेक्स्ट वार (१९११) पृष्ठ १४-२

तक कि मध्य युग में भी लोग सैनिक पेशा अपना लेते थे और अपने-अपने प्रति द्वन्द्वी राष्ट्रों के हाथों वेतन भोगी सैनिकों के रूप में युद्ध के लिए बेच देते थे। इन राष्ट्रों से उनका अपना कोई सम्बन्ध न होता था। वे उन राष्ट्रों के लिए हत्याएं करते थे जिनके प्रति उनकी कोई निष्ठा नहीं होती थी। परन्तु आधुनिक युद्ध जिनमें आक्रमण के बर्बर अस्त्रों का प्रयोग होता है जिनमें जनसमुदाय के सबसे असहाय और सबसे कम जिम्मेदार तत्वों का कत्ले-आम होता है किसी भी राष्ट्र पर आ पड़नेवाली भयंकरतम विपत्ति है। स्त्रियों और बच्चों का नम्बर सबसे पहले आता है। मनुष्य की सूझ-बूझ चकमक पत्थर से इस्पात तक इस्पात से बारूद तक बारूद से विषैली गैस और रोगों के कीटाणुओं तक आगे बढ़ आई है। युद्ध अपने सघन स्वरूप और दूरगामी परिणामों के कारण अस्त्रों के आधुनिक संसार में सभ्यता के लिए भयंकर संकट बन गया है। यह शारीरिक हिंसा तथा शत्रु के विरुद्ध घृणा के निरन्तर प्रचार, दोनों के द्वारा मनोवेगों को पाशविक बना देता है। यह परमाणु नीति के लिए पद्धति के रूप तक में आतंकवाद का प्रयोग करने के लिए हमें तैयार कर लेता है। बड़े-बड़े विचारकों ने इसके नैतिक भ्रष्टता लानेवाले स्वरूप का वर्णन किया है। सेंट आगस्टाइन प्रश्न करता है "युद्ध में क्या बात निन्दा योग्य है? क्या यह तथ्य है कि यह उन लोगों को मारता है जो सबके सब किसी न किसी दिन मरेंगे ही? इस बात के लिए दुर्बलचित्त व्यक्ति युद्ध की निन्दा करे तो करें किन्तु धार्मिक व्यक्ति नहीं कर सकते। युद्ध में जो निन्दनीय वस्तु है वह है हानि पहुंचाने की इच्छा अदम्य घृणा प्रतिशोध की उग्रता और प्रभुत्व जमाने की वासना। टाल्स्टाय ने अपने महान उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' में लिखा है "युद्ध का उद्देश्य हत्या है इसके उपकरण हैं—जासूसी देशद्रोह और देशद्रोह के लिए प्रोत्साहन निवासियों का विनाश सेना की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए उन्हें लूटना या उनका सामान चुरा लेना और मिथ्या भाषण जिसे सैनिक कौशल कहा जाता है। सैनिक पेशे के लोगों की आदतें हैं—स्वाधीनता का अभाव अर्थात् अनुशासन सुस्ती अज्ञान क्रूरता व्यभिचार और मदिरापान की उन्मत्तता। फ्रेडरिक महान ने अपने मन्त्री पार्डेविल्स को लिखा था "यदि ईमानदार आदमी बनने से कुछ लाभ होता हो तो हम ईमानदार आदमी बनेंगे और यदि ठग बनना आवश्यक होगा तो हम ठग बनकर रहेंगे।[1] जो कोई भी युद्ध के कारण होनेवाली प्रभावों की सामान्य गिरावट से युद्ध के कष्टों और पापों से और मानव-जाति की यन्त्रणा से परिचित है वह कभी भी वीरत्व और विजयों का

---

१ १०-२५। तुलना कीजिए "किसी भी राजकुमार के लिए अपनी गुप्त महत्त्वाकांक्षाओं को छिपाने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि वह अपनी गुप्त आकांक्षाओं को प्रकट करने के लिए अनुकूल समय आने तक शान्तिपूर्ण भावनाओं का बखान करता रहे। —फ्रेडरिक महान्, पोलिटिकल टेस्टामेंट (१७५२)

प्रतिरक्षता के साथ समर्थन नहीं करेगा। युद्ध में हमें सब अपराध एक महद् घनीभूत रूप में दिखाई पड़ते हैं। ड्यूक आफ वैलिंग्टन ने कहा था "इतनी बात मेरी मान रखो कि यदि तुमने युद्ध का केवल एक भी दिन देख लिया तो तुम सर्वशक्तिशाली परमात्मा से यही प्रार्थना करोगे कि तुम्हें फिर युद्ध की एक घड़ी भी न देखनी पड़े।" साम्रोले का कथन है कि 'विजय को अन्त्येष्टि संस्कार की विधि द्वारा मनाया जाना चाहिए।'[1]

कहा जाता है कि युद्ध तो एक ऐसी बुराई है जिससे बच पाना सम्भव नहीं है यह एक विपत्ति है परमात्मा की ओर से भेजा गया दैवीय कोप एक प्राकृतिक महाविपत्ति भूकम्प या तूफान एक ऐसी वस्तु, जिसका व्यक्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। असभ्य आक्रान्ताओं का आगमन टिड्डियों के दल या रोगों के कीटाणुओं के आक्रमण के समान ही मिलता-जुलता है और हमें उस आक्रमण का प्रतिकार बल प्रयोग द्वारा करना चाहिए। परन्तु युद्ध केवल परमात्मा के कोप के रूप में या प्रकृति के नियमों के अनुसार नहीं होते वे तो मनुष्यों द्वारा और जो अधिकतम मनुष्यों का दिया जाता है उसके द्वारा रचे जाते हैं। वे तब तक अनिवार्य हैं जब तक हम शक्ति की राजनीति को स्वाभाविक मानते हैं। यदि न्याय और सहिष्णुता की मान्यताओं का सत्ता प्राप्त करने के उद्देश्य के अधीन कर दिया जाएगा तो जंगल के कानून (अराजकता) पर विजय नहीं पाई जा सकती। यदि राजनीतिक यथार्थवाद का अर्थ यह है कि युद्ध को स्वाभाविक माना जाए, तो हम मानवीय स्वतन्त्रता का अस्वीकार कर रहे होते हैं। पृथ्वी पर शान्ति की स्थापना एक विश्वास का कार्य है नियतिवाद के विरुद्ध स्वतन्त्र संकल्प का एक कार्य।

कुछ लोग कहते हैं कि जब घर में आग लगी हो हमें आग का मुकाबला आग से करना चाहिए पर अन्य लोगों का विचार है कि पानी अग्नि-ज्वालाओं को बुझा सकता है आग नहीं। अशम अशम से ही शान्त होता है। यदि हम भी बल में ही विश्वास रखते हैं तो हम उन नात्सियों को दोष नहीं दे सकते जो मानवीय मस्तिष्कों को तोड़ने के लिए बल का सुस्पष्ट वैज्ञानिक और निष्ठुर रीति से प्रयोग करते हैं। पर क्या हम बल-प्रयोग और भयकाने की नीति अपनाकर फासिज्म को पराजित कर सकते हैं जबकि इन्हीं नीतियों पर वह फलता-फूलता है? हमारी युक्ति होगी कि आज सभ्यता की परम्परा को एक नये प्रकार की असभ्यता (बर्बरता) से खतरा पैदा हो गया है यह नई असभ्यता अतीत की किसी भी असभ्यता की अपेक्षा अधिक दुर्जय है क्योंकि इसके पास अत्यधिक शक्ति शाली वैज्ञानिक और तकनीकी उपकरण हैं। इस बर्बरता की मुख्य विशेषता एक प्रकार का सामाजिक अन्धीकरण है जो कला और संस्कृति को विज्ञान और

[1] लाइफ अ प्र ३१
[2] ... साम्र्भो।

शासन को सत्ता के लिए संघर्ष में साधन से अधिक कुछ नहीं समझता। उसके लिए कुछ पुनीत नहीं है न पुरुष न स्त्री न बच्चा न घर न विद्यालय न धर्म। राज्य को एक विशाल समाज के रूप में संगठित किया गया है और सम्पूर्ण भौतिकवादी प्रणाली को नियन्त्रित कर दिया गया है। नाजी जर्मनी जहाँ सैनिकवाद हिंस्र राज्य का प्रमुख रूप है बल के सिद्धान्त का चरम उदाहरण है। मार्शल [illegible] के इस प्रसिद्ध वक्तव्य का कि रक्षा का एकमात्र उपाय आक्रमण है अर्थ यह है कि यदि हम अपनी रक्षा करना चाहते हैं तो हम स्त्रियों और बच्चों को शत्रु की अपेक्षा भी अधिक शीघ्रता से मार डालना होगा। यदि शत्रु विषैली गैस का प्रयोग करता है तो हम भी वही करना होगा। यदि शत्रु अनिवार्य सैनिक भर्ती को अपनाता है तो हम भी वही अपनानी चाहिए। शत्रु को पराजित करने के लिए हम भी उसके समान बनना होगा। मित्र राष्ट्रों को सर्वांगीण युद्ध के पथ पर जाना होगा। हम कहते हैं कि प्रजातन्त्र सहिष्णुता और स्वाधीनता के सिद्धान्तों को अस्थायी रूप से कुछ देर के लिए त्यागना ही होगा। हम अपने लिए भी वही शासन तन्त्र अपनाएंगे जिसे अपनाने के कारण हम अपने शत्रुओं से घृणा प्रदर्शित करते हैं। हम बुराई का मुकाबला बुराई से करना होगा यहाँ तक कि हम स्वयं भी वही बुराई बन जाएं जिसके विरुद्ध हम लड़ रहे हैं। शत्रुओं को जीतना तो दूर रहा हम शत्रुओं को यह अवसर दे रहे हैं कि वे हमें ठीक अपनी प्रतिमा बना लें।[1] रूस के नाम दिए गए स्तालिन के इस सन्देश से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह खतरा कितना बड़ा है "अपनी सम्पूर्ण आत्मा के साथ शत्रु से घृणा किए बिना उसे हरा पाना असम्भव है।"[2] हम अपने उद्देश्य अपने शत्रुओं के उद्देश्यों से भिन्न

[illegible]

[illegible]

[illegible]

बना ए सकते हैं परन्तु साथ ही यदि पश्‍चिम में जर्मनी को यह अनुमान हुआ कि १६१६ की शान्ति-सन्धि में उसके साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार हुआ था तो वह अपने विजेताओं से बदला लेने के साधन किसी न किसी प्रकार ढूंढ ही लेगा। वह छाप गहरी छाप जो मानव-हृदय पर चार वर्षों की अभूतपूर्व मारकाट द्वारा लगी है उन वर्षों के बीतने के साथ-साथ लुप्त नहीं हो जाएगी जिनमें यह महायुद्ध की भयावह तलवार द्वारा लगी थी। उस दशा में शान्ति को बनाए रखना इस बात पर निर्भर होगा कि उकसाहट के लिए कोई ऐसे कारण न रहें जो निरन्तर देश भक्ति की न्याय या ईमानदारी की भावनाओं को उत्तेजित करते रहें। परन्तु विजय के क्षणों में प्रदर्शित किया गया अन्याय और दमन कभी भुलाया जाएगा और न क्षमा किया जाएगा।"[11] बाद में हुई घटनाओं के लिए वर्साई सन्धि भी कुछ कम जिम्मेदार नहीं है। उस सन्धि के बाद चले राजनयिक खेलों में कुछ राष्ट्रों की विफलता और निराशा के कारण तथा कुछ अन्य राष्ट्रों की भीरुता और मिथ्या सुरक्षा के कारण तनावपूर्ण स्थितियां उत्पन्न होती गईं, यहां तक कि राष्ट्रों के नेता उत्तेजित हो उठे पागल हो गए और उन्होंने संसार को अग्नि-ज्वालाओं में झोंक दिया। सम्भव है कि हम इस युद्ध को जीत जाएं परन्तु क्या हम शान्ति को जीत पाएंगे ?

फिर, यदि किसी विवाद का निपटारा बल द्वारा हो जाता है तो क्या वह निपटारे का ठीक ढंग है ? जिस पक्ष के पास सबसे अधिक धनबल जन और अस्त्रशस्त्र होते हैं वह जीत जाता है। इससे यह पता नहीं चलता कि उनका लक्ष्य न्यायोचित था अपितु केवल यह पता चलता है कि उनका सैन्यबल उत्कृष्टतर था। युद्ध के द्वारा किसी समस्या का समाधान नहीं होता सिवाय इसके कि कौन-सा पक्ष अधिक शक्तिशाली है। जो लोग विश्व के सर्वनाशकर्ता बनना चाहते हैं वे यन्त्र सभ्यता की नई तकनीकों में कुशलता प्राप्त कर लेते हैं और उसका उपयोग दूषित उद्देश्यों के लिए करते हैं जिन्हें वे मातृभूमि के प्रति निष्ठा और स्वतन्त्रता का प्रेम आदि के नामों से छिपाते हैं।

यदि युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का एक स्थायी अंग बन जाए, यदि हम निरन्तर उत्तेजना की दशा और निरन्तर चरम संकट की दशा में जीना हो तो सभ्यता सदा के लिए अन्धकारमग्न हो जाएगी। युद्ध मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करने का कोई उपाय प्रस्तुत नहीं करता उलटे यह अपने पीछे अवर्णनीय मानवीय दुःख और कष्ट छोड़कर जाता है।

प्रश्न उठता है दूसरा विकल्प क्या है ? अपमानजनक दासता जिसमें प्रत्येक आदर्श और परिष्कृत वस्तु समाप्त हो जाएगी और आध्यात्मिक प्रगति असम्भव हो जाएगी एक मनहूस निरानन्द, अमानवीय जीवन जिसकी कल्पना से ही मानव

(११) पृष्ठ ४ ५

राष्ट्र को तब तक संसार को युद्ध मे नही झोंकना चाहिए जब तक कि समझौते की बातचीत, विचार-विमर्श और मध्यस्थता के सब साधन आजमाकर न देख लिए गए हों? न्यायोचित युद्ध अनाक्रमणात्मक और स्वाधीनता दिलानेवाले होते हैं। उनका उद्देश्य यह होता है कि लोगों की विदेशी आक्रमण से और उन्हें दास बनाने के प्रयत्नों से रक्षा की जाए। अन्यायपूर्ण युद्ध आक्रमणात्मक होते हैं और उनका लक्ष्य दूसरे देशों पर कब्जा करना और उन्हें अपना दास बनाना होता है। पर क्या यह विभेद खूब स्पष्ट है? ये बहुत उलझे प्रश्न हैं और हमारी जानकारी के स्रोतों को सरकारों ने विषाक्त कर दिया है; अतः हमारे लिए यह निश्चय कर पाना कठिन हो गया है कि कौन-सा युद्ध न्यायोचित है। ठीक और गलत इतने स्पष्ट रूप से अलग-अलग विभक्त नहीं हैं कि एक पक्ष में केवल एक हो और दूसरे पक्ष में दूसरा। अधिक से अधिक यह कम न्यायोचित और अधिक न्यायोचित का अन्तर हो सकता है। आक्रमणकारी और आत्मरक्षक और अन्तर भी वास्तविक नहीं है। हमें यह नहीं समझना चाहिए कि हमारे शत्रु घोर राक्षस हैं जो हमारे बच्चों को कच्चा खा जाते हैं। आत्मरक्षा के लिए लड़नेवाले भी उन वस्तुओं की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं जिन्हें उन्होंने पहले आक्रमण करके जीत लिया था। वे यथावत् स्थिति की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं, किसी नए और न्याय्य समाज की रक्षा के लिए नहीं। कानून पर आधारित समाज के अतिरिक्त अन्य कहीं आधिपत्य के दावे का कोई अर्थ हो नहीं है, और अराजकतापूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय जगत् को कानून की कोई परवाह ही नहीं है। हम समझते हैं कि हम यदि जर्मनों और जापानियों को कुचल दें तो सब कुछ ठीक हो जाएगा। परन्तु हमारे इतना आशावादी या सन्तुष्ट होने के लिए कोई कारण नहीं है। प्रथम महायुद्ध के अन्त में जर्मनी को कुचल दिया गया था और अपमानित किया गया था। जर्मनी को युद्ध का सम्पूर्ण दोष अपने सिर लेने को विवश किया गया था। जर्मनी की नौसेना समुद्र-तल में डुबा दी गई थी और उसकी सेना घटाकर एक लाख कर दी गई थी, जो केवल पुलिस-दल का काम कर सके। उससे यह वचन लेकर निःशस्त्रीकरण किया गया था कि बाकी सब भी अपना निःशस्त्रीकरण करेंगे, जबकि यूरोप के किसी बड़े राष्ट्र का अपना निःशस्त्रीकरण का जरा भी इरादा नहीं था। जर्मनी पर युद्ध-क्षति के हर्जाने की भारी राशि लादी गई, जिसके कारण न केवल वह पीढ़ी जिसने युद्ध में भाग लिया था, अपितु उसके बेटे और पोते भी नौकर और दास बन गए। [illegible] के [illegible] में हमने जर्मनी का इतना तिरस्कार किया कि [illegible] पनप गए। जर्मनी के भाग काट-काटकर राष्ट्रों का दान दिया गया। सार प्रदेश को लीग आफ नेशन्स (राष्ट्रसंघ) की देख-रेख में एक स्वतन्त्र राज्य बना दिया गया, राइनलैंड पर अधिकार कर लिया गया और रूर पर आक्रमण कर दिया गया। यह सब जिनकी सारी उदारता अब (कल पर्मों [illegible]) के [illegible] पर [illegible] गया। कोई भी अभिमानी

राष्ट्र जिसके साथ ऐसा बर्ताव किया जाता अवश्य निराशा की खाई में गिर पड़ता और हिटलर तथा नाजीवाद की विनाशात्मक सक्रियता को अपना लेता जिसका नारा था कि 'वर्तमान दशा से हर चीज अच्छी है।' जापान के मामलों को लीजिए। उसकी जनसंख्या प्रतिवर्गमील ४६५ है। जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में यह ४१ है। जापान की जनसंख्या प्रतिवर्ष दस लाख बढ़ जाती है उसका जीवननिर्वाह का स्तर निरन्तर गिर रहा है और अन्ततोगत्वा भुखमरी का भविष्य उसके सामने मुंह बाए खड़ा है। वह भयभीत है। उसे कच्चा माल मिलता रहना चाहिए, अन्यथा वह मर जाएगा। उसने देखा कि रूस चीन पर उत्तर और पश्चिम की ओर से छाता जा रहा है दक्षिणी चीन में फ्रांस का बड़ा साम्राज्य था और यांग्सी घाटी में ब्रिटेन का बहुत बड़ा प्रभाव-क्षेत्र था। जापानी कोई हिंस्र राक्षस नहीं हैं बल्कि साधारण आदमी हैं जो इस बात से डरे हुए हैं कि यदि उन्होंने वह न किया जो वे कर रहे हैं, तो वे समाप्त हो जाएंगे। हम यहूदियों पर हुए जर्मनी के अत्याचारों से घृणा करते हैं परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका में जापानियों को कोटे (अमेरिका में आकर बसने के) में सम्मिलित करने से इनकार कर दिया है। वर्जन अधिनियम (ऐक्सक्लूजन ऐक्ट) अभी विद्यमान है जिसके कारण करोड़ों हृदयों में असन्तोष भर रहा है। नाजियों ने जो जातीय भेद भाव का कार्यक्रम अपना रखे हैं, अपनी तक-नीक का बड़ा भाग मित्र राष्ट्रों में से ही कुछ से सीखा है। भी सायद वार्न कहते हैं कि वर्साई समझौते के प्रणेताओं का फैसला "इस समझौते की शर्तों और अधिकारों के उन कुछ राष्ट्रों द्वारा जिन्होंने वे शर्तें थोपी थीं बाद में किए गए दुरुपयोगों के आधार पर न करें। कानून के गुण-दोषों का निर्णय उन लोगों द्वारा जो स्वार्थी रूप से कानूनी अधिकारों का दुरुपयोग करते और न्याय्य उत्तरदायित्वों को टालजाने की स्थिति में हैं की गई पक्षपूर्ण व्याख्याओं के आधार पर नहीं किया जा सकता। इसके लिए सन्धियों को दोष नहीं दिया जाना चाहिए। दोषी तो वे हैं, जिन्होंने अपनी अवस्थाओं उत्कृष्टता का लाभ उठाकर अपने पवित्र युगबन्धों (कन्ट्रैक्ट) और प्रतिज्ञाओं को भंग करके उन लोगों को न्याय देने से इनकार कर दिया जो कुछ समय के लिए, उसे बलपूर्वक ले पाने में असमर्थ थे।'[1] जब जर्मनों ने विल्सन की चौदह बातों पर आधारित विराम-सन्धि को स्वीकार कर लिया तब विजयी शक्तियों ने उनके साथ कैसा बर्ताव किया इसका वर्णन करते हुए भी सायद वार्न ने लिखा है 'जर्मनी ने हमारी विराम सन्धि की शर्तों को जो काफी कठोर थीं स्वीकार कर लिया था और उनमें से अधिकांश का पालन भी कर दिया था। परन्तु अब तक एक टन भी अन्न जर्मनी नहीं भेजा गया था। यहां तक कि मछलीमार बेड़े को भी थोड़ी-सी मछलियां पकड़ लाने से रोक दिया गया था। इस बक्त मित्र राष्ट्रों का सितारा बुलन्द था पर भुखमरी की मार किसी दिन उनके खिलाफ पड़

१ 'दि र ध ऐसास दि पास (भी)ज' (११) पृष्ठ १

सकती थी। एक ओर जर्मनों को भूखों मरने दिया जा रहा था जबकि रॉटरडम में लाखों टन खाद्य जल-मार्गों द्वारा जर्मनी से जाने के लिए पड़ा था। मित्र राष्ट्र भविष्य के लिए विद्वेष के बीज बो रहे थे वे प्रावास्तक वेदना का ढेर जमा रहे थे, जर्मनों के लिए नहीं बल्कि अपने लिए।" जब तक वर्तमान आदर्श बने रहेंगे तब तक युद्ध की रंगशाला में यही नाटक चलता रहेगा केवल अभिनेता बदलते रहेंगे।

परन्तु यदि हमें मालूम भी हो कि हमारा उद्देश्य न्यायपूर्ण है तब भी क्या हम सदा युद्ध में भाग ले सकते हैं? युद्ध का असल उद्देश्य केवल एक ही हो सकता है —अन्याय का निवारण। इसके लिए हम युद्ध को दो बुराइयों में से न्यूनतर बुराई के रूप में अपनाते हैं। परन्तु यदि जीतने की कोई तर्कसंगत आशा न हो तो सैनिक प्रतिरोध से बुराई बढ़ेगी ही घटेगी नहीं। हमें बल में विश्वास त्याग ही देना चाहिए और हम अपने उद्देश्य को उसके पीछे विद्यमान शक्ति की सरलता के द्वारा परखना चाहिए।

युद्ध से भी अधिक भयावह एक और वस्तु है शरीर के भीतर आत्मा का हनन। हो सकता है कि नाजी संसार में उससे कहीं अधिक एकता हो जाए, जितनी कि पहले कभी भी प्रतीत न हुई थी पर वह आत्मारहित एकता होगी जैसी कि कीट-जगत् के समुदायों में हुआ करती है। बुद्धिमत्ता और प्रेम के विवेचनामूलक मूल्यों का बुद्धि के स्वतन्त्र उपयोग और वैयक्तिक उत्तरदायित्व का तिरस्कार किया जाएगा यूथचारी पशुओं की अन्धी सामाजिकता अन्धविश्वास और जाति की पूजा का गुणगान किया जाएगा। अपनी सब अपूर्णताओं के होते हुए भी मित्र राष्ट्र मानवीय संतुष्टि और स्वतन्त्रता के पक्ष में सामाजिक शांति के और संसार के वंचितों को न्याय दिलाने के पक्ष में हैं। परन्तु संसार के करोड़ों लोगों के मन में यह प्रबल भाव विद्यमान है कि दोनों पक्षों के मूल में वही पुराने रंग-ढंग हैं और दोनों ही दलितों के साथ न्याय नहीं करना चाहते। वे दोनों ही प्रदेशों पर अधिकार करने के लिए अथवा पहले से अधिकृत प्रदेशों की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं और वे अपने हितों की रक्षा के लिए युद्ध के भयंकर कष्टों को स्वीकार करने को तैयार हैं।

दि हू ब [illegible] (१ [illegible]), पृष्ठ ११ [illegible] २१२। [illegible] रॉटरडम में [illegible] संधि की शर्तें प्रस्तुत होने के समय जर्मन [illegible] के ओर से [illegible] युद्ध का [illegible] युद्ध में [illegible] परन्तु वे [illegible] के लिए [illegible] और [illegible] के [illegible] में [illegible] परन्तु ११ नवम्बर के बाद [illegible] हैं [illegible] [illegible] मारे गए हैं [illegible] युद्ध [illegible] था। [illegible]

राज्य की हमारी समूची धारणा में ही परिवर्तन की आवश्यकता है। मानव समाज में शक्ति और बल ही चरम वास्तविकताएं नहीं हैं। राज्य ऐसे मनुष्यों का समूह या संघ है, जो किसी एक सुनिर्दिष्ट भू-भाग में निवास करते हैं और जिनकी एक साझी सरकार है। जब यह कहा जाता है कि कोई एक राज्य किसी दूसरे राज्य से अधिक बलवान है, तो उसका सारा अर्थ यह होता है कि उस देश के निवासी कुछ विशेष सुविधाओं के कारण, जैसे जनसंख्या, सामरिक कौशल की दृष्टि से स्थिति, कच्चे माल पर नियन्त्रण, कृषि और उद्योग या शस्त्रास्त्रों की उन्नति के कारण ऐसी स्थिति में हैं कि दूसरे राज्य के निवासियों को बलपूर्वक अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने को मजबूर कर सकें। प्रारम्भिक दिनों में शारीरिक दृष्टि से बलवान व्यक्ति निर्बलतर व्यक्ति पर इसी प्रकार नियन्त्रण रखा करता था, जैसे आज शक्तिशाली राज्य दुर्बलतर राज्यों पर रखते हैं। क्या यह बात सिद्धान्ततः जो पति अपनी स्त्री को पीटता है उससे, या जो डाकू गली के मोड़ पर किसी आदमी को रोककर उसका बटुआ छीन लेता है उससे, या जो मालिक हड़ताल को कुचलता है उससे किसी प्रकार भिन्न है? बल प्रयोग में विश्वास एक व्याधि है, जिसने संसार को ऐंठ-मरोड़कर खूब अकड़ा दी है। यह हमसे हमारा मनुष्यत्व छीन लेती है। ऐसा संसार, जिसमें इतनी अकथनीय पैशाचिकता सम्भव है, बचाने योग्य नहीं है। हमें इस सामाजिक व्यवस्था से छुटकारा पाना होगा, इस दुःस्वप्न के से संसार से, जो साम्राज्यवादियों द्वारा बनाया गया और बार-बार होनेवाले युद्धों द्वारा कायम रखा जा रहा है। युद्ध एक दुश्चक्र को प्रारम्भ कर देता है: प्रतिशोध की भावना से दूसरे पर थोपी गई सन्धि, पराजित का रोष और बदला लेने की लालसा और फिर युद्ध। विनय हम सभी के लिए वांछनीय है। एक नई तरतीब, क्रान्तिकारी तरमीम हमें अपनानी होगी। कैप्युलेट और मौंटेग्यू के घरानों में चल रही शत्रुता के विषय में मर्क्यूशियो, जो द्वन्द्वयुद्ध में मारा गया था, मृत्यु के क्षणों की अन्तर्दृष्टि से चिल्ला उठता है: "यह तुम दोनों के घरानों के लिए महामारी है।" एक घराने की दूसरे घराने के साथ कटु शत्रुता एक प्रेम द्वारा समाप्त हुई थी, जिसने घृणा के दुश्चक्र को तोड़ दिया था। उस नाटक के अन्त में कैप्युलेट कहता है: "भाई मौंटेग्यू, आओ, अपना हाथ मुझे दो।"

¹ रिवरसाइड चर्च में ११ फरवरी १९३४ को उपदेश देते हुए डाक्टर हैरी इमर्सन फॉस्डिक ने कहा था: "इस विश्व में हम मनुष्यों से निम्नतर [illegible] जितने प्राणी हैं [illegible] कुत्ता भौंकता है, दूसरा कुत्ता उसके जवाब में [illegible] है। एक पागल कुत्ता भौंक रहा है [illegible] है और दूसरा कुत्ता [illegible] रेडियो के पास बैठे हुए आकाश में और भी अधिक [illegible] लगाते हुए [illegible] रहा है। [illegible] ने [illegible] दुष्ट [illegible] करते हुए [illegible] क्योंकि वह दुष्ट मनुष्य जैसा ही तो है न

आदर्श समाज

जिस आदर्श के लिए हम काम करें, वह उस समय की वास्तविक स्थिति की अपेक्षा अच्छा होना चाहिए, पर साथ ही मानव-जीवन की दशाओं से बहुत दूर का भी न होना चाहिए। संसार को एकाएक ऐसा परिवर्तित नहीं किया जा सकता कि वह प्रेम के विधान को शिरोधार्य कर ले। हम कहते हैं कि हमारे शत्रु नये युग पर प्रभुत्व जमाने के लिए लड़ रहे हैं और हम उस नये युग को स्वाधीन करने के लिए लड़ रहे हैं। हम संसार को केवल नाजीवाद के जुए से मुक्त करने के लिए नहीं लड़ रहे अपितु ऐसी सकारात्मक (पॉजिटिव) दशाएं उत्पन्न करने के लिए लड़ रहे हैं जिनमें संसार की विभिन्न जातियां अपनी-अपनी बात कह सकें और अपना विशिष्ट योग दे सकें। यह युद्ध शोषण की उस विचार प्रणाली की भावना की मरणान्तक वेदना है जिसे हम इन पिछली शताब्दियों में अपनाए रहे हैं। हिटलर एक परिणाम है, लक्षण है, कारण नहीं। वह कोई आकस्मिक घटना नहीं है अपितु वर्तमान व्यवस्था का एक स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है। हिटलरवाद को रोकने के लिए हम यह दृढ़ निश्चय करना होगा कि सब मनुष्यों को जाति धर्म और रंगभेद का बिना विचार किए कार्य करने और जीवन निर्वाह योग्य उपार्जन करने का आधारभूत अवसर अवश्य दिया जाना चाहिए, यह कि शिक्षा सम्पत्ति समुचित निवास स्थान और नागरिक स्वाधीनताएं सब लोगों को प्राप्त होनी चाहिए। उस अर्थ-व्यवस्था को जिसमें एक ओर खाद्य को नष्ट किया जाता है जबकि दूसरी ओर लोग भूखों मर रहे होते हैं और जो एक ओर असह्य दरिद्रता के साथ-साथ दूसरी ओर अविश्वसनीय विलास को बनाए रखती है, अन्तर्विरोधों को समाप्त किया जाना चाहिए। प्रभुत्व-स्थापन की इच्छा का कारण यह है कि लोगों में इतना अधिक अन्तर होने के कारण उनमें समुदाय की भावना नष्ट कर जाती है। यदि दुर्बल लोगों पर अत्याचार करनेवाले बलवान लोग न हों तो बल-प्रयोग की भी कोई गुंजाइश ही न रहेगी।

कारण चाहे धार्मिक मनोवैज्ञानिक आर्थिक या संगठन-सम्बन्धी कुछ भी क्यों न हो, पर सरकारों पर केवल दबाव ही उन्हें परस्पर लड़ने से रोक सकता है। संकट के क्षणों में गैरसरकारी संस्थाएं सरकार के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं

इस बात और विश्वास है [illegible] संयुक्त राज (ब्रिटेन) की जनता [illegible] और [illegible] में संयुक्त राज्य (अमरिका) की जनता को [illegible] के लिए आवश्यक [illegible] भोजन और निवास प्राप्त [illegible] जिन्हें न ठीक खाने को मिलता है [illegible] ऐसी [illegible] में [illegible] के लिए [illegible] जिम्मेदार है [illegible] बहुत कम [illegible] होते हैं, जिनको [illegible] पाने के लिए भोजन प्राप्त हो। —[illegible]

कर सकती, क्योंकि उसका अर्थ होगा विनाश। हमें ऐसी संस्थाएं बनानी चाहिए जिनके द्वारा हम भलाई और शान्ति की भावना का विकास कर सकें।

जो लोग युद्ध में लड़ने जाते हैं, वे अपराध-प्रेमी नहीं होते, अपितु वे ऐसे मनुष्य होते हैं जो यह अनुभव करते हैं कि उनके साथ अन्याय किया गया है। हमारे अन्याय का उत्तर वे और भी अधिक उग्र अन्याय करके देते हैं। क्रुद्ध होने के बजाय हमें उनके अपराधों के प्रेरक कारणों की खोज करने और उन्हें हटाने का यत्न करना चाहिए। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि वर्तमान संसार में कुछ गलती है, जो बहुत गहराई तक पहुंची हुई है। हमें शान्तिपूर्वक ऐसा सामाजिक रूपान्तर करना होगा, जिससे सच्चा न्याय हो, व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दोनों प्रकार का न्याय।

राज्य के धर्म-'यानी' समाप्त हो जाने का अर्थ है कि बल प्रयोग का स्थान परिचय, विचार-विमर्श और तर्क एवं कानून, स्वाधीनता और शान्ति की प्रणाली का निर्माण ले ले। जिस प्रकार हमारे यहां डाकू या हत्यारे की गैरकानूनी हिंसा के लिए वैध बल-प्रयोग की व्यवस्था है, उसी प्रकार वैध बल प्रयोग की व्यवस्था शान्त पड़ोसी देश पर अकारण आक्रमण करनेवाले के लिए भी होनी चाहिए। लाठी-प्रहार और गोलीकाण्ड कोई सुखद वस्तुएं नहीं हैं, परन्तु वे उन्मत्त भीड़ द्वारा की जानेवाली हिंसा और अग्निकाण्ड की अपेक्षा कहीं अच्छी हैं। सिद्धान्ततः उपद्रवों का दमन करने के लिए इतने परिमाण में बल का प्रयोग करने के हम विरुद्ध हैं, इस अर्थ में कि हमें इस बात पर खेद होता है कि हमें इतने बल प्रयोग की आवश्यकता पड़े, फिर भी यह एक खेद-योग्य आवश्यकता है ही। क्योंकि यदि हम अकारण आक्रमण को चलते रहने दें और बिना रोक-थाम किए फैलने दें, तो हम बुराई के कुल परिमाण में वृद्धि कर रहे होंगे। यह राज्य का कर्तव्य है कि वह बल के गैरकानूनी प्रयोग की प्रभावी रूप से रोक-थाम करे, यद्यपि इसके लिए, जितना आवश्यक है उससे अधिक बल का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यह बल-प्रयोग काफी होना चाहिए, अन्यथा गैरकानूनी बल विजयी हो जाएगा। पहले राष्ट्रीय जीवन व्यक्तिगत प्रभुताओं की [illegible] बना हुआ था, जैसाकि आज अन्तर्राष्ट्रीय जीवन है। राष्ट्रीय जीवन में व्यवस्था और स्वाधीनता बल के वैध प्रयोग और शिक्षा द्वारा स्थापित की गई थी। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भी ऐसी ही किसी पद्धति को अपनाना होगा। किसी अपूर्ण समाज में बल द्वारा समर्थित कानून विद्यमान रहता है, जिससे भले आदमियों का बहुत बड़ा बहुमत कुछ थोड़े-से बुरे आदमियों के बीच रह सके। निहत्था आदर्शवाद बुराई को परास्त नहीं कर सकता। पास्कल ने कहा था, 'बल के बिना न्याय असमर्थ है।'[1] बल

१ तुलना कीजिए : बल के बिना न्याय असमर्थ है। न्याय के बिना बल अत्याचार है। बल के बिना न्याय का विरोध होगा, क्योंकि अपराधी लोग सदा रहेंगे। बिना न्याय के बल-प्रयोग की

तक ऐसे लोग विद्यमान हैं जो न्याय की उपेक्षा करने पर उतारू हैं तब तक न्याय के पीछे शक्ति रहनी चाहिए। हमारी दशा उस जहाज़ की-सी है जो यदि वायु और मौसम के साथ थोड़ा-सा समझौता करके चले तो उसकी बन्दरगाह तक पहुंच पाने की अधिक सम्भावना होती है। यदि बल का प्रयोग किसी अन्तर्राष्ट्रीय प्राधिकारी (अथॉरिटी) द्वारा किया जाए, तो उसे शक्ति का नग्न नृत्य नहीं कहा जा सकता। उसका प्रयोग सामाजिक व्यवस्था की सृजनात्मक क्षमताओं को स्वाधीन करने के लिए किया जा रहा होता है। इसे सकारात्मक (पॉज़िटिव) सामाजिक कृत्य होने के कारण नैतिक स्वीकृति प्राप्त रहती है। इस अराजकतापूर्ण प्रणाली को जो यहाँ प्रचलित रहती है जहाँ शक्ति का शासन चलता है और जहाँ राष्ट्र अस्त्रों से सज्जित रहते हैं अवश्य ही जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता दास-साम्राज्यों को और हिटलरों को जन्म देती है। इसका दूसरा विकल्प है—कानून सहयोग और शांति पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यवस्था। हमें न्यायाधीश को सशक्त बनाना चाहिए, वादी और प्रतिवादी को नहीं। यदि हम शान्तिपूर्ण सहयोग की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के लिए कार्य करना है तो साम्राज्यवादी शक्तियों को अपने उन आर्थिक लाभों और विशेषाधिकारों को त्यागना पड़ेगा जिन्हें उन्होंने शक्ति की राजनीति की प्रणाली द्वारा हस्तगत किया था।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि हम कुछ सीमित संघ (फेडरेशन) बना सकते हैं और उनके कारण कुछ निश्चित भौगोलिक क्षेत्रों में युद्ध का खतरा कम हो जाएगा। परन्तु इससे समस्या हल नहीं होगी क्योंकि राज्यों के सम्बन्ध भौगोलिक दृष्टि से सीमित हुए नहीं होते। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध विश्व-सम्बन्ध हैं और बिना किसी विश्व-संगठन या विश्व-सरकार के उन्हें नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। 'लीग ऑफ़ नेशन्स' (राष्ट्रसंघ) शक्ति और बल के कानून से दूर हटने और सहमति तथा सहयोग पर आधारित कानून की ओर बढ़ने की गति का एक अंग है। यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को विचार-विमर्श समझौते और कानून की अहिंसात्मक पद्धतियों द्वारा निर्धारित करने का प्रयास है। 'लीग ऑफ़ नेशन्स' के प्रतिज्ञा-पत्र का मंचूरिया में, इथियोपिया में, स्पेन में, अल्बानिया में और ऑस्ट्रिया में भंग हुआ और जो कुछ म्यूनिख में हुआ उसका तो कहना ही क्या! लीग की कौंसिल (परिषद्) और असेम्बली (विधान सभा) प्रारम्भ से ही कोई ऐसा कार्रवाई करने में हिचक रही थीं जिससे राज्यों की प्रभुसत्ता के प्रति कुछ भी अनादर व्यंजित हो। बर्नार्ड शॉ के नाटक 'जिनेवा' में हेग के अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय के डच न्यायाधीश द्वारा अपनाया गया विशिष्ट दृष्टिकोण एक-

किया जाता है। [illegible] —लेखक

कारगुज़ार साबित हो। यदि लीग को ठीक प्रकार काम करना हो तो उसके स्वामी प्राधिकारी (अथॉरिटी) होने चाहिए एक वह जो उन कानूनों और नियमों को बनाए, जिनके अनुसार राज्यों के मध्य सम्बन्ध नियमित रहें और दूसरा वह जो उन कानूनों और नियमों के अनुसार विवादों का निर्णय करे। इनमें से दूसरे प्राधिकारी को यह अधिकार दिया जा सकता है कि वह राज्यों के सम्बन्धों में मामूली परिवर्तन कर सके। किसी भी लीग का एक अथवा विधानांग (सचीव संसद्) एक न्यायालय और एक शासनात्मक प्राधिकारी होना चाहिए क्योंकि कोई भी राष्ट्र अपने वाद (मुकदमे) का स्वयं निर्णायक या अपने अपराधों का स्वयं दण्ड देनेवाला नहीं हो सकता। जैसे हमारे पास व्यक्तियों द्वारा आक्रमण की रोकथाम के लिए बल द्वारा समर्थित कानून की व्यवस्था है जो निश्चित और सार्वजनिक है ठीक उसी प्रकार हमें एक अन्तरराष्ट्रीय पुलिस शक्ति की भी आवश्यकता है। यदि कोई राज्य राष्ट्रों के कानून का उल्लंघन करे और उन प्रयास पर उतर आए, तो कानून का समर्थन राज्य-समुदाय की शक्ति द्वारा होना चाहिए और आक्रमणकारी राज्य का यथोचित न्याय विचार होना चाहिए। इन दशाओं में यह ऐतराज़ करना उचित न होगा कि लीग युद्ध द्वारा युद्ध को रोकने का यत्न कर रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बात यही है परन्तु वर्तमान दशाओं में बल प्रयोग का पूर्ण रूप से परित्याग नहीं किया जा सकता। मानवीय सम्बन्धों में चुनाव अच्छे और बुरे में से नहीं किया जाता होता अपितु बद और बदतर में से करना होता है। राज्यों द्वारा बल का अनियन्त्रित प्रयोग विश्व-राष्ट्रमंडल द्वारा कानून की शक्ति के रूप में किए जानेवाले बल प्रयोग की अपेक्षा अधिक बुरा है। यदि हिंसा पर उतर आनेवाले राज्यों के विरुद्ध अधिक प्रभाव के रूप में राज्य समुदाय की शक्ति का प्रयोग न किया जाए तो हम कानून के शासन और न्याय की पद्धति को कायम नहीं रख सकते। अन्तरराष्ट्रीय [illegible] के बारे में हि[illegible] साम (मित्रता) दान (परितोषण) भेद (फूट डालना) और दण्ड (सशस्त्र प्रतिशोध) इन चार पद्धतियों का सुझाव देता है। [illegible] हम अहिंसा [illegible] का [illegible] तक [illegible] नहीं पहुंच पाते [illegible] हम [illegible] [illegible]

एक दूसरा [illegible] यह है कि [illegible] राष्ट्र [illegible] नहीं [illegible] कि [illegible] किसी एक राष्ट्र के [illegible] युद्ध का [illegible] के विरुद्ध [illegible] मान [illegible] (अथॉरिटी) का समर्थन कर सकें। [illegible] युद्ध [illegible] एक [illegible] है [illegible] द्वारा बनी गई हो [illegible] युद्ध के बाद [illegible] [illegible] किया जा सकता है। [illegible]

कर रहा है और पुरानी व्यवस्था उसे रोकना चाहती है। जो लोग धुरी शक्तियों (जर्मनी इटली और जापान) के विरुद्ध लड़ रहे हैं वे शान्ति के पक्ष में लड़ रहे हैं। यदि हम स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के उद्देश्यों तक पहुंचने के लिए दृढसंकल्प हैं तो हमें उनके साधनों के लिए भी दृढसंकल्प होना होगा। स्थायी शान्ति तक पहुंचने का और कोई मार्ग नहीं है।

जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध में शिक्षण

यदि हमारी सभ्यता नष्ट हुई, तो उसका कारण यह नहीं होगा कि यह पता नहीं था कि उसकी रक्षा करने के लिए क्या करना आवश्यक है अपितु उसका कारण उस समय भी जबकि रोगी मरता दीख रहा है औषधि न लेने का हठ होगा। हममें शान्ति और व्यवस्थित स्वाधीनता के नये समाज के सिद्धान्तों को समझ पाने की नैतिक ऊर्जा और सामाजिक सूझ-बूझ का अभाव है। शिक्षा का प्रयोजन यह नहीं है कि वह हमें सामाजिक परिवेश (आसपास की परिस्थितियों) के उपयुक्त बना दे, अपितु यह है कि वह बुराइयों से लड़ने में और एक बेहतर समाज के सृजन में हमारी सहायता करे। संसार का विकास बर्बरता और रक्तपात द्वारा नहीं होता। यह युद्ध सुखी भविष्य के निमित्त विकास-संघर्ष में कोई अनिवार्य सोपान नहीं है। हम सामाजिक परिवेश की दया पर उतनी पूरी तरह निर्भर नहीं हैं जितना कि विकासवादी दृष्टिकोण बताता है। सामाजिक विफलता में मनुष्य की विफलता ही प्रतिबिम्बित होती है। यदि ग्रीस विफल हुई, तो इसलिए कि ग्रीस को चलाने की तीव्र इच्छा ही लोगों में नहीं थी। राजनीतिक संस्थाएं व्यष्टि नागरिकों की भावनाओं और विचार की आदतों से आगे नहीं निकल पा सकतीं। राजनीतिक समझदारी सामाजिक परिपक्वता से पहले नहीं आ सकती। सामाजिक प्रगति बाहरी साधनों द्वारा नहीं हो सकती। इसका निर्धारण मनुष्य के अन्तस्तम लोकोत्तर अनुभवों द्वारा होता है। हमें हृदय को फिर नवीन बनाने के लिए, जीवन मूल्यों के रूपान्तरण के लिए, और शाश्वत के दावों के सम्मुख आत्मा के समर्पण के लिए कार्य करना चाहिए। हम सब उन्हीं एक ही तारों की ओर देखते हैं, हम सब एक ही आकाश के नीचे स्वप्न लेते हैं हम एक ही ग्रह पर रह रहे सहयात्री हैं और यदि हम अलग अलग मार्गों द्वारा परम सत्य को पाने का यत्न करें, तो यह कोई खास बात नहीं है। अस्तित्व की पहेली इतनी बड़ी है कि इसके उत्तर तक पहुंचने का केवल एक ही रास्ता नहीं हो सकता।

धरती से लेकर आन्तरिक व्यवस्थायें इजन तक के साधन विशुद्ध रूप से सामाजिक उपयोगिता के साधन हैं। उनका कोई निजी नैतिक मूल्य नहीं है। वे केवल तभी तक मूल्यवान हैं जब तक उनका उपयोग उच्चतर नैतिक उद्देश्यों के लिए होता है। प्रकृति के साधन अपने-आपमें कोई उद्देश्य नहीं हैं। शाश्वत

को सांसारिक के अधीन करके, अनिवार्य को आकस्मिक के अधीन करके, अनन्त को क्षणिक के अधीन करके जीवन-मूल्यों को विकृत करने की आदत को केवल सक्षम शिक्षा द्वारा रोका जा सकता है। शिक्षा आत्मा में मनुष्य का सतत जन्म है, यह आन्तरिक राज्य की ओर जानेवाला राजमार्ग है। सारी बाह्य महिमा आन्तरिक प्रकाश का प्रतिबिम्ब-मात्र है। शिक्षा सर्वोच्च जीवन-मूल्यों के चुनाव को और उनपर दृढ़ रहने की पूर्व कल्पना करती है। हम ऐसे समुदाय के लिए कार्य करना चाहिए, जो राज्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत और अधिक गम्भीर हो। यह समुदाय किस ढंग का हो, यह हमारे आदर्शों पर निर्भर है। यदि हम उदार दलीय हैं तो यह मानवता है; यदि हम अनुदारदलीय हैं, तो यह राष्ट्र है; यदि हम साम्यवादी हैं, तो यह विश्व का श्रमजीवी-वर्ग है; यदि हम नाजी हैं, तो यह जाति है। राज्य अपने-आपमें कोई अन्तिम उद्देश्य नहीं है। उससे भी आगे एक और विस्तृततर समुदाय है, जिसके प्रति हमारी गम्भीरतम निष्ठा होनी उचित है।

राजनीतिक कार्यों के अन्तिम उद्देश्यों का विचार विचारकों और लेखकों द्वारा किया जाना चाहिए। विचारकों और लेखकों के रूप में समाज सचेतन और आत्मआलोचक बनता है। वे किसी भी समाज के जीवन-मूल्यों के संरक्षक हैं, उन जीवन-मूल्यों के, जो किसी भी समाज का वास्तविक जीवन और स्वभाव हैं। विचारकों और लेखकों का काम हमें समाज की वास्तविक आत्मा की चेतना तक शिक्षित करना, हमें आत्मिक आलस्य और मानसिक बनावटीपन से बचाना है। संसार के लोगों में मित्रता और सहयोग की भावना का विकास करने में उन्हें हमारी सहायता करनी चाहिए। अरस्तू कहता है कि बिना मित्रता के न्याय हो ही नहीं सकता। महान विचारक मानवता से अधिक किसी वस्तु को अपने प्रेम का पात्र नहीं मानते। सारा संसार उनके लिए कुटुम्ब है। गेटे को लगता था कि फ्रांसीसियों से घृणा कर पाना उसके लिए असम्भव है। उसने ऐकरमैन को लिखा था: 'मेरे लिए यह सहज प्रकृति का नहीं है और न मुझे युद्ध से अनुराग ही है। ऐसे गीत एक मुखौटे के समान होते जो मेरे मुख पर जरा भी न फबते। मैंने अपनी कविता में कभी कृत्रिम प्रदर्शन नहीं किया। बिना विद्वेष के मैं घृणा के गीत किस प्रकार लिख सकता था? और यह मेरे और तुम्हारे बीच ही रहे, मैं फ्रांसीसियों से घृणा नहीं करता था, यद्यपि जब उनसे हमें मुक्ति मिली, तो मैंने परमात्मा का धन्यवाद किया। मैं, जिसके लिए सभ्यता और असभ्यता ही केवल दो महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं, एक ऐसे राष्ट्र (फ्रांसीसियों) से कैसे घृणा कर सकता था, जो संसार के सबसे अधिक सभ्य राष्ट्रों में से एक है, मेरी अपनी अधिकांश शिक्षा का श्रेय जिस राष्ट्र को है।' सामान्य रूप से राष्ट्रीय वैमनस्य एक विलक्षण वस्तु है। सभ्यता की निम्नतम कोटियों में यह सदा तीव्रतम और उग्रतम होता है। पर एक स्थिति ऐसी है, जहां पहुंचकर यह लुप्त हो जाता है, जहां हम मानो राष्ट्रों के ऊपर उठ जाते हैं और

हम अपनी पड़ोसी जातियों के सुख और दुःख का उसी प्रकार अनुभव करते हैं, जैसे वह हमारा अपना हो। देशभक्ति सामान्यतया केवल विद्वेष ही होती है; उस विद्वेष को ऐसी शब्दावली में छिपाया गया होता है जिससे वह लोगों को ग्राह्य हो सके। इस देशभक्ति को बारी-बारी वर्दीवाले बाजों के पथक बजाए और मधुर गीत गाते हुए सामान्य लोगों के सामने प्रशंसनीय बनाकर प्रस्तुत किया जाता है। विश्व प्रेम ही वह लक्ष्य है जहां तक पहुंचने का देशभक्ति साधन-मात्र है। हमारे शत्रु भी मानव प्राणी हैं। सुख और दुःख की प्रतिक्रिया उनमें भी हमारी भांति ही होती है। त्वचा के अन्दर हम सब भाई-बहिन हैं। हमें अपनी विवेकशीलता और शान्ति को फिर प्राप्त करना चाहिए और इस संसार के पागलपन में जो अथाह रूप से कोलाहलपूर्ण और क्रूर होता जा रहा है, हमें बेचैनी अनुभव होनी चाहिए। इस संसार का शासन समझदारी से होना चाहिए।

बुद्धिजीवी लोगों को राजनीति या प्रशासन के वास्तविक कार्यों में भाग लेने की आवश्यकता नहीं है। उनका मुख्य काम बौद्धिक ईमानदारी की पूर्णता के साथ समाज की सेवा करना है। उन्हें इस प्रकार की सामाजिक चेतना और उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करनी चाहिए जो राजनीतिक समुदाय की सीमाओं से ऊपर हो। जो लोग इस ढंग से समाज की सेवा कर सकते हैं, उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे राजनीति में हिस्सा न लें। प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनके लिए राजनीतिक गतिविधि में हिस्सा लेना प्रतिभा का दुरुपयोग और अपने प्रति निष्ठाहीनता होगी। वे जहां हैं, वहीं रहते हुए अपनी प्रतिभा के प्रति सच्चे रहते हैं और समाज की अपने अज्ञान को हटाने में थोड़ी-बहुत सहायता करते हैं। वे संसार को तभी कुछ दे सकते हैं जबकि वे संसार से स्वतन्त्र रहें। उन्हें सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों (मान्यताओं) की सेवा के लिए कार्य करना चाहिए, परन्तु दुर्भाग्य से एकतन्त्रीय शासन-पद्धतियां सामाजिक और बौद्धिक गतिविधियों का भी प्रयोग अपने ही उद्देश्यों को पूरा करने के लिए करती हैं। नई राजनीतियां एक प्रकार के राजनीतिक धर्म हैं जो सामाजिक मुक्ति के लिए मसीही (पैगम्बरी) आशाओं पर आधारित हैं। एकतन्त्रवादों के आध्यात्मिक पिता तो बुद्धिजीवी वर्ग ही हैं। यदि बुद्धिजीवी लोग ही संस्कृति के हितों को त्याग दें और आध्यात्मिक मूल्यों (मान्यताओं) का खण्डन करें तो हम उन राजनीतिज्ञों को दोष नहीं दे सकते जो राज्य की सुरक्षा के लिए जिम्मेदार हैं। यदि जहाज का कप्तान यात्रियों के हितों की अपेक्षा जहाज की सुरक्षा को अधिक महत्त्व दे तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता। राज्य एक साधन है, लक्ष्य नहीं। ऐसे कुछ न कुछ आदमी सदा होंगे ही जो परम मूल्यों की दुनिया में रहते हैं और उसीके लिए जीते हैं; जीवन का सुख लोगों को ही मिलती उन परम मूल्यों में नहीं है। राजनीतिक और धार्मिक मूल्य (मान्यताएं) सापेक्ष होते हैं और गौण होते हैं। भावदर्शी (पैगम्बर)

लोग मनुष्य को देखने में हमारी सहायता करते हैं और वर्तमान जीवन की दशाओं में शाश्वत का हमारे सम्मुख उद्घाटन करते हैं। इस संसार के मूल्यों की ओर से वे लापरवाह होते हैं और वे अच्छाई (सत्) को क्रियान्वित करने में जुटे होते हैं। वे एकत्व को देखते हैं और दूसरों को भी इसे देख पाने में समर्थ बनाते हैं। वे हमारी मित्रता की भावना को सघन करते हैं। उनमें होता है हृदय का साहस, आत्मा का सौजन्य और निर्भीकता का आनन्दोल्लास। 'सोसायटी आफ फ्रेंड्स' के टामस नेलर ने 'अपने अन्तिम साक्ष्य भाषण में, जो कहा जाता है कि उसने अपने महाप्रयाण से लगभग दो घण्टे पहले दिया था', कहा था : "इस समय मैं एक ऐसी भावना का अनुभव कर रहा हूं, जिसे बुराई करने में कोई आनन्द नहीं आता और जो न किसी बुराई का बदला ही लेना चाहती है, अपितु वह सब बातों को सहने में ही आनन्द अनुभव करती है, इस आशा में कि अन्त में वह अपने आपमें आनन्द पा सकेगी। उसे आशा है कि वह सम्पूर्ण क्रोध और विवाद की समाप्ति के बाद भी विद्यमान रहेगी और वह सारे दर्प और क्रूरता को तथा अन्य जो भी कुछ उसके प्रतिकूल प्रकृति का है, उस सबको जीर्ण कर चुकने के बाद भी शेष रहेगी। यह सब प्रलोभनों के अन्त को देखती है। क्योंकि स्वयं इसके अन्दर कोई बुराई नहीं है, इसलिए यह दूसरों के प्रति विचारों में भी कोई बुरी बात नहीं लाती। यदि कोई इसके साथ दगा करे, तो यह उसे सह लेती है, यह शोक में, अर्धकष्ट में पहुंचती है और तब इसका जन्म होता है, जब इसपर दया करनेवाला कोई नहीं होता, दुःख और अत्याचार पर यह बुदबुदाती भी नहीं। इसे केवल कष्टों में ही आनन्द मिलता है, अन्य किसी प्रकार नहीं, क्योंकि संसार के आनन्द से तो इसकी हत्या हो जाती है। मैंने इसे एकान्त में परित्यक्त होने पर पाया है। इसके द्वारा मुझे उनके साथ मित्रता की अनुभूति मिली है, जो खोहों में और उजाड़ स्थानों में रहते हैं।"

गांधीजी

कभी कभी-कभी कोई विरली आत्मा सामान्य स्तर से ऊपर उठती है, जो परमात्मा का साक्षात् दर्शन करके जिस उद्देश्य को स्पष्टतर रूप में प्रतिबिम्बित करती है और जिस पर दर्शन का और अधिक साहस के साथ व्यवहार में लाती है। इस प्रकार के मनुष्य का प्रकाश इस अन्धकारमय और अव्यवस्था भरे संसार पर पड़ता है [illegible] की भांति चमकता है। आज भारत की स्थिति इसलिए असाधारण अच्छी है क्योंकि उसके बीच में एक ऐसा व्यक्ति प्रकट हुआ है जो उस आत्मा की नयी हुई अभिव्यक्ति है। उसका कष्ट-सहन भारत के भारी अपमान का प्रतिकार करता है और उसके सत्याग्रह में भारत की पुनर्जागृति का आरम्भ जैसे प्रतिबिम्बित होता है। एक निर्भीक भावना, सबके प्रति [illegible], सत्य और न्याय के प्रति एक अविचलित उत्साह इसकी प्रमुख विशेषताएं हैं। गांधी

हमारे सम्मुख अब तक मनुष्यों को ज्ञात आदर्शों में सबसे अधिक विशुद्ध उन्नायक और प्रेरणाप्रद आदर्श प्रस्तुत करता है। उसका आध्यात्मिक प्रभाव एक निर्मल और विशुद्ध करनेवाली ज्वाला है जिसने बहुत-सी मैल को जला डाला है और बहुत-से विशुद्ध स्वर्ण को निखारा है। उसका सारा जीवन धन-धार्मिक के विरुद्ध अविराम युद्ध के रूप में रहा है। बहुत-से लोग ऐसे भी हैं जो उसे ऐसा पैग़म्बर राजनीतिज्ञ बताते हैं जो ठीक मौके पर काम बिगाड़ देता है। राजनीति एक अर्थ में एक पेशा है और राजनीतिज्ञ वकील और इञ्जीनियर की भांति एक ऐसा व्यक्ति है जिसे सार्वजनिक कार्यों को सुचारु रूप से करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। परन्तु एक और भी अर्थ है जिसके अनुसार राजनीति एक धन्धा है और राजनीतिज्ञ एक ऐसा व्यक्ति है जिसे अपने देशवासियों की रक्षा करने और उनमें एक साझे आदर्श के प्रति प्रेम जगाने के अपने जीवन-लक्ष्य का ज्ञान है। सम्भव है कि इस प्रकार का व्यक्ति शासन के व्यावहारिक काम-काज में असफल सिद्ध हो और फिर भी अपने अनुयायियों में अपने साझे लक्ष्य के प्रति अदम्य विश्वास भरने में सफल रहे। क्रौमवैल और लिंकन जैसे नेताओं में इन दोनों प्रकार के राजनीतिज्ञों का मिश्रित रूप विद्यमान रहता है। एक ओर तो वे स्वयं सामाजिक आदर्शों के जीते-जागते मूर्त रूप होते हैं और दूसरी ओर सार्वजनिक कार्यों के व्यावहारिक समझनेवाले भी होते हैं। गांधी भले ही वह शासन की कला में भली भांति प्रवीण न हो दूसरे अर्थ में सचमुच ही राजनीतिज्ञ है। सबसे बढ़कर, वह एक नये संसार की आवाज़ है एक परिपूर्णतर जीवन की आवाज़ एक विस्तृततर और अपेक्षाकृत अधिक सर्वांगसम्पूर्ण चेतना की आवाज़। उसका दृढ़ विश्वास है कि धर्म के आधार पर हम एक ऐसे संसार का निर्माण कर सकते हैं जिसमें न दरिद्रता हो न बेकारी और न युद्ध हो न रक्तपात। "इस संसार में अतीत के किसी भी काल की अपेक्षा परमात्मा में कहीं अधिक और गहरा विश्वास होगा। एक विस्तृत अर्थ में संसार टिका ही धर्म के सहारे हुआ है। वह कहता है "आगामी कल का संसार अहिंसा पर आधारित होगा उसे होना ही होगा। सम्भव है कि यह एक सुदूर लक्ष्य जान पड़े एक आदर्श लोक (यूटोपिया)। परन्तु यह तनिक भी अप्राप्य नहीं है क्योंकि इसका निर्माण अभी और यहीं प्रारम्भ किया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति भविष्य की जीवन-पद्धति—अहिंसात्मक पद्धति—को बिना यह प्रतीक्षा किए कि दूसरे भी उसे अपनाएं, अभी अपना सकता है। और यदि एक व्यक्ति ऐसा कर सकता है, तो मनुष्यों के समूचे के समूचे समूह ऐसा क्यों नहीं कर सकते ? समूचे राष्ट्र ? मनुष्य बहुधा प्रारम्भ करने में इसलिए हिचकते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि लक्ष्य को पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह मनोवृत्ति ही प्रगति के मार्ग में हमारी सबसे बड़ी बाधा है—एक ऐसी बाधा जिसे हरएक मनुष्य यदि वह केवल दृढ़ सकल्प कर ले दूर

हटा सकता है। [1] हम इस दृष्टिकोण को परे हटा देना होगा कि परिवेश (आस पास की परिस्थितियां) कहीं अधिक बलशाली हैं और हम असहाय हैं।

यदि शाश्वत अच्छाई को समय रहते प्राप्त करना हो तो हम केवल उन साधनों का प्रयोग करना होगा जो तात्त्विक रूप से अच्छे हैं। उसे जल्दी या बल प्रयोग के तात्त्विक रूप से बुरे कामों द्वारा प्राप्त करने के छोटे रास्तों को अवलंबन करने का परिणाम केवल विफलता ही होगा। अपराधी को बलपूर्वक नियमित रखने या उसे नैतिक रूप से प्रभावित करने के दो उपायों में से दूसरा अधिक अच्छा है। यह युक्ति दी जाती है कि यदि शारीरिक बल द्वारा दमन बुरा है तो नैतिक बल द्वारा दमन भी कुछ भला नहीं है। यह भी दमनात्मक है। मनाने के ढंग का नहीं। यह प्रेमपूर्ण की अपेक्षा उग्र अधिक है। बिना गोली चलाए या बिना लाठी का उपयोग किए भी लोगों की भीड़ को उनकी इच्छा के प्रतिकूल उनके उत्कृष्टतर विवेक के प्रतिकूल किसी विशिष्ट प्रकार का कार्य करने के लिए विवश किया जा सकता है। फिर भी नैतिक रीति मनाकर समझाकर काम करने की पद्धति अधिक अच्छी है क्योंकि इसमें यह स्वतन्त्रता निहित है कि दूसरा व्यक्ति उस दबाव को चाहे तो स्वीकार करे या अस्वीकार कर दे।

अहिंसा कायरता या दुर्बलता को छिपाने के लिए बहाना नहीं है। केवल वे ही लोग जिनमें वीरता कष्ट-सहिष्णुता और बलिदान की भावना के गुण हैं अपने आपको संयम में रख सकते हैं और शस्त्रों का प्रयोग किए बिना रह सकते हैं। हिंसा के परिणाम से डरकर अहिंसक बन जाना खतरनाक है। यह सोचना गलत है कि गांधी के दृष्टिकोण में जीवन का मूल्य स्वाधीनता से बढ़कर है। गांधी को मालूम है कि शारीरिक कष्ट सहना और मर जाना शारीरिक बुराइयां हैं जिन्हें सहन किया जा सकता है और उचित ठहराया जा सकता है यदि उनके द्वारा हम इतनी अच्छाई उत्पन्न कर सकें कि जिससे उनकी क्षतिपूर्ति हो सके। मनुष्य को नष्ट कर देने से कोई लाभ नहीं है हम उनके आचरणों को (तौर तरीकों को) नष्ट करना चाहिए। यदि हम वर्तमान शासकों को हटा भी दें और उसके बाद भी प्रणाली ज्यों की त्यों रहे तो उससे कोई लाभ न होगा। युद्ध के मोर्चे पर जाकर लड़ना ही सबसे बड़ी बुराई नहीं है उससे भी अधिक बुरी समाज की वह दशा है जिसमें सबल द्वारा निर्बल के प्रति हिंसा का प्रयोग सम्भव हो पाता है। हिटलर तो समाज की खराब की (विकार) दशा के बाह्य चिह्न-मात्र हैं जिनकी केवल मरहम-पट्टी कर देने या उन्हें काटकर अलग कर देने से समाज की वास्तविक चिकित्सा नहीं हो सकती। यदि समाज को बचाना है तो वर्तमान व्यवस्था का प्रतिरोध आवश्यक है परन्तु यह प्रतिरोध ऐसा होना चाहिए, जो झूठ और बेईमानी को दूर कर दे। दूषित जीवन की अपेक्षा मरना बुरी नहीं है।

[1] लिबर्टी (लन्दन)

अहिंसात्मक प्रतिरोध के लिए वीरता और अनुशासन की आवश्यकता होती है पर इन गुणों की आवश्यकता तो युद्ध में भी होती ही है। यदि लोग रणभूमि में मरने को तैयार हो सकते हैं तो उन्हें वही साहस और वही आत्मसंयम अहिंसात्मक प्रतिरोध में दिखाना चाहिए। सम्भव है कि युद्ध में हमारी हानि इस प्रकार के प्रतिरोध में होनेवाली हानि की अपेक्षा कहीं अधिक हो।

यह युक्ति दी जाती है कि प्रतिरोध न करनेवाले लोगों को सम्भव है कि अपने देश का विनाश होते देखना पड़े। परन्तु प्रतिरोध करनेवाले लोगों को भी तो परिणाम का सामना करना ही होगा। न्यायालयों में अन्तःकरणानुगामी (युद्ध के प्रति) ऐतराज करनेवालों से पूछा जाता है कि यदि जर्मन आकर उनकी पत्नियों बहिनों और माताओं से बलात्कार करने लगें तो वे क्या करेंगे? निःसन्देह वे उन्हें ऐसा करने से रोकेंगे परन्तु बदले में वे जर्मनों की पत्नियों बहिनों और पुत्रियों की हत्या नहीं कर डालेंगे। यह तुलना ठीक नहीं है क्योंकि आक्रमण के शिकार एक व्यक्ति द्वारा आत्मरक्षा के लिए बल का प्रयोग उन युद्धों से बिलकुल भिन्न प्रकार का है जिनमें निर्दोष व्यक्तियों पर बल का प्रयोग किया जाता है। गांधी की अहिंसा एक सक्रिय बल है, जो निर्बल का अस्त्र नहीं अपितु वीरों का अस्त्र है। यदि रक्त बहता ही है तो वह हमारा रक्त हो। बिना मारे मरने के शान्त धैर्य की साधना करो। मनुष्य तभी स्वच्छन्द हो सकता है जबकि वह आवश्यकता पड़ने पर, अपने भाई के हाथों बिना उसे मारने का प्रयत्न किए, मरने के लिए तैयार रहे। प्रेम दूसरों को नहीं जलाता स्वयं को ही जलाता है वह मृत्यु के कष्ट में भी आनन्द अनुभव करता है।

अहिंसा बुराई के साथ मौन समझौता नहीं है। गांधी को मालूम है कि सबसे बड़ा दुर्भाग्य अन्याय के सामने सिर झुकाना है अन्याय का कष्ट सहना नहीं। वह हम प्लेटो के दार्शनिक के दृष्टान्त का अनुकरण करने को नहीं कहता था (प्लेटो का दार्शनिक) जनसमुदाय के पागलपन को देखकर, आंधी और ओलों के तूफान में दीवार के पीछे छिपकर खड़े हुए व्यक्ति की भांति बुराई से भागकर इस संसार को बुराई के ही हाथों में समर्पित कर देना चाहता था। अहिंसा 'कुछ न करना' नहीं है। हम बुराई का प्रतिरोध इस ढंग से कर सकते हैं कि उसके साथ सहयोग करने से इनकार कर दें। भारतीय इतिहास इस प्रकार के अहिंसक असहयोग के उदाहरणों से भरा पड़ा है वे महाजन जिन्होंने राजा की अनियन्त्रित शक्ति के प्रति विरोध प्रदर्शित करते हुए अपनी दुकानें बन्द कर दी थीं बनारस के ब्राह्मण जिन्होंने ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा लगाए गए करों के विरोध में उपवास किया था व राजपूत नारियां जो आक्रमणकारियों की वासना से अपने सतीत्व की रक्षा करने के लिए जौहर की आग में जल मरी थीं। इन उदाहरणों में मानवीय आत्मा की बुराई पर विजय पाने की शक्ति भली भांति स्पष्ट हो जाती है। अहिंसा सशक्त

मांसपेशियों पर, विनाशकारी अस्त्रास्त्रों पर और शैतानी जहरीली गैसों पर भरोसा नहीं रखती अपितु नैतिक साहस आत्मनियन्त्रण और इस सुदृढ़ चेतना पर भरोसा रखती है कि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर चाहे वह कितना ही क्रूर और व्यक्तिगत रूप से कितना द्वेषी क्यों न हो दया की एक जलती हुई ज्योति न्याय के प्रति प्रेम और अच्छाई तथा सत्य के प्रति सम्मान की भावना विद्यमान रहती है और उसे कोई भी व्यक्ति जो ठीक साधनों का प्रयोग करे जाग्रत् कर सकता है। रोमन लोगों के अवकाश के दिनों को मनाने के लिए (खेल के मैदान में पशुओं या मनुष्यों से तलवार लेकर लड़नेवाले) तलवारियों को मरने के लिए विवश न किया जाए, यह निश्चय कराने के लिए टेलीमेकस का बलिदान आवश्यक था।

गांधी ने अपनी पद्धतियों का प्रयोग भारत की स्वाधीनता की समस्या को हल करने के लिए भी किया है। यदि हम स्वतन्त्र नर-नारियों की भांति जीवन नहीं बिता सकते तो हमें मर जाने में सन्तोष अनुभव करना चाहिए। भारत में अंग्रेजी राज्य भारतीय जनता के एक बहुत बड़े भाग की स्वेच्छापूर्ण और वास्तविक सहमति के आधार पर टिका हुआ है। यदि यह सहयोग न रहे तो यह शासन समाप्त हो जाएगा। इस अहिंसात्मक असहयोग की पद्धति में हम कई उपाय बरत सकते हैं। जो बात भारत की स्वाधीनता की लड़ाई पर लागू होती है, वही बाहरी आक्रमण के मामलों पर भी लागू होती है। कहा जाता है कि वर्तमान संसार में जहां युद्ध एक तन्त्रात्मक (टोटलिटेरियन) है जहां योद्धा लोग पहले की भांति एक-दूसरे के सम्पर्क में नहीं आते अपितु दूर रहकर ही मार-काट का आयोजन करते हैं, अहिंसात्मक असहयोग वीरतापूर्ण भले ही हो किन्तु प्रभावहीन प्रतीत हो सकता है। यदि भारत जापानी आक्रमण का हिंसा से तो प्रतिरोध न करे, किन्तु प्रत्येक पुरुष स्त्री और बच्चा जापानियों का कोई भी काम करने उन्हें खाद्य सामग्री बेचने या अन्य कोई भी सेवा करने से इनकार कर दे और उसके लिए कोड़े खाने जेल जाने गोलियां तथा अन्य प्रकार की हिंसा को सहने को तैयार रहे तो भारत शत्रु को जीतने में सफल हो जाएगा। इस नीति का अवलम्बन करने के लिए ऐसी वीरता ऐसे साहस और ऐसी सहिष्णुता की आवश्यकता है जिसका जोड़ युद्ध में भी कहीं दिखाई नहीं पड़ता। विदेशी आक्रान्ताओं को पुलिस के सिपाही डाकिये आदि का काम करने के लिए यहां के आदमी नहीं मिल पाएंगे। सारी जनता को जेल में नहीं डाला जा सकता। सबको गोली भी नहीं मारी जा सकती। कुछ थोड़े-से लोगों को गोली मार देने के बाद निराश होकर यह प्रयत्न छोड़ देना पड़ेगा। रास्ते नहीं उखाड़े जा सकेंगे और बन्दरगाहों में काम करने वाले मजदूर और दूसरे मजदूर हड़तालें करेंगे। कोई भी सरकार तब तक काम

१ वर्तमान दशाब्दी के मध्य से [illegible] । मार्च १९४२ में दिल्ली [illegible]

निर्णय परिणामों को देखकर करना होगा। बल के प्रयोग का परिणाम उनके लिए नैतिक दृष्टि से नाशकारी होता है, जो उसका प्रयोग करते हैं। हम मन के उस स्वभाव को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए, जो हमारे शत्रुओं के प्रति क्रुद्ध होने में आनन्द का अनुभव करता है। एक इस प्रकार का आत्मिक गर्व होता है कि हम तो प्रेमास्पद हैं और हमारे शत्रु घृणास्पद। जब तक हम विद्वेष के बन्धनों को तोड़ न डालें तब तक हम प्रगति करने में असमर्थ रहेंगे। अहिंसक प्रतिरोध ऐसी नई बुराइयों को जन्म नहीं देता जो हमारे किन्हीं सदुद्देश्यों में बाधक बन सकें। हम नैतिक दृष्टि से स्वयं पवित्र हुए बिना चुनौती का सामना करते हैं।

जिस समय बर्बरता की भावना सारे संसार पर छाई हुई प्रतीत होती है उस समय गांधी हमारे सर्वोत्तम अंश को जगाने का यत्न करता और घोषणा करता है कि सहिष्णुता का कोई उद्देश्य होना चाहिए और उस लक्ष्य तक पहुंचने का प्रयत्न करना चाहिए। गांधी को मालूम है कि यदि हम जीवन और जगत् के साथ अपने समूचे सम्बन्ध को बिलकुल नये रूप में न ढाल लें तो हम बुराई का अहिंसात्मक प्रतिरोध करने में समर्थ नहीं हो सकते। हमें उचित की आन्तरिक भावना को विकसित करना होगा और, चाहे कुछ भी क्यों न हो जाए, अपनी वैयक्तिक न्यायनिष्ठा पर आंच न आने देनी होगी। हम अनुचित जल्दबाजी के साथ सारे संसार को उच्चतम स्तर तक नहीं उठा सकते। हिन्दू-शास्त्रों की शिक्षा है कि हम समूचे समाज में धर्म्य को अवतरित करने के प्रयत्नों को छोड़ना नहीं चाहिए। संन्यासियों का विधान मानव-जाति का मूल सन्निवेश है जो हम उन उच्चतर मान्यताओं के अमृत की याद दिलाता है जिनका प्रतिपादन (रिस्पौंस) सामान्य मनुष्य भी करते हैं। संन्यासियों के लिए सशस्त्र बल का पूर्ण परित्याग परम सिद्धान्त की बात है। वे सम्पूर्ण क्रोध और भय को त्याग चुके होते हैं और उन्हें उन भौतिक वस्तुओं की कोई आवश्यकता नहीं होती जिनके लिए लोग लड़ते हैं। वे स्वर्गिक आत्माएं आदान और प्रदान के नियम से ऊपर उठ चुकी होती हैं। वे राज्य के संरक्षण से बाहर पहुंचकर युद्ध की बुराई को त्यागती हैं परन्तु वे इसे दूसरे लोगों पर आदेश के रूप में नहीं थापतीं और उन्हें कानून के संरक्षण से वंचित नहीं करना चाहतीं। चाहे वे सत्ताधारियों के विरुद्ध अपने सारे दाव-पेच लगाएं परन्तु वे अपने विचारों को उन लोगों पर नहीं थोपना चाहतीं जिनके राय उनसे भिन्न है। किसी राष्ट्र के लिए अहिंसक असहयोग की नीति तभी उचित ठहराई जा सकती है जबकि हम यह मानें कुछ निश्चय हो कि राष्ट्र उसी नीति पर चलने के लिए सचमुच तैयार है। परन्तु वे थोड़े-से लोग जो न केवल शान्ति की बातें करते हैं और उसके विषय में सोचते ही हैं अपितु अपनी आत्मा में उसे धारण करते हैं संकट का अवसर आने पर युद्ध के बोझ पर पड़े तम्बू की अपेक्षा जेल की कोठरी की चार दीवारों में जाना अधिक पसन्द करते हैं किसी दीवार के पास खड़े

के लिए भी तैयार होंगे कि उनपर थूका जाए, उनपर पत्थर फेंके जाएं, या गोली मार दी जाए।

यदि हम अहिंसक प्रतिरोध के लिए तैयार नहीं हैं तो अन्याय का बिलकुल प्रतिरोध न करने की अपेक्षा तो हिंसा से उसका प्रतिरोध करना अधिक अच्छा है। "जहां केवल कायरता और हिंसा दो में से एक का चुनाव करना हो मैं हिंसा की सलाह दूंगा। मैं तो बिना मारे मर जाने के शान्त साहस को उत्पन्न करना चाहता हूं। परन्तु जिसमें यह साहस नहीं है उसे मेरी सलाह है कि जाति को नपुंसक बनाने के बजाय वह मारे और मारते-मारते मर जाए। मैं चाहता हूं कि भारत कायरतापूर्ण ढंग से बेइज्जती का असहाय शिकार बने या बना रहे इससे अच्छा तो यह है कि वह अपनी आन की रक्षा के लिए शस्त्र-बल का प्रयोग करे।

गांधी कट्टर सिद्धान्तवादी नहीं हैं। "मैं नहीं कहता कि 'डाकुओं और चोरों के साथ या भारत पर आक्रमण करनेवाले राष्ट्रों के साथ बरतते हुए हिंसा मत करो।' परन्तु हिंसा करने में भी अधिक समर्थ होने के लिए हम अपने आपको संयम में रखना सीखना चाहिए। जरा-जरा-सी बात पर पिस्तौल तान लेना ताकत की नहीं कमजोरी की निशानी है। आपसी मुक्केबाजी हिंसा की शिक्षा नहीं अपितु नपुंसकता की शिक्षा है। मेरी अहिंसा की पद्धति कभी शक्ति को घटा नहीं सकती बल्कि संकट के समय यदि राष्ट्र चाहेगा ही तो केवल यही पद्धति उसे अनुशासित और सुव्यवस्थित कर पाने में समर्थ बनाएगी।[1] मेरी अहिंसा में खतरे से डरकर और अपने प्रियजनों को अरक्षित छोड़कर भाग जाने की गुंजाइश नहीं है। हिंसा और भगोड़ेपन पलायन इन दो में से मुझे केवल हिंसा ही स्वीकार हो सकती है। कायर को अहिंसा का उपदेश देना ठीक ऐसा ही है जैसा किसी अन्धे को स्वस्थ दृश्यों का आनन्द लेने के लिए उत्साहित करना। अहिंसा वीरत्व की चरम सीमा है। और अपने अनुभव में मुझे अहिंसा की विचारधारा में प्रशिक्षित लोगों के सम्मुख अहिंसा की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। कायर रहते हुए, जैसा कि मैं वर्षों तक था मैं हिंसा का आश्रय लेता था। जब मैंने कायरता को छोड़ना शुरू किया केवल तभी मुझे अहिंसा का मूल्य पता चलना शुरू हुआ।"[2]

१ यंग इंडिया, १ मई, १९२४

२ वही, २१ मार्च, १९३२ [illegible]। "मेरा अहिंसा का सिद्धान्त एक भावात्मक शक्ति [illegible] है। इसमें कायरता तो दूर, दुर्बलता तक के लिए स्थान नहीं है। एक हिंसक व्यक्ति के लिए यह आशा की जा सकती है कि वह किसी दिन अहिंसक बन सकता है, किन्तु कायर व्यक्ति के लिए ऐसी आशा कभी नहीं की जा सकती। इसलिए मैंने इन पृष्ठों में अनेक बार कहा है कि यदि हमें अपनी, अपनी स्त्रियों की और अपने पूजा-स्थलों की रक्षा [illegible] द्वारा अर्थात् अहिंसा द्वारा करना नहीं आता तो अगर हम मर्द हैं तो हमें इन सबकी रक्षा लड़ाई द्वारा कर सकने में समर्थ होना चाहिए।" (वही, सितम्बर, १९२७)

त्मक वीरता होगी। दूसरा व्यक्ति कितना ही कमजोर होने पर भी अपनी सारी शक्ति लगाकर शत्रु पर चोट करेगा और इस प्रयत्न में अपने प्राण तक दे देगा। यह वीरता है, पर अहिंसा नहीं। पर यदि जब खतरे का सामना करना उसका कर्तव्य है, तब व्यक्ति भाग खड़ा होता है, तो यह कायरता है। पहले मामले में व्यक्ति के अन्दर प्रेम और दया की भावना होगी। दूसरे और तीसरे मामलों में व्यक्ति में अरुचि या अविश्वास और भय का भाव होगा।"[1]

"अहिंसा का सिद्धान्त दुर्बलों और कायरों के लिए नहीं है, यह तो वीरों और शक्तिशाली लोगों के लिए है। सबसे बड़ा वीर वह है जो बिना मारे स्वयं को मार दिया जाने दे। और वह हत्या करने या चोट पहुंचाने से केवल इसलिए बचता है क्योंकि वह जानता है कि चोट पहुंचाना गलत काम है।"[2]

"यदि किसीमें साहस नहीं है, तो मैं चाहता हूं कि खतरे से डरकर भाग खड़े होने के बजाय वह मारने और मरने की कला ही सीखे। क्योंकि इनमें से पहले प्रकार का व्यक्ति डरकर भागते हुए भी मानसिक हिंसा तो करता ही है। वह इसलिए भागता है क्योंकि उसमें मारते हुए मर जाने का साहस नहीं है।"[3] यह सब हिन्दू-दृष्टिकोण की ही प्रतिध्वनि है।

जीवन अपने सर्वोत्तम रूप में भी द्वितीय सर्वोत्तम वस्तु ही है—जो कुछ आदर्श है और जो कुछ सम्भव है, उनके बीच समझौता। परमात्मा के राज्य में समझौते का नाम नहीं होता, कोई व्यावहारिक मर्यादाएं नहीं होतीं। परन्तु यहां धरती पर तो प्रकृति के निर्मम कानूनों का राज्य है। बहुत-सी मानवीय वासनाएं (तीव्र इच्छाएं) हैं और हमें उनके आधार पर एक सुव्यवस्थित ब्रह्माण्ड का निर्माण करना है। संसार पूर्णता का नैसर्गिक निवास-स्थान नहीं है। यह तो दैवयोग और भूलों का ही साम्राज्य प्रतीत होता है। यही प्रतीत होता है कि कोई मन की मौज छोटी-बड़ी सब वस्तुओं पर शासन कर रही है। जो कुछ उदात्त और अच्छा है वह शायद ही कभी अभिव्यक्त हो पाता है, जबकि बहुरूपी और विरूपता अपना आधिपत्य जमाए रहती है। इस अन्धकार के ऊपर आत्मा का आकाश दीप्ति से चमक रहा है। प्रयत्नों और कठिनाइयों में से होकर आदर्श क्रियान्वित होने के लिए संघर्ष करते हैं। जब हमारे सामने वस्तुएं उस रूप में आती हैं, जिसमें कि वे अब हैं तो हमारे सामने समस्या यह नहीं होती कि कितनी बुराई को निकालकर बाहर किया जाए, अपितु यह होती है कि जैसाकि बर्क ने बहुत तीक्ष्ण ढंग से कहा है, कितनी बुराई को सहन कर लिया जाए।

समाजों के उत्पत्ति-क्रम में तीन सोपान स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, पहला सोपान

---

१ वही, १० अगस्त, १९३५

२ वही, १ जुलाई, १९३०

३ वही, १५ जनवरी, १९३८

वह है जिसमें जंगल का कानून प्रचलित रहता है उसमें हमारे अन्दर हिंसा और स्वार्थ भरा रहता है दूसरा सोपान वह है जिसमें अदालतों पुलिस और जेलों के साथ कानून और निष्पक्ष न्याय का शासन रहता है तीसरा सोपान वह है जिसमें हमारे अन्दर अहिंसा और नि स्वार्थता आ जाती है जिसमें प्रेम और कानून एक हो जाते हैं। इनमें से अंतिम स्थिति ही मानवता का लक्ष्य है और इस लक्ष्य के निकटतर पहुँचने का उपाय यह है कि ऐसे पुरुषों और स्त्रियों की संख्या बढ़ाई जाए, जो न केवल बल पर निर्भर रहने का अपितु उन और सब लाभों का भी परित्याग कर चुके हों जोकि राज्य उन्हें प्रदान कर सकता है या उनसे वापस छीन सकता है जो अक्षरश घर को त्याग चुके हों और अपनी वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं का बलिदान कर चुके हों जो नित्य इसलिए मरते हों कि संसार शान्तिपूर्वक जी सके। गांधी इसी प्रकार का एक है। वह तब भी याद किया जाएगा जबकि उसकी ओर ध्यान न देने की सलाह देनेवालों के नाम एकदम भुलाए जा चुके होंगे। भले ही इस समय इस आदर्श को प्राप्त कर पाना असम्भव प्रतीत होता हो परन्तु यह अवश्य प्राप्त होकर रहेगा। ऐसे व्यक्ति के विषय में ही लिखा गया था

तेरे महान साथी हैं
तेरे साथी हैं उल्लास व्यथाएं
और प्रेम और मनुष्य का अपराजेय मन।

यह मात्र स्वतन्त्र मनुष्य नहीं है आप चाहें तो ऐसे आदमी को सूली पर चढ़ा सकते हैं किन्तु उसके अन्दर जो प्रकाश है जो सत्य और प्रेम की दिव्य ज्योति से आ रहा है, उसे नहीं बुझाया जा सकता। इन्हीं दिनों में से किसी दिन वह अपना जीवन त्याग देगा जिससे वह अपने अनुयायियों को जीवन दे सके। संसार किसी दिन मुड़कर उसकी ओर देखेगा और उसे एक ऐसे महापुरुष के रूप में प्रणाम करेगा जो अपने समय से पूर्व उत्पन्न हो गया था और जिसे इस अन्धकारपूर्ण और असभ्य संसार में प्रकाश दिखाई पड़ा था।

६ | उत्तर लेख

जब यह पुस्तक लिखी गई थी उसके बाद भारत में घटनाएं बहुत तेजी से घटी हैं। गांधी का असहयोग-आन्दोलन जिसमें उन मामूली नर-नारियों का जो वीरता और दम्भ के प्रताप और नीचता के अविश्वसनीय (अद्भुत) मिश्रण थे ब्रिटिश शासन के विरुद्ध निःशस्त्र विद्रोह के लिए उपयोग किया गया १५ अगस्त १९४७ को आंशिक सफलता में समाप्त हुआ। भारत की वर्तमान स्थिति का मैंने स्वाधीनता-दिवस पर आकाशवाणी द्वारा प्रसारित अपने वक्तव्य में संकेत किया था।

भारत की स्वाधीनता

१५ अगस्त १९४७ के साथ इतिहास और गाथाएं जुड़ती चली जाएंगी क्योंकि यह तिथि प्रजातन्त्र की ओर विश्व की यात्रा में एक महत्त्वपूर्ण मील का पत्थर है। एक राष्ट्र की जनता द्वारा अपने पुनर्निर्माण और रूपान्तरण के नाटक में यह एक महत्त्वपूर्ण तिथि है। भारत की पराधीनता की रात बहुत लम्बी रही उसमें अनेक भाग्यनिर्णायक अनुभव होते रहे मनुष्य स्वाधीनता के अरुणोदय के लिए निरन्तर प्रार्थनाएं करते रहे। इस दिवस के लिए कितनी बलियां चढ़ाई गईं कितना रुदन और शोक तथा क्षुधा के प्रेतों और मृत्यु का कितना ताण्डव हुआ! रात-भर पहरेदार अविचलित रहकर पहरा देते रहे दीप उज्ज्वल कान्ति से जलते रहे, और अब युग युगव्यापिनी निशा का अवसान करनेवाली उषा आ पहुंची है।

पराधीनता से स्वाधीनता की ओर यह संक्रमण प्रजातन्त्रीय पद्धति से हुआ यह बात जितनी अद्वितीय है उतनी ही आनन्ददायक भी। ब्रिटिश लोगों का शासन एक सुव्यवस्थित ढंग से समाप्त हो रहा है।

भारत में ब्रिटिश आधिपत्य किस प्रकार स्थापित हुआ उन सब घटनाओं का उल्लेख यहां करने की आवश्यकता नहीं है। जनता ने इस आधिपत्य को पूरी तरह कभी भी स्वीकार नहीं किया। महान भारतीय विद्रोह ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिए किया गया पहला संगठित प्रयत्न था। जब विद्रोह को दबा दिया गया तब १ ५ में भारत के अपेक्षाकृत अधिक अच्छे शासन के लिए बनाए गए एक अधिनियम द्वारा सारा प्रशासन ईस्ट इंडिया कम्पनी से छीनकर इंगलैंड की

रानी के हाथ में चला गया। कामघराम के प्रोत्साहन पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इंडियन नेशनल कांग्रेस) ने स्वराज्य के लिए लोक-मत को संगठित करने का अपना काम १८८५ में शुरू किया। बोअर युद्ध में अंग्रेजों की कठिनाइयों और १९०५ में हुए रूस-जापान युद्ध में रूस की पराजय के कारण भारत में राष्ट्रीयता की भावना फिर जाग उठी और क्रांतिकारी पद्धतियां अपनाई गईं। 'अशान्ति' को शान्त करने के लिए 'मॉर्ले-मिंटो सुधार' किए गए, यद्यपि इन्हीं सुधारों ने पृथक् साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करके देश में फूट के बीज बो दिए। १९११ और १९१९ में जो क्रमिक सुधार किए गए, वे जनता के बढ़ते हुए प्रतिरोध के फलस्वरूप ही किए गए थे। १९४२ में कांग्रेस के अहिंसात्मक प्रतिरोध ने अंग्रेजों को इतना परेशान कर दिया कि चर्चिल तक को विवश होकर यहां क्रिप्स मिशन भेजना पड़ा। चर्चिल ने स्वयं स्वीकार किया कि क्रिप्स मिशन उस समय भेजा गया था जब "बंगाल की खाड़ी पर जापानियों का पूरा नौसैनिक आधिपत्य था और यह खतरा था कि जापानियों की विशाल सेना भारत पर आक्रमण करेगी और उसे ध्वस्त कर डालेगी। युद्ध के बाद अंग्रेजों ने देखा कि इस देश के राजनीतिक सम्पन्न ब्रिटिश शासन को जारी रखने का समर्थन नहीं करेंगे। शासन पर अधिकार करने के प्रयत्नों का परिणाम बहुत बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक मारकाट के रूप में हुआ जिसे अंग्रेज न तो रोक ही पाए और न नियंत्रण में ही रख पाए। असैनिक प्रशासन व्यवहारतः टूट ही सा गया और कानून तथा व्यवस्था बनाए रखने के लिए अंग्रेजों को सशस्त्र सेनाओं का प्रयोग करना पड़ता। ऐसा कर पाना शायद उनके बस से बाहर था और ब्रिटिश जनता तो ऐसा करने के लिए निश्चित रूप से ही इच्छुक नहीं थी। इसलिए २० फरवरी १९४७ को श्री एटली ने कहा कि 'अब हम अपनी भारत-विषयक पहले की नीति को पूर्णता तक पहुंचाना चाहते हैं और भारत को छोड़ देना चाहते हैं।'

'हाउस आफ कामन्स' में श्री एटली ने इस साहसपूर्ण त्याग के कृत्य का बड़े स्पष्ट अभिमान के साथ उल्लेख किया। उसने कहा कि यह पहला अवसर है जबकि किसी साम्राज्य-शक्ति ने अपने अधीन उन लोगों को स्वेच्छा से अपना अधिकार सौंप दिया हो जिनपर कि वह लगभग दो शताब्दियों तक बल और दृढ़ता के साथ शासन करती रही हो। अतीत में साम्राज्य या तो इसलिए नष्ट होते रहे कि उनके केन्द्र के निकट विरोधियों का दबाव बढ़ गया जैसे कि रोम में या फिर परिश्रान्ति के कारण जैसे स्पेन में और या फिर सैनिक पराजय के कारण जैसाकि धुरी शक्तियों के मामले में हुआ। जान-बूझकर अधिकार (सत्ता) त्याग देने की तुलना अमरीका के उपनिवेशों से वापस हट जाने या शायद दक्षिणी अफ्रीका से ब्रिटिश लोगों के वापस हट जाने के अतिरिक्त और कहीं नहीं है, यद्यपि इन दोनों में भी परिमाण और परिस्थितियां भारत की अपेक्षा बहुत भिन्न थीं। किन्ही

शक्तिशाली राष्ट्र के लिए ऐसा काम करने से अधिक कठिन कुछ नहीं हो सकता जिसके विषय में यह समझे जाने की सम्भावना हो कि वह दुर्बलता या भीरुता के कारण किया गया है। हम इस बात पर सहमत हो सकते हैं कि अंग्रेजों ने भारत छोड़ने का निश्चय दुर्बलता की भावना के कारण उतना नहीं किया जितना कि खून और इस्पात के उपायों को अपनाने की अनिच्छा के कारण। उन्होंने भारतीयों की माँग को सुना और एक साहसपूर्ण राजनीतिक कार्य द्वारा अतीत की दुर्भावना और संघर्ष की स्मृति को पोंछकर साफ कर दिया। जब हम देखते हैं कि इंडोनेशिया में डच किस ढंग से बर्ताव कर रहे हैं और फ्रांसीसी किस प्रकार अपने उपनिवेशों से चिपटे हुए हैं, तो हमें अंग्रेजों की राजनीतिक विचक्षणता और साहस की सराहना करनी ही होगी। अपनी ओर से हमने भी एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करके जिसमें एक पराधीन जाति ने उग्रता का सामना धैर्य से करके नौकरशाही अत्याचार का सामना आत्मिक शान्ति द्वारा करके अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की, संसार के इतिहास में एक शानदार अध्याय जोड़ दिया है। गांधी तथा उनके अनुयायियों ने भारत की स्वाधीनता की लड़ाई में निर्दोष अस्त्र तथा सभ्यतापूर्ण गौरव के साथ भाग लिया था। उन्होंने संघर्ष में इस ढंग से विजय पाई कि बाद में कोई विद्वेष या कटुता की भावना शेष नहीं रही। भारत के गवर्नर जनरल-पद पर लार्ड माउंटबेटन की नियुक्ति से यह स्पष्ट है कि पहले जो कभी शत्रु रहे थे अब उनमें कितनी मित्रता और समझौते की भावना विद्यमान है। इस प्रकार एक शताब्दी के प्रयत्न और संघर्ष के फलस्वरूप ब्रिटिश भारतीय इतिहास में एक नया युग प्रारम्भ हुआ है और हम भविष्य में अब तक स्मरण रही घटनाओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाएगा।

परन्तु हमारे आनन्द उल्लास पर एक छाया आ पड़ी है, हमारे हृदयों में एक उदासी भरी है, क्योंकि जिस स्वाधीनता के हम स्वप्न देखते थे और जिसके लिए हम लड़े थे, वह हमें नहीं मिली। घटनाओं का कुचक्र ही कुछ ऐसा है कि हमारे सपनों का स्वराज्य और उसकी प्राप्ति के क्षण में हमारी अनुभूतियों में से फिसल कर निकल गया। यदि दोनों उपनिवेशों में मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित न हो जाएँ और वे दोनों भारत के हित के लिए काम न करें, तो विभक्त भारत पराधीन ही बना रहेगा। हमारी निराशा की मात्रा इंग्लैंड के टोरी (अनुदार दलीय) लोगों की सन्तुष्टि में प्रतिबिम्बित हुई है। जहाँ एक बार चर्चिल ने कैबिनेट मिशन को [illegible] और भारत छोड़ने की घोषणा को जानबूझकर जहाज का डुबाना बताया था, वहाँ उसने वर्तमान योजना का उत्साहपूर्वक समर्थन किया था, जिससे यह सूचित होता है कि यह योजना भारत के सम्बन्ध में अनुदार दल की नीति की विजय का सूचक है।

एक ऐसे समय जबकि संसार के राज्य मिलकर बड़े-बड़े समूह बनाने के

का मुस्लिम और गैर-मुस्लिम क्षेत्र मे विभाजन करने की माग पर डटे रहने मे प्रोत्साहन मिला। इतिहास को ज्ञात ऐसी कोई सरकार कभी नही हुई, जिसे इसे विरोधियो का सहयोग प्राप्त करने के लिए कभी न कभी बल-प्रयोग न करना पड़ा हो। जब दक्षिणी अमेरिका के राज्यो ने स्वाधीनता की अपना शासन आप करने के अधिकार की माग की तब अब्राहम लिंकन ने यह कहकर वह अधिकार देने से इनकार कर दिया कि इससे नई दुनिया मे प्रजातन्त्र इतना अधिक विभक्त हो जाएगा कि वह अपनी रक्षा न कर सकेगा इस इनकार करने के कारण फिर चाहे उसे ज्ञात इतिहास का एक घोरतम रक्तपातपूर्ण युद्ध भी सहना पड़ा था परन्तु कांग्रेस तो अहिंसा के सिद्धान्त से प्रण-बद्ध थी वह राष्ट्रीय एकता विकसित करने के लिए बल का प्रयोग नही कर सकती थी। २ फरवरी १९४७ के वक्तव्य मे यह ध्वनि थी कि ब्रिटिश सरकार केन्द्र मे किसी न किसी प्रकार की सरकार को या कुछ क्षेत्रो मे उस समय विद्यमान प्रान्तीय सरकारो को या किसी अन्य ऐसे रूप मे जैसा कि स्वतन्त्र राष्ट्र के सर्वोत्तम हितो केलिए अधिकतम तर्कसगत प्रतीत होगा सत्ता हस्तान्तरित कर देगी। वर्तमान योजना इस सारे घटनाक्रम का स्वाभाविक परिणाम है। ब्रिटिश लोगो द्वारा अतीत मे दिए गए प्रोत्साहन और हमारे नेताओ की वर्तमान मनोदशाए इतनी प्रबल रही कि कोई मित्रतापूर्ण समझौता नही हो सका।

हम सारे उत्पात का कारण अग्रेज़ो को नही कह सकते। हमने स्वय पृथक्ता की नीति को सहारा दिया है। हम उसके चटपट शिकार हो गए। यदि हम अपने चरित्र के राष्ट्रीय दोषो को नही सुधारेंगे तो हम सयुक्त भारत का पुनर्निर्माण नही कर सकते। हमारे सम्मुख राजनीतिक विभाजन की समस्या उतनी बड़ी नही है जितनी कि मनोवैज्ञानिक फटाव की। आज भारत अपनी प्रकृत दशा मे नही है। उचित अविश्वासो और तनावो के घटने में समय लगेगा। यदि स्वतन्त्रता को एक सकारात्मक गतिशील और उन्मोचनकारी शक्ति बनना है, तो उसे अपने-आपको एक-दूसरे के विचारो सत्यो और विश्वासो के प्रति सहिष्णुता के रूप मे प्रकट करना होगा। हमे इस भ्रम मे नही रहना चाहिए कि क्योकि देश विभक्त हो गया है इसलिए सकट टल गया है। तनाव की सामयिक क्षणिक शिथिलता ही काफी नहीं है।

भले ही हमारे हृदय शोक से भरे हो फिर भी हमे अपने देश को प्रगति के पथ पर ले चलना होगा। भारत का राजनीतिक शरीर अब नही रहा परन्तु उसका ऐतिहासिक शरीर अब भी जीवित है, चाहे वह कितना ही अस्तव्यस्त और अपने विरुद्ध विभक्त और अपने अस्तित्व से कितना ही अनजान क्यो न हो। राजनीतिक विभाजन स्थायी नही होते। सांस्कृतिक और आध्यात्मिक बन्धन कही अधिक चिर स्थायी होते हैं। हमे सावधानी और श्रद्धा के साथ उनको बढ़ाना चाहिए। भारत

से इस्लाम धर्म-परिवर्तन द्वारा फैला है—आव्रजन द्वारा नहीं। अधिकांश प्रतिशत मुसलमान उसी एक ही सामाजिक और नृकुलीय (नर जातीय) वंश के हैं जिस उत्तराधिकार में उन्हें वही एक ही संस्कृति मिली है, वे उसी एक ही प्रदेश में रहते हैं और उनकी आदतें तथा विश्वास की पद्धतियां भी वही एक ही हैं, जो गैर-मुसलमानों की हैं। हमें एकता का विकास विवाद की धीमी-धीमी प्रक्रिया द्वारा धैर्यपूर्ण विचार द्वारा और अन्ततः इस बात को हृदयंगम करके करना होगा कि *जिन प्रश्नों को लेकर देश का विभाजन हुआ था वे कभी के पुराने पड़ चुके हैं।* साम्प्रदायिकता का इलाज पहले गरीबी बीमारी निरक्षरता कृषिक तथा औद्योगिक पिछड़ेपन की दुरावस्था को दूर करने से होगा। यदि इस दुरावस्था पर काबू पा लिया जाए, तो शायद साम्प्रदायिक मतभेद इतने गम्भीर रूप से उत्तेजक न रहें। पाकिस्तान के दो भागों के बीच में भारतीय उपनिवेश फँसा हुआ है और संचार के मामलों में पाकिस्तान को भारत से किसी न किसी प्रकार का संबंध बनाना ही होगा। इण्डोनेशिया के प्रश्न पर दोनों उपनिवेशों की विदेश नीति एक ही है। अन्य कई विषयों में भी भौगोलिक स्थिति के कारण दोनों को एक ही विदेश नीति रखनी होगी। जल-शक्ति और परिवहन के विकास के लिए भी दोनों को मिलकर कार्रवाई करनी होगी। इस प्रकार हम पारस्परिक कल्याण के लिए दोनों उपनिवेशों के सहयोग द्वारा उनके निवासियों के स्वतन्त्र परस्पर मिलन द्वारा और साझे मामलों की रक्षा द्वारा देश की यथार्थ एकता को बना सकते हैं। दहकते हुए भाषणों और लेखों से काम नहीं चलेगा। क्रोध की भाषा कभी भी काम को सुधारती नहीं। इस समय की आवश्यकता है—धीरज और एक-दूसरे को समझने का यत्न।

जब हम यह अनुभव करते हैं कि अब हम अपने स्वामी स्वयं हैं हम अपने भविष्य का निर्माण स्वयं कर सकते हैं तब हम उल्लास की अनुभूति होनी चाहिए। सम्भव है कि हम गलतियां कर बैठें—भारी गलतियां जिनसे शायद बचा जा सकता था—परन्तु स्वतन्त्रता से प्राप्त होनेवाली प्रेरक शक्ति की तुलना में ये कुछ भी नहीं हैं। इस समय विद्यमान दबाव हमारी सक्षमता और बुद्धिमत्ता को चुनौती हैं। सबसे बड़ी विपदा तब आती है जब शक्ति (अधिकार) योग्यता की अपेक्षा अधिक हो जाती है। ऐसा न कहा जाए कि जब परख का अवसर आया तो हम अनुपयुक्त सिद्ध हुए। हमें दिव्य देश मिल नहीं गया है। हमें उस तक पहुंचने का मार्ग साफ करने के लिए काम करना होगा। मार्ग लम्बा है और दुर्गम है। सम्भव है कि यह रक्त और आंसुओं में से श्रम और कष्टों में से होकर गुजरे। अन्त में जनता की विजय होगी। शायद उसे देखने के लिए हममें से कुछ लोग जीवित न रहें परन्तु हम उसका भविष्य-दर्शन अवश्य कर सकते हैं।

सभ्यता कोई ठोस और बाह्य वस्तु नहीं है। यह तो जनता का स्वप्न है मानवीय प्रकृति को उसकी सरलतम व्याख्या मानवीय जीवन के रहस्य के विषय

म उनका भाग। हमारा विशिष्ट मानवीय आन-पाहिनिया उनकी अपेक्षा एक विशालतर प्रयोजन चाहती है जो जातिया और बिरादरियों से हम मिलते हैं एक एसा प्रयोजन जो हम हमारी क्षुद्रता म मुक्त कर दे। परमात्मा के सम्मुख विनीत भाव से खड रहकर इस बात को अनुभव करते हुए हम एक आविर्भूत होते हुए प्रयोजन के लिए कार्य कर रहे है, हम अपने कार्य म जुट जाए और अपने इति-हास के इस महान क्षण म हम अपना व्यवहार ऐसा रखें जो भारत की कालातीत आत्मा के सेवकों के लिए शोभास्पद हो।

सवभूतस्थमात्मान सवभूतानि चात्मनि
सम्पश्यन् आत्मयाजी वै स्वराज्य अधिगच्छति।

(३) विशेष समिति की रिपोर्ट सिंडीकेट के पास भेज दी जाएगी जिससे वह सीनेट के सम्मुख ३१ जुलाई तक पुष्टि के लिए प्रस्तुत कर दी जाए।

(४) सीनेट, सुनिश्चित कारण बताते हुए, विशेष समिति से अपने निश्चय पर पुनर्विचार करने का अनुरोध कर सकती है किन्तु उसे यह अधिकार न होगा कि वह विशेष समिति द्वारा सुझाए गए नाम के स्थान पर कोई और नाम रख सके।

(५) सीनेट द्वारा नियुक्त भाषणकर्ता सीनेट हाउस में भाषण देगा जो आगामी जनवरी मास के बाद नहीं होना चाहिए।

(६) कलकत्ता में भाषण दिए जा चुकने के बाद सिंडीकेट इस बात का प्रबन्ध किया करेगा कि वे भाषण मूल रूप में या कुछ सघोधित रूप में कलकत्ता से बाहर कम से कम एक और स्थान में दिए जाएं। इसके लिए सिंडीकेट आवश्यकतानुसार यात्रा भत्ता देगा।

(७) भाषणकर्ता का मानदेय एक हजार रुपये नकद और दो सौ रुपय मूल्य का एक स्वर्ण-पदक होगा। मानदेय केवल तभी दिया जायगा जबकि भाषण दिए जा चुके और भाषणकर्ता इन भाषणों को मुद्रण योग्य पूर्ण पाडुलिपि रजिस्ट्रार को सौंप देगा।

(८) ये भाषण दिए जा चुकने के बाद छः मास के अन्दर विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित किए जाएंगे और मुद्रण का व्यय निकालने के बाद बिक्री से हुई शेष आय भाषणकर्ता को दे दी जाएगी। इन भाषणों का लेखस्व (कापीराइट) भाषणकर्ता के पास रहेगा।

(९) जो व्यक्ति एक बार भाषणकर्ता नियुक्त हो चुकेगा वह पांच वर्ष बीतने से पहले दुबारा नियुक्त होने का पात्र न होगा।

आपका विश्वासभाजन

आशुतोष मुखर्जी

○ ○ ○